बालकृष्ण राव की काव्य साधना—डा० कुमार विमल द्वारिका साहू लेन, मुसल्लहपुर पटना।

फ्रायड और आज के साहित्य में उसकी अन्तर्ध्वनि डा० रवि अग्रवाल, गजानन्द महाविद्यालय, भाटापारा, रायपुर।

'वसन्त विलास' के कतिपय शब्दों की अर्थ-विचारणा—श्री भँवरलाल नाहटा, नाहटों की गवाड़, बीकानेर।

'बिहारी सतसई' में अर्थ-परिवर्तन—डॉ० रामकुमारी मिश्र, ३५ अशोक नगर, इलाहाबाद – १।

प्राचीन भारतीय लेखन-सामग्री—डॉ० गोविन्दजी, ६८ रामबाग, इलाहाबाद-२।

मीरज़ा रौशन ज़मीर 'नेही' तथा उनका काव्य—डॉ० शैलेश जैदी, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

रसखान के वृत्त पर पुनर्विचार—डॉ० कृष्णचन्द्र वर्मा, हिन्दी विभाग, शासकीय हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल।

अवधी भाषा की उत्पत्ति और विकास—डॉ० ज्ञानशंकर पाण्डेय, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

काव्यगत दोषनिरूपण को महिमभट्ट की मौलिक देन : विधेयाविमर्श—श्रीमती ज्ञानदेवी श्रीवास्तव, शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग।

: प्रतिपत्तिका

(१) 'मैनासत' का एक अप्रकाशित पाठ—डॉ०विश्वनाथ त्रिपाठी, किरोड़ीमल कालेज, दिल्ली।

(२) सनेहलीला : परिचय एवं पाठ—श्रीमन्नारायण द्विवेदी, एग्रीकल्चर इन्स्टीच्यूट, इलाहाबाद।

(३) साहित्यिक पाठ-संपादन और अर्थ-समस्या—श्री किशोरीलाल, हिन्दी-प्राध्यापक, श्री रणजीत पण्डित इण्टर कालेज, नैनी, इलाहाबाद।

(४) बँगला में नारी-प्रवाद—श्रीनारायण पाण्डेय, त्रिवेणीदेवी भालोटिया कालेज, पो० रानीगंज, जिला—बर्दवान।

(५) गल्पकथा : मानदण्ड एवं मर्यादाएँ—श्री हीराप्रसाद त्रिपाठी, इलाहाबाद।

नये प्रकाशन : समीक्षकों की दृष्टि में

बालकृष्ण राव की काव्य-साधना

• कुमार विमल

बालकृष्ण राव ने इस बहुप्रचलित धारणा को खण्डित किया है कि प्रशासकीय कार्य और मर्म-छवि से युक्त कला-सृजन एक साथ संभव नहीं हैं। मौलिक साहित्य-सृजन, अनुवाद, विचारात्मक निबन्ध-लेखन और पत्रकारिता —इतने वैविध्यमय व्यापक क्षेत्र में प्रौढ़ि के कारण राव ने वैशिष्ट्य अर्जित किया है। फिर खुसूसियत यह है कि इनके साहित्यिक व्यक्तित्व के इन विभिन्न रूपों में सर्वत्र आन्तरिक संघटना मिलती है। इसलिए इनका साहित्यिक व्यक्तित्व 'सब्जेक्टिव' नहीं मालूम पड़ता है। इन्हीं गुणों के चलते यह कहना ठीक है कि राव की विलक्षण प्रतिभा ने कई क्षेत्रों में अपना कमाल दिखाया है। उच्च सरकारी सेवा में अनेक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए भी जिन गिने-चुने मेधावी लोगों ने कृति-साहित्य लिखा है, उनमें श्री राव पहली पंक्ति के अधिकारी हैं।

सन् १६२८ ईसवी से ही (द्रष्टव्य, माधुरी, मई १६२८) इनकी कविताएँ हिन्दी की विशिष्ट पत्र-पत्रिकाओं में छपती रही है। अब तक इनके छह काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—कौमुदी (१६३१), आभास (१६३४), कवि और छवि (१६४७), रात बीती (१६५४), हमारी राह (१६५७) और अर्द्धशती (१६६४)। इन कविता-संग्रहों के अतिरिक्त इनके दो अनूदित ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं। एक है मिल्टन के काव्य-नाटक 'सैम्सन एगोनिस्टीज़' का पद्यानुवाद, जो 'विक्रान्त सैम्सन' के नाम से साहित्यकार-संसद्, प्रयाग द्वारा सन् १६५६ ईसवी में प्रकाशित हुआ और दूसरा है मिल्टन के गद्य-ग्रन्थ 'Aeropaegitica' का अनुवाद, जो साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली से सन् १६६५ में प्रकाशित हुआ। अंग्रेजी-हिन्दी में समान रूप से अभ्यस्त होने के कारण इन्होंने काव्यानुवाद भी बहुत अच्छा किया है। 'विक्रान्त सैम्सन' के अनेक स्थल ऐसे हैं, जो मिल्टन की महिमान्वित काव्य-शैली के ओज और गाम्भीर्य को ही प्रतिध्वनित नहीं करते, बल्कि मौलिक काव्य का— प्रत्यग्र सृजन का आनन्द देते हैं। जैसे, डालीला की यह उक्ति—

> देख रही हूँ तुम वारिधि, बीरुत् से बढ़कर
> अनाराध्य हो, बधिर हो गए, पर समुद्र से
> समाधान कर ही लेती है वायु अन्त में,
> **हो जाती है सन्धि तोयनिधि की तट से भी**
> पर तेरा शमित न होगा

पृष्ठ ३५

या कौरस का यह कथन

शुभ हो अथवा अशुभ मिलेगी महत् सूचना,
बुरी शीघ्रतर आवेगी, शुभ मंथर गति से। (पृष्ठ ५९)

मौलिक सृजन के रस में पगी हुई अनुवाद की इस समर्थ भाषा को पढ़कर मन प्रसन्न हो जाता है। तत्समानुप्राणित पद-शय्या अथवा सम्पूर्ण सन्दर्भ में कौंध भरने वाला सटीक शब्द-प्रयोग सधे हुए शैलीकार की अन्तःक्षमता को द्योतित करते हैं। इसी तरह राव की मौलिक कविताओं में भी 'रक्तहीन ग्रान्थिक भाषा' कहीं नहीं मिलती है। 'ज्ञानांजन शलाका', 'आतम्भ', 'अरुणास्य', 'मांगल्य शकुन' इत्यादि जैसे शब्द भी इनकी कविताओं में सन्दर्भ-शिथिल नहीं प्रतीत होते।[1] अर्थ-शैथिल्य, अतिप्रगल्भता या दुर्बोध्यता से रहित इनकी शब्द-योजना में सर्वत्र आस्वादन-वाहकता मिलती है। इनकी भाषा की तारीफ में शमशेर बहादुर सिंह ने ठीक ही लिखा है—"...क्या खड़ीबोली हिन्दी के किसी और भी कवि ने अपनी सब तरह की कविताओं में भाषा के शुद्ध प्रयोग पर इतना ध्यान दिया है, जितना श्री राव ने, क्रियापदों को उनका उचित स्थान देकर मुहावरों की इतनी रक्षा की है, जितनी श्री राव ने? अज्ञेय, बालकृष्ण राव और सियारामशरण गुप्त...ये ही तीन नाम मेरे सामने आते हैं।"[2] काव्य-भाषा के इस पक्ष के अलावा राव की यह विशेषता है कि ये सरल पदशय्या में भी भाव-गाम्भीर्य भर देते हैं और अपनी अभिव्यक्ति-भंगिमा को नागर वैशिष्ट्य से मंडित कर लेते हैं। सचमुच, ये 'विकसित वाग्बल' के कवि हैं।[3] तभी तो 'कौमुदी' से लेकर 'अर्द्धशती' तक की कविताओं में कहीं शब्दों की लड़ी पिरोने की कला मिलती है, कहीं उर्दू की जुम्बिश भरी रवानी और कहीं संस्कृत के अलंकृत काव्य की मधुर-मंद्र गम्भीरता।

उपर्युक्त मौलिक और अनूदित काव्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त राव के विचारक और इतिहास-समीक्षक रूप को स्थापित करनेवाले अनेक निबन्ध[4] 'कल्पना', 'साहित्यकार', 'पाटल', 'अवंतिका', 'नयी कविता', 'गवेषणा', 'क ख ग', 'धर्मयुग', 'माध्यम' इत्यादि मे प्रकाशित हुए हैं। ये निबन्ध राव के निर्भ्रान्त विचारक रूप को हमारे सामने उपस्थित करते है और इनकी गम्भीर मनीषा तथा बुद्धिनिष्ठ आधुनिकता का द्योतन करते हैं। इनका यह विचारक रूप, यद्यपि ये मानते हैं कि कलाकार का व्यक्तित्व उसके विचारक व्यक्तित्व का जरखरीद गुलाम नहीं है, यदा-कदा इनकी कविताओं में भी व्यक्त हो गया है। जैसे, विज्ञान-युग की खरी चुनौतियों के बीच भी कविता के भविष्य में अपना विश्वास व्यक्त करते हुए इन्होंने 'काव्य का युग' शीर्षक कविता में लिखा है—

'यह नहीं है कल्पना का, काव्य का युग'
कह रहा है आज का विज्ञान हम से

घूमती जाती धरा अपनी धुरी पर;
आज भी आधी उजाले में रहेगी
और आधी स्वप्न को होगी समर्पित।
हँस रही है आज भी कविता क्षितिज से। (हमारी राह, पृष्ठ २६)

इसी तरह निम्नांकित पंक्तियों में विज्ञान-युग की देन—रोबो, साइबरनेटिक्स या ऑटोमेशन के विरुद्ध राव के विचारक रूप का उद्रेक हुआ है—

मशीन को मनुष्य ने बना दिया मनुष्य-सा,
मशीन-सा मनुष्य को बना दिया मशीन ने।
कहाँ मिले मनुष्यता मशीन के मनुष्य में ?
किसे पता कि साँप ने डसा कि आस्तीन ने ? (हमारी राह, पृष्ठ ४३)

इनकी नवीनतम कृति 'अर्द्धशती' में भी हमें विचारक कवि की दार्शनिक उक्तियाँ मिलती हैं, जिनके द्वारा आत्मसन्धानी कवि की अन्तर्दृष्टि ने वागर्थ और यथार्थ का असाध्य समीकरण उपस्थित किया है। जैसे—

कोरे ज्ञान की
ऊँची उठी आवाज,
जिससे और भी ऊँचा बहुत
अज्ञान सुनता है। (पृष्ठ ५८)

इसी प्रकार उक्त कविता-संग्रह की 'आदत' शीर्षक कविता में भावालुता या कवित्व कम और जागतिक वीक्षाभंगी या विचार अधिक है। फलस्वरूप, कवि-सुलभ भावुकता के साथ ही विचार और चिन्तन के आश्लेप ने कवि को जीवन के संघात-संघर्षों की घन-घटा पर उड़नेवाला दार्शनिक बना दिया है। अतः कवि ने जीवन की कई चुभती हुई समस्याओं का 'दार्शनिक' समाधान प्रस्तुत किया है। जैसे—

दवा चाहते हो ? तो आओ,
और जरा, कुछ और जरा, कुछ और जरा
नजदीक दर्द के। (अर्द्धशती, पृष्ठ ६७)

इसी मनःस्थिति के कारण 'अर्द्धशती' की कई कविताओं में कवि भग्नहृदय के भावप्लावन से संश्लिष्ट 'शब्दातीत कथ्य' को शब्दों में बाँधने के लिए प्रयत्नशील हुआ है तथा उस असीम जिज्ञासा और अभेद्य निरुत्तरता को भेदने की चेष्टा की है। फल यह हुआ है कि कई समीक्षकों की दृष्टि में 'अर्द्धशती', भावक पाठक के लिए 'गूंगे का गुड़' और छायावादी काव्य-तत्वों के विनियोग की आवृत्ति बन गई है। किन्तु, सचाई यह है कि कवि ने 'अर्द्धशती' मे छायावादी कवियों की तरह प्राक्तन अनुभूतियों की पुनरावृत्ति नहीं की है और एक साथ प्रातिभ कवि तथा मधीत चिन्तक होने के कारण काव्य-सृजन के क्षणों में भी आधुनिक युग की अनिवार्य बौद्धिकता से बहुत दूरी नहीं रखी है

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा के समायोजन को स्वायत्त किए रहने के कारण राव के काव्य-व्यक्तित्व को समझने के लिए साहित्य की व्यापक पृष्ठभूमि का अवलोकन अपेक्षित है—साहित्य की ऐसी व्यापक पृष्ठभूमि जिसमें एक ओर छायावाद, छायावाद की आसन्नपूर्व काव्य-परम्परा, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा नयी कविता का स्पष्ट आस्पद हो और दूसरी ओर जिसमें यूरोपीय श्रव्य-काव्य तथा संस्कृत के अलंकृत काव्य की प्रभाव-यष्टि विद्यमान हो। राव की प्रारम्भिक रचनाओं को देखने से ऐसा लगता है कि ये मूलतः क्लासिकल रुचि के कवि हैं[५], जबकि इनकी विकसित रचनाएँ रोमांटिक रुझान को व्यक्त करती हैं। मतलब यह कि इनकी कविताओं में क्लासिक और रोमांटिक प्रवृत्तियों का समंजन या संप्लवन है, साथ ही आधुनिकता के सन्दर्भ में परिमार्जित संस्कारो का समावेश भी। इसलिए इन्होंने ब्रजभाषा से लेकर नयी कविता तक की विशिष्ट प्रवृत्तियो को आत्मसात् किया है और अपने जीवन-काल की हिन्दी कविता के साम्प्रतिक तारूण्य को जज्ब करने की सदैव चेष्टा की है। इससे पता चलता है कि इनमें बदलती हुई युग-संवेदनाओ के साथ संपृक्ति हासिल करने की अपूर्व क्षमता है। इसी क्षमता के अभाव में अच्छी से अच्छी शख्सीयत शीघ्र ही अनद्यतन हो जाती है। नयी उभरती हुई प्रवृत्तियों के प्रति 'अनिषेध' की धारणा और युगीन गतिविधियों के प्रति पूर्वाग्रहहीन दृष्टि रखने के कारण ही इन्होंने ब्रजभाषा-काव्य के अन्तिम चरण, द्विवेदी काल, छायावाद, छायावादोत्तर काल, प्रयोगवाद और नयी कविता—इन सबों का समंजित रूपायन हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। पहले ये ब्रजभाषा-काव्य-प्रेमी थे और कविता में यति-गति-शुद्धि तथा छन्दोबद्धता का बहुत ध्यान रखते थे। इसलिए इनकी 'कौमुदी' में काव्य-रचना का यथालब्ध रूप मिलता है। किन्तु, 'कवि और छवि' या 'अर्द्धशती' जैसी विकसित रचनाओं में इनकी कविता का नितान्त भिन्न रूप मिलता है। इस प्रकार ब्रजभाषा काव्य के अन्तिम चरण से लेकर आजतक की हिन्दी कविता के लिए इनका काव्य सजग 'सीसमोग्राफ' का काम करता है, क्योंकि इनकी कविताओ का क्रमिक अध्ययन कर कोई भी जिज्ञासु उक्त अवधि की हिन्दी कविता की सभी प्रवृत्तियो और प्रतिक्रियाओं के संघात से अवगत हो सकता है। इतनी बड़ी कालावधि की सभी काव्य-प्रवृत्तियों को तटस्थ भाव से देखना और उनके गुण को ग्रहण करना पूर्वाग्रहहीनता और अपूर्व ग्राहिका-शक्ति का परिचायक है। ब्रजभाषा में काव्य-रचना करनेवाला कवि, रत्नाकर से इस्लाह[६] लेनेवाला कवि, रूढ़िमुक्त नयी कविता का हमकदम बन जाय—यह विकास आश्चर्यकर है।

इतनी व्यापक पटभूमि पर अपनी काव्य-कला को रस-प्रीत और अनुशासित करने के कारण ही राव ने विभिन्न वादों के गोलबन्द घेरे से बाहर रहकर भी काव्योपयुक्त सहज सुखबोध्य भाषा की ऐसी विकसित धारणा, ऊर्ध्वग तथा निम्नग पर्वगत स्पन्द और पंक्तिगत स्पन्द की ऐसी प्रसंगानुकूल नियोजना, छन्दोयति और भावयति की समरूपता तथा लय-ताल की ऐसी मन्दक्रम अन्तःसंगति का निर्वाह किया है जो आधुनिक हिन्दी कविता में प्रचलित 'वादों' के डिंडिमघोषक कवियों के लिए भी अब तक असाध्य है। वास्तव में इनके पास जो काव्य बोध, ८ ऊर्जा व्यक्तित्व की सपृक्तता या नयी प्रवृत्तियों के घात प्रतिघा

को स्वीकारने की क्षमता है वह हमें बहुत कुछ सोचने को बाध्य करती है। किन्तु अब तक इनके काव्य पर बहुत कम सोचा और लिखा गया है इसलिए यह कहा जा सकता है कि इनकी रचनाएं अधुनातन साहित्यालोचकों से जिस मात्रा में चर्चित होने की अधिकारिणी हैं, उस मात्रा में चर्चा का विषय नहीं बन सकी हैं। निश्चय ही गण्य आलोचकों की अन्यमनस्कता इसका एक सबल कारण है। लेकिन आलोचकों या समीक्षकों की इस अन्यमनस्कता का कोई संताप इनको नही है। कारण, (सैद्धान्तिक धरातल पर) इनकी स्पष्टोक्ति है कि "साहित्यकार भावक के लिए साहित्य-रचना करता है, समीक्षक के लिए नहीं।"[७] यों, इन्होंने आलोचक को...उसके कर्म को व्यर्थ नहीं माना है, क्योंकि लगे हाथ इन्होंने यह भी कहा है—"आलोचक काव्य की अनेक ऐसी विशिष्टताओं को उद्घाटित कर सकता है जो उसकी सहायता के बिना अदृश्य रह सकती हैं—केवल भावक की दृष्टि से ही नहीं, बहुधा कवि की दृष्टि से भी। अपनी रचना के लिए रचनाकार स्वयं सर्वाधिक सन्तुष्ट भावक अवश्य हो सकता है।' इस प्रकार इन्होंने कवि के लिए आलोचक के अनुमोदन को अनिवार्य नही माना है, केवल भावक के महत्व को स्वीकार किया है। इस मान्यता की विवृति मे इन्होंने यह उपपत्ति दी है कि "शिल्प की दृष्टि से कितनी भी उत्कृष्ट क्यो न हो, कविता यदि भावक के मन को रसार्द्र नहीं कर पाती, तो भावक के लिए वह कविता नहीं है। पर जिस मन को रसार्द्र करना कविता का स्वाभाविक कर्म और सर्वमान्य धर्म है, वह मन केवल छलकते हुए उद्वेगों का पात्र नहीं है; वह विशद चेतना-भूमि है जिस पर भावना और विचार, हृदय और मस्तिष्क समान अधिकार के साथ निवास करते हैं और प्रभाव डालते हैं।" कवि के इस कथन से और भी तीन बातें स्पष्ट होती हैं :—

१—रस-सर्जना काव्य का प्रमुख धर्म है।

२—रस केवल भावोद्वेग नहीं है, और अनुभूतियाँ केवल इन्द्रियाश्रित नहीं होती हैं।

३—कविता में सौन्दर्य के साथ सरसता (जिसमें बोधगम्यता गतार्थ है) कविता का अनिवार्य गुण है।

शायद, कविता और आलोचना के प्रति इन्हीं विश्वासों के कारण राव ने सस्ती लोकप्रियता के लिए अपनी कविताओं के स्तर और रंग-ढंग को नहीं बदला है, क्योंकि इन्हे मालूम है कि "सच्चे अर्थ में जिसे साहित्य कहते हैं, उसके भावक सदैव, सभी समाजो और देशों में स्वल्प ही रहे हैं, स्वल्प ही रहेंगे।"[८] किन्तु, यह निर्विवाद है कि राव एक 'विशिष्ट' कवि होकर भी 'लोकप्रिय' कवि नहीं हैं। फलस्वरूप, इनका नाम हिन्दी कविता के साधारण पाठकों और छात्रों की जिह्वा पर नहीं है। लेकिन इसे हम इनके कवि-कर्म की असफलता नहीं मान सकते, क्योंकि युगीन लोकप्रियता या जनख्याति अन्ततोगत्वा एक वंचना सिद्ध होती है और वह कृति-साहित्य के स्तर को नीचे घसीटती है अथवा कृतिकार को आत्म-प्रचारव्रती या विज्ञापनोन्मुख बनाती है। फिर भी हमें यह मानना होगा कि राव ने छायावादोत्तर काल के प्रारम्भिक कवियों की तरह सन् १९३० ईसवी से ही लिखना शुरू किया किन्तु ये न तो अपने समसामयिक कवियों को प्रभावित कर सके और न विस्तृत पाठक समुदाय को ही अपनी ओर आकृष्ट कर सके कवि-रूप में इनकी इस स्थिति को लेकर कु

आलोचकों ने इन्हें भीड़ में कहीं बहुत पीछे स्थान दिया है। किंतु किसी भी तटस्थ या न्यायनिष्ठ व्यक्ति के लिए इस फतवे से सहमत होना और इसी के आधार पर एक कवि को अव्वल नहीं, दोयम मानना कठिन है। कारण, इन दिनों बिना किसी नये आन्दोलन का सूत्रपात किए या नये 'वाद' का प्रवर्तन किये भीड़ में आगे स्थान नहीं मिलता—सो राव ने नहीं किया। दूसरी बात यह है कि केवल तात्कालिक यश की कसौटी पर किसी कवि की उत्कृष्टता या महत्व का निर्णय नहीं होना चाहिए, क्योंकि किसी भी कवि का वास्तविक महत्व काल-निकष पर प्रमाणित उसका मरणोत्तर यश ही सिद्ध करता है। फिर जीवनावधि में प्राप्त यश की मात्रा आगे चलकर घटती-बढ़ती रहती है। अब अंग्रेजी साहित्य में बायरन की अपेक्षा विलियम ब्लेक का बढ़ता हुआ महत्व इस तथ्य का सर्वोत्तम उदाहरण है। इसलिए राव यदि अभी कवि-रूप में अधिक लोकप्रिय और प्रतिष्ठित नहीं हो सके तो यह इनके कवि-कर्म या कवित्व की असफलता का निर्विवाद प्रमाण नहीं है।

नयी पीढ़ी के दायरे से बाहर जिन पूर्वप्रतिष्ठित कवियों ने नई कविता के प्रभाव को स्वीकार किया और तुकों के तुकमे छोड़े, उनमें बालकृष्ण राव का नाम भी उल्लेख्य है। राव की इस प्रभाव-सहिष्णुता की चर्चा कई आलोचकों ने की है।[९] सचमुच, राव ने प्रयोगवादोत्तर साम्प्रतिकता को भी पकड़ने-परखने की कोशिश की है। अतः हमें यह मानना होगा कि इन्होंने प्रात्यहिक परिवेश में अंकुरित नई वास्तविकताओं को अपनी कवि-दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है। प्रायः यह देखा जाता है कि प्रत्येक नव्याधुनिकता को अपनाने के मोह से अनुकरण की प्रवृत्ति जग जाती है, किन्तु इनका काव्य-विकास[१०] न अनुकृति है और न पटरियों के हेरफेर की आजमाइश; बल्कि इनका काव्य-विकास समसामयिकता के दायित्व-निर्वाह का प्रयास है और इनकी आधुनिकता रिक्थ-सम्पृक्त है। काव्य-विकास की दृष्टि से १६३१, १६४७, १६५० और १६५५ ईसवी इनके लिए नए मोड़ों के निर्णायक वर्ष रहें है जो क्रमशः ब्रजभाषा, छायावाद, प्रयोगवाद और नयी कविता से संबद्ध इनकी काव्य-रचना की दिशा को निर्दिष्ट करते हैं। ब्रजभाषा-काव्य की समासप्राय परम्परित काव्य-संवेदना से लेकर रिक्थ-छिन्न अधुनातन काव्य-बोध तक की यात्रा अपने आप में एक उपलब्धि है और पूर्वग्रहहीन काव्य-प्रतिभा के वातायन की उन्मुक्तता का प्रमाण है।

इनके काव्य-विकास की पहली दशा 'कौमुदी' में मिलती है। इन्होंने 'कौमुदी' को (विनम्रतावश ही सही) 'तुकबन्दियों का संग्रह' स्वीकार किया था। किन्तु, इन तुकबन्दियों के प्रकाशन से भी इन्हें 'एक अनिर्वचनीय आनन्द का सुखद अनुभव' हुआ था। संग्रह की कविताओं और लेखकीय निवेदन से आज के सन्दर्भ में इनके तत्कालीन पुराने काव्य-बोध का पता चलता है। तब इन्होंने कवि के स्वान्तःसुख और सहृदय काव्य-मर्मज्ञों के मनोरंजन को अपने सृजन का प्रयोजन माना था[११] तथा बहुत ही परम्परित शैली में अपनी अयोग्यता, अल्पज्ञता और सरस्वती के प्रति उपासना-भाव का उल्लेख किया था। फिर भी 'कौमुदी' की कविताओं के सर्वेक्षण से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक यह कि इनकी इस आरम्भिक कृति में प्रतिभा के बीज सुरक्षित हैं, जिन्होंने आगामी कृतियों में स्पृहणीय विस्तार पाया है। 'कौमुदी' की कविताओं में प्राप्त परिमार्जित भाषा, माधुरी, रसोत्सिक्तता और छन्दोविधान

की अदोष योजना उक्त धारणा को समर्थित करती है। इसीलिए इस संग्रह की अनेक पंक्तियाँ विकसित दशा के काव्योत्कर्ष की पूर्वसूचना देती हैं। दूसरी बात यह कि 'कौमुदी' के रचना-काल तक ये तद्युगीन नव्यतम काव्यधारा 'छायावाद' से प्रभावित नहीं हो सके थे, बल्कि ये अस्तगत ब्रजभाषा-काव्य के परम्परित संस्कारों और द्विवेदीयुगीन खल्वाट मान्यताओं से बेतरह आक्रान्त थे। छायावाद पर एक व्यंग्य-परायण कवि की तरह तिक्त-कषाय व्यंग्य करते हुए इन्होंने आलोच्य-संग्रह की अन्तिम कविता (शीर्षक 'छायावाद') में लिखा है—

> रहते बजाते टूटे तारों की विपञ्ची सदा,
> शून्य में भी नित्य वहाँ होता एक नाद है।
> बहते अनन्त अन्तरिक्ष और नित्यप्रति,
> रहता सदैव मूक वाणी का प्रसाद है।
> करुण विहाग का सुनाई देता राग सदा,
> रहती अतीत-स्मृति एक याद है।
> यही है प्रमाद का प्रसाद रूप छायावाद,
> प्रतिभा सुकवियों की जहाँ अपवाद है॥

शायद, आचार्य शुक्ल ने राव जी की इसी छायावाद-विरोधी काव्य-प्रवृत्ति पर खुश होकर लिखा था—"कौमुदी में 'जीवन के उस पार' की कोई बात मुझे न मिली। कवि की दृष्टि सर्वत्र जीवन के किसी न किसी मार्मिक पक्ष पर ही पाई गई। भावों का कृत्रिम अभिनय, तरल और क्षणभंगुर रूप-विन्यास, विदेशी ढाँचे की लाक्षणिक वक्रता—यह सब बाना भी श्रीयुत् राव की वाणी का नहीं है।" मतलब यह कि 'कौमुदी' की कविताओं में छायावादी बू-बास तनिक भी नहीं है।

किन्तु, युगीन प्रवृत्तियों के ग्रहण की दृष्टि से लोचदार और प्रभाव-सहिष्णु कवि-व्यक्तित्व के कारण सिर्फ चार वर्षों के बाद 'आभास' की कविताओं में इनका छायावाद-विरोधी स्वर लुप्त ही नहीं हुआ, बल्कि ये छायावादी निकाय के अनुवर्त्ती कवि बन गए और इन्हे इसका अभिमान हो गया कि ये 'तारों का संगीत सुनने और तम की ज्योति देखने मे समर्थ' हैं। अतः 'आभास' की कविताओं से इनके काव्य-विकास का दूसरा मोड़ प्रारम्भ होता है, जिसमें ये छायावादी भाव-भंगिमा, मंडन-शिल्प और द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक संस्कार से मुक्त काव्योपयुक्त भाषा को स्वायत्त कर चुके हैं। 'आभास' में संगृहीत कविताओं के इन्द्रधनुषी और कल्पनाविल शीर्षक ही (एकान्त, मुक्ति, आभास, वेदना, विकलता, उच्छ्वास इत्यादि) जो प्रयोग के पौनःपुन्य से वैशिष्ट्य अर्जित कर छायावादी काव्य-धारा के सुपरिचित शब्द बन गए थे, संकेतित करते है कि अब कवि 'कौमुदी' के विपरीत 'जीवन के उस पार' और 'अलौकिक रूप राशि' की अनुभूति में ही मुख्यतः रम गया है और छायावाद का व्यावर्त्तक गुण—कैशोर भावुकता में लिप्त सर्वचेतनावाद उसकी कविता-वल्लरी के लिए मालंच बन गया है। ——— 'कौमुदी' में 'तरवार के धार पै धावनो है' जैसी समस्यापूर्ति करने

वाला कवि 'आभास' में भावना भवन के दिव्य द्वार खोलकर ऐसी विशुद्ध छायावादी कविता लिखने लग गया

> आज व्यथित है सखि, सुख का मन,
> लुटा चुके हैं नयन अश्रुधन,
> अब अभिनव अभिलाषाओं में
> आशा आश्रित हो न सकेगी।
> सजनि, कल्पना सो न सकेगी ॥[१२]

काव्य-कौशल की दृष्टि से 'आभास' में 'विरोधाभास' पर निर्भर छायावादी अभिव्यक्ति-भंगिमा का अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है। जैसे—

> काँप रही है मूक प्रतिध्वनि
> उसकी नीरवता के स्वर में। (पृष्ठ १०)

अथवा,

> व्याप्त हो गया निखिल विश्व में,
> कवि की वीणा का नीरव स्वर। (पृष्ठ १३)

इसी तरह 'आभास' में छायावादी कवियों के प्रिय अलंकार 'विशेषण-विपर्यय' का भी प्रचुर प्रयोग मिलता है। जैसे—विकल शान्ति, जागृत सुप्त भ्रान्ति, शीतलतर ज्वाला इत्यादि। इतना ही नहीं, 'आभास' की कुछ कविताओं में कवि रोमानी रहस्यानुभूति तक पहुँच गया है, जहाँ उसने अपने अधरों पर अनन्त के मृदु अधरों के सुखद स्पर्श पाने तक की बात कही है।[१३] इसी प्रकार 'आभास' शीर्षक कविता में, जिसके आधार पर संग्रह का नामकरण किया गया है, कवि ने केवल 'कण-कण में असीम का अनुमान' ही नहीं किया है, बल्कि 'नीरवता का गान' भी सुन लिया।[१४] अतः यह कहा जा सकता है कि 'आभास' तक आते-आते श्री राव छायावादी गिरोह के हमसुखन बन गये और 'सिद्धहस्ता कल्पना' के कवि हो गये। 'आभास' की कुछ कविताएँ भाव-पक्ष और कला-पक्ष की दृष्टि से छायावादी अनुशासन में इस प्रकार बँधी हुई हैं कि उनसे पन्त और महादेवी की कविताओं का मजा मिल जाता है। एक कविता तो ऐसी है, जिसका शीर्षक हू-ब-हू पन्त की प्रसिद्ध कविता का शीर्षक ('भावी पत्नी के प्रति') है। पता नहीं, पन्त और राव की ये दो कविताएँ हम-नाम या हमउनुवान कैसे हो गई ? 'आभास' में ऐसे दो गीत भी संकलित हैं जिनमें स्थायी और अन्तरा के साथ ही टेक का विधान है।

इनका तीसरा काव्य-संग्रह 'कवि और छवि' (इंडियन प्रेस, १६४७) छायावादी प्रभाव का मूर्तिमान उदाहरण है। किन्तु यह प्रभाव इनके काव्य-विकास की अन्तिम सीमा-रेखा नहीं है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विभिन्न 'वादों' के विवादयुक्त बन्धनों से परे इनके कवि-व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास हुआ और युगीन प्रवृत्तियों की पूर्वाग्रहहीन स्वीकृति

ने इनके काव्य-बोध का दिशा निर्धारण किया है शायद इसीलिए ब्रजभाषा से काव्य रचना का प्रारम्भ करके ये छायावादी प्रभाव और प्रयोगशीलता की गैल से गुज़रकर नयी कविता तक के साथ हमकदमी कर सके हैं। 'कवि और छवि' के समर्पण से ही स्पष्ट है कि इस पुस्तक में ऐसी कविताएँ संगृहीत हैं जो 'छन्दों की छवि', 'लय की मृदुता', 'शुचिता' और 'भावुकता की भाषा' से आपूरित है। इसीलिए इस संग्रह में छायावादी घोल अधिक है। तभी तो कवि ने 'प्रकाश की पगध्वनि' तथा 'छवि की पुकार' को सुना है, 'शून्य की साँसों में स्वर का रस' घोलना चाहा है, 'सीमा के मुख पर असीम की छविमय छाया' के अंकित होने की कामना की है एवं 'कवि और छवि' के नामकरण से यह प्रतीकात्मक अर्थवत्ता प्रेषित की है कि 'कवि' अन्तर्जगत् का अधीश है और 'छवि' वाह्यजगत् की सप्राण शोभा-सुषमा है। इस संग्रह में कवि के प्रति राव का दृष्टिकोण ही पूरा छायावादी है—

> **निज स्वप्नों से जग की निद्रा**
> **चित्रित करते रहे निरन्तर,**
> **आज विश्व की दिवस-ज्योति से**
> **अपनी निशा सजाकर सो लो।**[१५]

इतना ही नहीं, इस संग्रह की कुछ कविताओं को पढ़ने पर ऐसा लगता है मानो इन्होंने छायावादी काव्य-सिद्धान्तों को पद्यबद्ध करना चाहा है। उदाहरणार्थ, 'कविता का जन्म' शीर्षक रचना में इन्होंने कविता के आविर्भाव और हेतु पर छायावादी काव्य-सिद्धान्तों के प्रवक्ता की तरह विचार किया है। छायावादी काव्य-सिद्धान्तों के प्रवक्ता की तरह ही इन्होंने कई जगह छायावादी कविता की विशिष्ट प्रवृत्तियों—छन्द-मुक्ति का आग्रह ('स्वर हो स्वतंत्र, लय-तालहीन,' पृष्ठ १७), स्वच्छन्दता की कामना ('कौन नियमों से नियंत्रित कर सका व्यापार मन के', पृष्ठ २१) इत्यादि को उद्घोषित किया है। छायावादी प्रवृत्ति के कारण इस संग्रह मे महादेवी, निराला, प्रसाद और पन्त की शीर्षकहीन लघु कविताओं की तरह शीर्षकहीन कविताओं की भरमार है। संगृहीत कुल ४४ कविताओं में लगभग १८ कविताएँ शीर्षकहीन हैं।[१६] एक विरोधाभास यह है कि इस संग्रह का नामकरण जिस (अन्तिम) कविता के शीर्षक के आधार पर किया गया है, वह कविता संग्रह की सबसे लम्बी कविता है जो छायावादी प्रवृत्ति के विपरीत कथात्मकचारुता से युक्त है।

इनके तीसरे कविता-संग्रह—'रात बीती'—का प्रकाशन १९५४ ईसवी में हुआ। इस सग्रह की भूमिका इनके छायावादोत्तर काव्य-सिद्धान्तों को समझने में अन्य संग्रहों की भूमिका की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'छायावादोत्तर' इसलिये कि स्वयं अपनी दृष्टि में ये 'रात बीती' के प्रकाशन-काल यानी १९५४ ईसवी तक छायावादोत्तर काव्य-प्रवृत्तियों को अच्छी तरह जज़्ब कर छायावादी प्रभाव के दौर से मुक्त हो चुके थे, क्योंकि तब तक छायावाद पुराना पड़ चुका था—एक काव्यान्दोलन के रूप में जीवित न रहकर इतिहास बन चुका था और अपने को शैली या प्रणाली-मात्र सिद्ध कर चुका था। 'रात बीती' की कविताओं पर पहली नज़र डालते ही ऐसा लगता है कि सन १९५४ तक आते-आते कवि व्योम-कुंजों की

'छाया-परी' के छलावे से परिचित हो चुका था। इसीलिए उसने 'रात बीती' में बादलो से यह कह दिया है—'...जीवन का तकाजा है कि छोड़ो व्योम का अधिवास।'[१७] सचमुच, 'रात बीती' की कई पंक्तियाँ कवि ने जिन्दगी की शीरीनी और तुर्शी में भींग कर लिखी हैं—

बीत जाती जिन्दगी सब की, मगर क्या
खुद बिताई जिन्दगी अपनी किसी ने ?
रोक पाया क्या कभी कोई सुबह को
क्योंकि उसकी नींद पूरी हो न पाई ? (पृष्ठ ३८)

किन्तु, असलियत यह है कि छायावादी काव्य-तत्वों—जिज्ञासा, कौतूहल, कल्पना और कोमलता के प्रति 'रात बीती' में भी प्रच्छन्न मोह बचा हुआ है। छायावादी निर्मोक के इस विलम्बन का प्रयास राव की इस उक्ति में अप्रकट ढंग से मिलता है—"छायावाद न कभी नया था, न कभी पुराना होगा।" फिर भी काव्य-विकास के सन्दर्भ में यह मानना होगा कि सन् १९५४ (संभवतः प्रशासकीय दायित्व से मुक्ति) के बाद इनकी काव्य-दिशा, शैली और शिल्प में स्पष्ट परिवर्त्तन अनुकरणप्रवण कवि-व्यक्तित्व के कारण नहीं, बल्कि जीवन की बदली हुई परिस्थितियों, वास्तविक समस्याओं और परिवेश की नई उभरी हुई सिम्तों के कारण हुआ होगा। इसलिए 'कवि और छवि' के परम्परानुमोदित छन्द और बधे-सधे तुक-ताल, परवर्त्ती रचनाओं में पीछे छूट गये तथा मुक्त छन्द में कवि की अभिव्यक्ति निकास खोजने लग गई। अतः कुछ समीक्षकों की यह राय है कि १९५४ ईसवी के बाद ही राव ने अपने सच्चे कवि-व्यक्तित्व का सन्धान किया है।

'रात बीती' की भूमिका से यह स्पष्ट है कि कवि का विश्वास यत्नज-कविता लिखने में नहीं है और न वह काव्य-सृजन की आनुष्ठानिक रीति को स्वीकारता है। अकृत्रिम प्रेरणा से चालित होकर ही कविता लिखना उसे अभीष्ट है—"मैंने कविता, लिखने की प्रेरणा से ही लिखी; इसलिए कभी नहीं लिखी कि लिखते रहना पाठक वर्ग का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट रखने के लिए आवश्यक है।" इस तरह राव यत्न-लालित कविता नहीं लिखते, बल्कि आन्तरिक प्रेरणा के ही क्षणों में कविता लिखते हैं। निराला ने भी एक जगह ऐसी मान्यता व्यक्त की है—

यदि मिला न तुमसे हृदय-छन्द
तो एक गीत मत गाना तुम।

शायद, इसीलिए राव ने यह स्वीकार किया है कि "परिस्थिति और वातावरण पर काव्य-प्रेरणा जिस परिणाम में विजय पा सकी, उसी परिणाम में (उनकी) पद्य-कृति कविता बन सकी।" सचमुच, सच्ची प्रेरणा के बिना वैसी कविता नहीं लिखी जा सकती, जो (राव के शब्दों में) "साधन ही नहीं, साधना, साध्य सभी कुछ"[१८] हो।

कला-पक्ष की दृष्टि से 'रात बीती' की कुछ विशेषताएँ ध्यातव्य हैं; क्योंकि इसके अन्तर्गत संगृहीत कविताओं में पूर्णांक और पादान्तर-प्रवाही छन्द-लय, भाव और अर्थ की सहचारिता, विराम-चिह्नों की सटीक व्यवस्था तथा सौम्य शब्दानुशासन का विशिष्ट विनियोग मिलता है। कई स्थल ऐसे हैं जहाँ आवेगमुखर वाक्यांशों की योजना के द्वारा संग्रथित तुक

का प्रयोग किया गया है अथवा बीच में ही पूर्ण विराम देकर मध्य यति द दी गई है। हम पंक्तिप्रान्तिक यति की प्रचलित पद्धति का निलम्बन कह सकते हैं। पादान्तर योजना प निर्भर चिह्नविचार की टेढ़ी लपेट इन पंक्तियों में देखी जा सकती है—

राह अनजानी, अँधेरी रात है, हम
साथ हैं, फिर भी अकेले खोजना है
मार्ग अपना। पर जहाँ भी, जब कभी भी,
जिस तरह भी अन्त हो पाथेय, पथ या
शक्ति का, या पूर्ण यात्रा ही स्वयं हो,
दूर हों या पास, होंगे साथ ही हम।[११]

यहाँ चिह्न-विचार की पूर्णांक पद्धति को छोड़कर पादान्तर योजना के ग्रहण के कारण बहुत ही लपेटवाँ शैली का पंक्ति-विधान मिलता है। फलस्वरूप, उद्धृत पंक्तियाँ वाक्यांशों की सर्वान्वयी प्रकृति, यति-विभाग की वक्रता और पद-यदि के स्थानान्तरण को उदाहृत करती हैं।

यद्यपि 'रात बीती' में ही कवि ने कविता के लिए कल्पना और अनुभूति की युगपद् अनिवार्यता महसूस की थी और केवल कल्पना को काव्य-सृजन का श्रेय नहीं दिया था, तथापि 'हमारी राह' में आकर ही उसकी ईमानदार काव्यानुभूतियों का, जिस पर यथार्थ की टकराहट से छाले पड़े हैं, उत्कर्ष देखने को मिलता है। 'हमारी राह' का प्रकाशन १९५७ ईसवी में हुआ, जिसमें विचार-संयुज काव्यानुभूतियो, जीवन के गहन अर्थों और मानवीय संबंधों को अभिव्यक्ति मिली है। इस संग्रह में 'रात बीती' से भी आगे बढ़कर कवि ने युग, जगत् और जीवन को अनुभूति के स्तर पर देखने की कोशिश की है। शायद, 'हमारी राह' तक आते-आते उसने यह महसूस कर लिया कि काव्यानुभूति और जीवनानुभूति में पार्थक्य, कवि-कर्म और कवि-धर्म की अपूर्णता का द्योतक है। कारण, काव्यानुभूति और जीवनानुभूति की अपृथकता या सायुज्य से ही उत्कृष्ट सृजन की सम्भावनाएँ सशक्त होती हैं। अतः इस संग्रह में न यथार्थ-संपृक्ति को उदूल करने की कोशिश है, न परिष्कारहीन शिल्प का आरोप अथवा अभिव्यक्तिगत उलझाव है और न अनुभूति का अटपटा दुराव ही।

किन्तु, '५७ तक आते-आते श्री राव प्रयोगवादी दौर में आकर केवल राह के अन्वेषी रह गए, गन्तव्य के नहीं—

यह राह
केवल राह है,
केवल हमारी है,
हमारी दृष्टि में यह राह है केवल। (हमारी राह, पृष्ठ १०)

इस संग्रह में एक ओर इन्होंने प्रयोगवादियों की तरह नये और अपरम्परित उपमानो का अनेकत्र अन्वेषण किया है (जैसे—'रथ का पाँचवाँ पहिया', 'छठा पति द्रोपदी का', आठवें दिनसा निरर्थक') और दूसरी ओर पुरा प्रसंगों के नवीन व्याख्याता की तरह पुराने पात्रों अथवा प्रतीकों के सहारे यानी जातीय अवचेतन में छिपे हुए आद्य बिम्बों के द्वारा

अधुनातन युग की नई संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है आलोच्य संग्रह की 'रेडियो' शीर्षक कविता इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।[२०]

इनका नवीनतम कविता-संग्रह 'अर्द्धशती' १९६४ ईसवी में प्रकाशित हुआ है, जिसमें १९५८ से १९६३ तक की चुनी हुई कविताएँ-संगृहीत हैं। कुल पचास कविताओं में पाँच कविताएँ अनूदित हैं—दो वर्ड्सवर्थ की, दो वाल्ट ह्विटमैन की और एक रवीन्द्रनाथ ठाकुर की। 'अर्द्धशती' पर पहुँच कर भी कवि की रोमांटिक चेतना समाप्त नहीं हुई है, क्योंकि इस संग्रह में लगभग तीन कविताएँ चाँद या चाँदनी पर हैं, जो कवि की उन्मादिनी कल्पना को 'चन्द्राहत' (!) सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। यों इस संग्रह में कवि की दार्शनिक गम्भीरता (और दार्शनिक तटस्थता भी) पहले की अपेक्षा बढ़ गई है और अभिव्यक्ति को बारीक बनाने की चेष्टा में विवक्षा धूमिल हो गई है अथवा कथ्य बहुत प्रच्छन्न रह गया है। संग्रह का प्रारम्भ ही दार्शनिक की तटस्थ गम्भीरता के साथ हुआ है, क्योंकि पहली कविता में कवि ने एक अदृश्य-अनिर्वचनीय शक्ति के प्रति विश्वास व्यक्त करते हुए जीवन में छिपी हुई सम्भावित आकस्मिकता का संकेत किया है—

> झुक रही है भूमि बाईं ओर, फिर भी
> कौन जाने,
> नियति की आँखें बचाकर
> आज धारा दाहिने बह जाय।
> जाने किस किरण-शर के वरद आघात से
> निर्वर्ण रेखाचित्र बीती रात का
> कब रंग उठे! सहसा मुखर हो
> मूक क्या कह जाय!

किन्तु, इस दार्शनिक तटस्थता का सातत्य अबाधित नहीं रह सका है, क्योंकि मूलतः रोमांटिक होने के कारण राव अब तक अन्तर्मुख भाव-सम्पदा के ही कवि हैं। इन्होंने संग्रह की दूसरी कविता में इसे स्वीकारा है कि सब कुछ व्यक्ति के आन्तरिक उत्साह पर निर्भर करता है। जिस तरह चंगा मन कठौत में गंगा पा लेता है, उसी तरह मन की उमंग किसी भी तिथि को त्योहार बना देती है—

> मनाना चाहता है आज ही?
> —तो मान ले
> त्योहार का दिन
> आज ही होगा!

फिर भी यह विवादरहित है कि 'अर्द्धशती' में कवि की प्रौढ़ि प्रकर्ष की ओर बढ़ी है और उसकी कला-चेतना अधिक पुष्ट हुई है। उदाहरण के लिए 'पाषाण-कारा' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों को देखा जा सकता है, जिनमें कवि ने शिल्पी के सृजन धर्म, युग-सत्य और कला के कच्चे माल के प्रति अपनी निर्भ्रान्त धारणा व्यक्त की है

उठो शिल्पी, उठो सुन लो
तुम्हें पाषाण-कारा से
न जाने आज
कितनी मूर्तियाँ
आवाज देती हैं।
....
उठो,
उन्मुक्त कर दो
आज की बन्दी कलाकृति को !

उद्धृत पंक्तियों की भाषा-शैली से स्पष्ट है कि कवि ने यत्नज शैल्पिकचारुता या कविता के बहिरांगिक कारुकार्य से काव्याभिप्राय को शिल्पाक्रान्त किए बिना ऐसी भाषा-शैली का निर्वाह किया है, जिसकी सरलता में वह गद्यात्मकता नहीं जो प्राय: कवित्व के अभाव का द्योतक हुआ करती है। यदि इसी स्तर का निर्वाह सर्वत्र होता, तो भाव और शिल्प के सामंजस्य अथवा भावानुसारी शब्द-चयन के कारण सम्पूर्ण 'अर्द्धशती' में कलात्मक प्रौढ़ि, पेशलप्रेषणीयता और अर्थगत रमणीयता का हृदयावर्जक समन्वय अबाधित रह जाता। तथापि यह ध्यातव्य है कि कवि की कल्पना और काव्यानुभूति ने वस्तु-सत्य तथा युग-बोध को एकदम उपेक्षित करने की चेष्टा नहीं की है। इसलिए 'अर्द्धशती' की कविताओं में पलायन, कुण्ठा या अनास्था का गलग्रह नहीं मिलता है।

एक आस्थाशील कवि होने के कारण राव की कुछ कविताएँ शक्ति-संवेग से युक्त है, क्योंकि कभी-कभी आस्थाधिक्य के कारण इनके कवि प्राणों में 'प्रभंजन की प्रबलता' समा गई है। उदाहरणार्थ, 'अर्द्धशती' की 'गा सके तो गा' शीर्षक कविता इसी मानी में लालसा, साहस और शक्ति के उद्रेक की कविता है। कवि चाहता है कि यदि विधिवशात् प्रतिकूलताएँ ही एकजुट होकर पर्यावरण बन जाएँ, तब भी अदम्य मानव-मन अपनी अच्छी लालसाओं को न छोड़े। इसलिए कवि ने विहंगम के व्याज से प्रतिकूल परिस्थितियों के व्यूह में फँसे हुए मानव-मन को कहा है—

गा विहंगम ! गा सके तो गा !
लुट गया मधुमास का माधुर्य ? तो क्या ?
कण्ठ में स्वर है अगर, तो
आत्म-निर्भर हो, निडर हो—गा
आँधियाँ आती रहीं, आती रहेंगी।
....
ठूँठ पर पैठा हुआ है तू, झकोरों से अरक्षित,
उठ रही हैं आँधियाँ
पर खोल अपने झूम जा [२१]

अर्द्धशती की दो अन्य विशेषताएँ भी द्रष्टव्य हैं एक यह कि इसमें भाव और विचार के सामान्य विभेद से ऊपर उठकर भावातीत विचारों को व्यक्त करने की कोशिश की गई है। इसी कोशिश के कारण 'अर्द्धशती' की कुछ कविताओं में एक जीवन-दार्शनिक की गम्भीर मर्मवेदना मिलती है जो शब्दातिशय नहीं, शब्दों की मितव्ययिता द्वारा अभिव्यक्त हुई है। दूसरी विशेषता यह है कि 'अर्द्धशती' में लघुयति स्पन्दों से युक्त कई कविताएँ मिलती हैं। प्राय: ऐसी कविताएँ छोटी-छोटी पंक्तियों में रची गई हैं और इनमें आचेष्टित ध्वनि-झंकार को भरने को कोशिश नहीं की गई है। इस प्रकार अभिव्यंजना की स्तरीय विविधता और मार्मिक अर्थच्छायाओं की कान्ति ने 'अर्द्धशती' की कविताओं को रमणीय बना दिया है। अतः यह संग्रह प्रमाणित करता है कि राव की कविताएँ नीरन्ध्र बुद्धिवादिता या एक अध्ययनशील बुद्धिजीवी की भावनात्मक प्रतिक्रिया-मात्र नहीं हैं।

नई पीढ़ी की काव्य-प्रवृत्तियों के साथ रहकर भी राव ने कुंठाओं के तथाकथित श्वासावरोध से हार नहीं मानी है। इसलिए इन्हें अनास्था का कवि नहीं माना जा सकता। वास्तविकता यह है कि ये सही मानी में आस्था के कवि हैं। इन्होंने १९५१ ईसवी में रचित 'आस्था' शीर्षक कविता में लिखा है—

> छिपे कहीं, पर फिर लौटेंगे कभी स्वप्न भी मेरे,
> सारी रात बिताकर जैसे लौटा सूर्य सबेरे।
> फिर मधुऋतु होगी, सुन लेंगे फिर कोकिल के गाने,
> हो जायेंगे नये-नये फिर जो हो चुके पुराने।

यह सराहनीय है कि इस 'विपर्यस्त युग में' भी राव आस्था के कवि हैं। तभी तो ये केवल 'विवश मन की अदम्य प्रेरणा' से 'निरुद्देश्य सृजन' नहीं करते, बल्कि सिद्धान्ततः यह स्वीकार करते हैं कि "सृजन की प्रेरणा केवल आस्था से ही मिल सकती है, अनास्था से नहीं।"[२२] अनास्था के वर्तमान युग में भी इनकी प्रगाढ़ आस्था का प्रमुख कारण यह है कि ये सभ्यता के इतिहास को प्रगतिशीलता का इतिहास मानते हैं। अतः इन्होंने मानवता के मंगलमय भविष्य में अपनी दृढ़ आस्था को व्यक्त करते हुए लिखा है—"आज की साहित्यिक चेतना का प्रतिनिधि अपने को अकेला या अन्धेरे में नहीं पाता। वह स्वीकार करता है कि पुरानी मान्यताएँ टूट चुकी हैं, पर उसका विश्वास है कि नई मान्यताएँ बन रही हैं, बनेंगी। वह किसी कटु-सत्य से इन्कार नहीं करता, पर विश्वास करता है कि विकासशील मानव-बुद्धि और उन्नतिशील मानव-सभ्यता टूटी-फूटी मान्यताओं के खँडहर में ही नहीं रहेगी; खंडहर साफ किए जाएँगे और नई इमारतें बनाई जायँगी।"[२३] संभवतः इसी दृढ़ आस्था के कारण कवि नियति में विश्वास रखने पर भी निराशावादी नहीं हुआ है। रंग-विरंगे आवरणों के भीतर छिपे हुए कटु-यथार्थ की निर्मम पहचान उसे माली खूलिया से ग्रस्त नहीं कर सकी है; बल्कि वह जिन्दगी के अटल अंजाम को जानकर भी मौज मना लेना चाहता है—

> दीप के नीचे अन्धेरा हो भले हो
> आज दीवाली मनानी है हमें तो।[२४]

सचमुच, कवि की यह एक ध्यातव्य विशेषता है कि नियति में विश्वास रखकर भी वह हार मानने वाला नहीं है, साहसी और आशावादी है। इसलिये नियति का सहारा न पाने पर भी वह खतरा मोल लेकर मस्ती में रह सकता है—

कौन समझाए नियति की नीति क्या है ?
क्यों डुबाकर नाव लहरों का निमंत्रण
साधना स्वीकार करना चाहती है ?[२५]

'रात भर ही' शीर्षक कविता में इसी आस्था का ऊर्ध्वबाहु उद्घोष मिलता है—

है उसे विश्वास ज्यों-ज्यों रात बढ़ती
जागरण का सूर्य भी आता निकटतर।[२६]

इसी आस्थाप्रियता के कारण कवि ने 'आधुनिकता' पर मिश्रित प्रतिक्रिया व्यक्त की है। अतः आधुनिकता में रूढ़ि के प्रति विद्रोह और आस्थाहीनता का जो भाव समाविष्ट है, उसकी ओर इन्होंने कूटभरा संकेत किया है—

....

आस्था की पुरानी वाटिका उजड़ी पड़ी थी,
बन्द थे बाजार उस दिन रूढ़ियों के
आधुनिक मानव, हुई आरम्भ जब यात्रा तुम्हारी।[२७]

इनकी काव्यानुभूतियों में यदा-कदा 'नियति' और 'अदृश्य' के प्रति गहरा विश्वास झलकता है, क्योंकि ये अप्रत्याशित अज्ञात की गिष्टि को स्वीकार के लिए सर्वत्र तत्पर दीख पड़ते हैं।[२८] कवि-जीवन के प्रारम्भ से ही उनमें यह प्रवृत्ति मिलती है। सन् १९३२ मे लिखित इनकी 'नियति' शीर्षक कविता 'आभास' में संकलित है जिसमें इन्होंने 'जीवन-संगिनी' और 'जीवन की पुण्य पहेली' के रूप में नियति के अस्तित्व को अंगीकार किया है। नियति मे इनका यह विश्वास 'अर्द्धशती' तक की उन कविताओं में भी लक्षित किया जा सकता है, जिनमें इन्होंने अप्रत्याशित या असम्भाव्य को घटित करनेवाली नियति की क्रीड़ा का व्यंजनापूर्ण अंकन किया है। इनके लिए 'नियति' का अर्थ है अदृश्य-चालित एक पूर्वनिश्चित व्यवस्था, जिसे हम प्रचलित शब्दावली में 'विधि का विधान' कहते हैं। इनके विभिन्न काव्य-संग्रहों में नियति के प्रति विश्वास को द्योतित करनेवाली ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

भावी के अदृश्य चरणों पर
नत है वर्तमान का मस्तक।—(कवि और छवि, पृष्ठ ११)
बन्धु, नियति के संकेतों पर
स्वप्न यहाँ बनते, मिटते हैं।—(वही, पृष्ठ १३)
हृदय का सन्देश बदले
नियति के आदेश में।—(वही, पृष्ठ ३४)
नियति के आदेश को जग
ही जान पाया वही पृष्ठ ७३

अपने ही पदचिह्न कुचलने
नियति न लौटी नियम बदलने।—(रात बीती, पृष्ठ १३)
आज को कल की प्रतीक्षा हैं युगों से;
यह विलक्षण साधना है सिद्धि जिसकी
पूर्वनिश्चित है, विफलता भी विनिश्चित —
'कल' मिलेगा, किन्तु, पहले 'आज' बनकर।—(वही, पृष्ठ १६)

आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में, शिल्प की दृष्टि से राव की सर्वाधिक विशिष्ट देन है 'सॉनेट' की रचना। सचमुच, ये एक सफल 'सानेटीयर' हैं,[१९] जबकि सॉनेट ऐसी जटिल छन्दोविधान वाली रचना में माहिर होना आसान नहीं है। अतिरिक्त विशेषता यह है कि इन्होंने सॉनेट में भी कई अपरम्परित प्रयोग किए हैं। फलस्वरूप, इन्होंने सॉनेट-रचना में पूर्ण स्वच्छन्दता से काम लिया है और उसके पुराने छन्दशास्त्रीय बन्धनों को तोड़ दिया है। एक 'छन्द-सचेत' कवि रहते पर भी इन्होंने सॉनेट की आन्तरिक भावगत-सम्पदा पर अधिक बल दिया है, उसकी परम्परागत आंगिक दृढ़बद्धता पर नहीं। इसलिए इनके विकसित कला-काल के सॉनेट को हम 'मुक्तबन्ध' सॉनेट कह सकते हैं।

इनका पहला सॉनेट 'आभास' में तीसरे पृष्ठ पर मिलता है, जो मई १६३५ की रचना है। इसके बाद इनके काव्य-संग्रहों में सॉनेट की संख्या बढ़ती गई है। 'रात बीती' मे लगभग बीस सॉनेट हैं और 'हमारी राह' में बाइस। यद्यपि 'हमारी राह' में सभी संग्रहों की अपेक्षा सॉनेट की संख्या अधिक है, तथापि इन्होंने सॉनेट के शिल्प के संबंध में अपने दृष्टिकोण का सर्वाधिक सुस्थ निरूपण 'रात बीती' की भूमिका में किया है जो संक्षिप्त, किन्तु सारगर्भ है। 'आभास' के रचना-काल में इन्होंने रोला छन्द की पंक्तियों का और शेक्सपीयर की चतुर्दशपदी के तुक-विन्यास का अनुसरण किया था; किन्तु, बाद में इन्हे सॉनेट का यह परम्परित छन्द-शिल्प या तंत्र बहुत ही कृत्रिम लगा। अतः इन्होंने तुकों के तुकमे के साथ ही चौदह पंक्तियों का बन्धन भी तोड़ दिया। इसी कारण इन्होंने बंगला के प्रसिद्ध कवि मधुसूदन दत्त की तरह अष्टक-षटक भावावर्त्तनविहीन सॉनेट लिखे हैं, जिनमे अष्टक और षटक के बीच की परम्परित भाव-यति नहीं मिलती है। मतलब यह कि इन्हे सॉनेट का पूर्वनिश्चित आकार जो प्राय: ईमानदार और अकृत्रिम भावाभिव्यक्ति में बाधक होता है, बेमानी लगा। फलस्वरूप, इन्होंने सॉनेट के परम्परास्वीकृत बाह्यतंत्र को छोडकर उसके अपेक्षित आन्तरिक गुणों—कथ्य की अन्विति, स्पष्ट विवक्षा, नुकीली अभिव्यंजना और निर्वहण पर ध्यान दिया। इसलिए इनके विकसित काव्य-काल में रचे गए सॉनेट विशुद्ध पेत्रार्कीय आदर्श के सॉनेट नहीं हैं। इस मामले में ये कामिनी राय से, जिन्होंने बंगला में विशुद्ध पेत्रार्कीय आदर्श पर शताधिक सॉनेट लिखे हैं, नितान्त भिन्न कोटि के 'सॉनेटीयर' हैं। कुल मिलाकर ये एक प्रयोगवादी 'सॉनेटीयर' हैं और इनके सॉनेट प्राय: भावपूर्ण हैं मात्र शिल्पाक्रान्त नही।

कला-पक्ष की दृष्टि मे राव की कविताओं में बिम्ब-विधान का ललित-कौशल मिलता है, क्योंकि स्पष्ट-चित्रों के रूपायन और रूपानुभूति के आवेग के साथ ही इनकी

कविताएँ अप्रतिम रूप-बोध से मंडित हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण इनकी कविताएँ बिम्बों की अनन्तरोद्भवता से भरी-पूरी रहती हैं। 'कौमुदी' के प्रकाशन के बाद से अधिकतर नई पीढ़ी के साथ लगे रहने पर भी इनमें नई पीढ़ी का आक्रोश या संवेदनों की तीव्रता नहीं है। फलतः इनकी कविताओं की तासीर उमूमन मोतदिल है। इसलिए इन्हें अनुष्णाशीत संवेदन का कवि कहना उचित है।

संदर्भ-संकेत

(१) राव ने पन्त की 'अतिमा' पर अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए 'अतिशय ग्रान्थिक भाषा' का विरोध किया है—"......अतिशय ग्रान्थिक भाषा एक ऐसा दुर्वह भार है, जिसे पीठ पर लादकर कविता लड़खड़ाने लगती है, थक कर बैठ जाती है और लाख कोशिश करने पर भी अपने मुख पर सहज मुस्कान नहीं ला पाती।" (२) द्रष्टव्य, 'सादगी व पुरकारी' शीर्षक निबन्ध, कल्पना, सितम्बर १९६३, पृष्ठ २८ (३) शुक्ल जी ने 'कौमुदी' की कविताओं को पढ़कर लिखा था—"सबसे अधिक आश्चर्य और आनन्द यह जानकर होता है कि मद्रास प्रान्तवासी होकर भी आपने (राव ने) हिन्दी की काव्य-भाषा पर ऐसा विस्तृत अधिकार प्राप्त किया है जैसा आजकल के बिरले ही नवयुवक कवियों का पाया जाता है। एक ओर ब्रजभाषा के मुक्तकों में हमें पदावली की मँजी हुई प्रौढ़ता मिलती है, दूसरी ओर खड़ीबोली की नए ढंग की रचनाओं में कोमल और मधुर भावनाओं के अनुरूप भाषा की सहज स्वच्छन्द गति। दंडक, सवैया आदि हिन्दी के पुराने छन्दों के प्रवाह में खड़ी बोली के पद्य उसी माधुर्य के साथ ढले हैं, जिसे हमारे कान अच्छी तरह पहचानते हैं।" (४) राव ने कुछ यात्रा-संस्मरण भी लिखे है, जैसे—रूस में अठारह दिन (माध्यम, अगस्त १९६४, पृष्ठ ६), प्राग में पाँच दिन (आजकल, फरवरी १९५८, पृष्ठ १४)। इन यात्रा-संस्मरणों में इनके कवि-हृदय का रसोच्छल भावुकता मिलती है (५) विशुद्ध क्लासिकल दुखान्तकी 'विक्रान्त सैम्सन' का अनुवाद भी इस ओर संकेत करता है (६) राव स्वयं ही रत्नाकर के प्रभाव को स्वीकारते है। इनके कथन से ऐसा मालूम पड़ता है कि इन्होंने प्रारम्भ में रत्नाकर से इस्लाह तक ली है। रत्नाकर की जन्मशती के अवसर श्रद्धांजलि निवेदित करते हुए इन्होंने लिखा है—"(रत्नाकर जी ने) मेरी आरम्भिक रचनाओं को देखा ही नहीं, संशोधित ही नहीं किया, मुझे पास बिठाकर पद्य-रचना का बाकायदा अभ्यास भी कराया। इन्होंने समस्याएँ, विषय और छन्द देकर पद्य-रचना कराई और उसका परीक्षण-संशोधन किया।" (माध्यम, अक्तूबर १९६६, पृ० १२-१३) (७) 'अर्द्धशती' का शीर्षकहीन प्राक्कथन (८) राव, आजकल, अगस्त १९६४, पृष्ठ ४ (९) द्रष्टव्य, हिन्दी नवलेखन (रामस्वरूप चतुर्वेदी), पृष्ठ ७६ (१०) राव के काव्य-विकास पर डॉ० रघुवंश की यह टिप्पणी पठनीय है—"छायावाद के उत्तरकाल में बालकृष्ण राव एक गीतकार के रूप में स्वीकृत रहे हैं, पर पिछले वर्षों मे युग से सम्पृक्त नई अनुभूतियों के साथ काव्य के क्षेत्र में आए हैं। इनमें भी नयी कविता के प्रति सहानुभूति है और एक प्रकार से अपने छायावादी सस्कारों के साथ ये नयी कविता की भावभूमि पर प्रवेश कर रहे हैं परन्तु

रचना प्रक्रिया की आंतरिक संवेदनीयता के अभाव में इनकी कविताओं पर अब भी छायावादी प्रभाव देखा जा सकता है। अनेक कविताओं में युग मानस के मंथन और आत्मविश्लेषण की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, पर इनमें अनेक बार कवि इस सीमा तक तटस्थ जान पड़ता है कि आन्तरिक संवेदना की उपलब्धि के रूप में काव्य न लगकर बात का निर्वहण लगता है।''—साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, पृष्ठ १५२ (११) 'कौमुदी' के रचना-काल में कविता और कवि-कर्म के प्रति राव के दृष्टिकोण का पता 'कवि' शीर्षक रचना की इन पंक्तियों से चलता है—

बहते सदा प्रेम-पयोधि में, स्नेह की जो रस-धार बहाते सदा।
अपनी कविता के सुकण्ठ से जो, शुचि-स्नेह-सुगान सुनाते सदा।
नित स्नेह-सनी हमें न्यारी सुधा, जो पिला मतवाले बनाते सदा।
कहते रहते कथा प्रेम की जो, जग में कवि वे कहलाते सदा। (पृष्ठ २२)

(१२) शीर्षक 'उच्छ्‌वास', पृष्ठ २७ (१३) द्रष्टव्य, 'मुक्ति' शीर्षक कविता की अन्तिम पंक्तियाँ, पृष्ठ ११ (१४) छायावादी काव्यधारा की अन्य विशेषताएँ, जैसे—अमूर्त का मूर्त विधान, वेदना के प्रति आसक्ति इत्यादि 'आभास' की कविताओं से ही परिलक्षित होने लगी हैं। द्रष्टव्य, 'वेदना' शीर्षक कविता, 'आभास' पृष्ठ २१ (१५) 'कवि के प्रति' शीर्षक कविता, पृष्ठ ४ (१६) कविता-संख्या ८, ६, १०, १४, १६, १७, १६, २१, २३, २४, २५, २६, २७, ३१, ३२, ३४, ३८ और ४३ (१७) रात बीती, पृ० ६ (१८) वही, पृष्ठ १० (१६) वही, पृष्ठ २८ (२०) 'निर्वासिता सीता का गीत' (रात बीती, पृष्ठ २४) भी इस सन्दर्भ में देखा जा सकता है (२१) अर्द्धशती, पृष्ठ २४, (२२) हंस १, सन् १६५७, पृष्ठ ७१ (२३) वही, पृष्ठ ७२ (२४) रात बीती, पृष्ठ १५ (२५) वही, पृष्ठ २३ (२५) हमारी राह, पृष्ठ २२ (२७) अर्द्धशती, पृष्ठ ५४ (२८) राव के सहपाठी श्री नरेन्द्र शर्मा ने 'अर्द्धशती' की समीक्षा करते हुए ठीक ही लिखा है—''श्री बालकृष्ण राव का काव्य दम्भोद्भव नहीं है, और न ही उनकी मौलिक कविता पाश्चात्य मॉनालिसा बनती है। हारने को तैयार और जीतने की आशा न त्यागनेवाले खिलाड़ी की भाँति वे आवेशहीन भाव-संपत्ति के धनी हैं।''—माध्यम, अक्तूबर १६६४, पृष्ठ ६६ (२६) अज्ञेय ने इनके सॉनेट की चर्चा करते हुए लिखा है—"Balkrishna Rao, whose early poetry had close affinities with Chhayavad, has made interesting experiments in the sonnet form. His language is simple and his diction close to ordinary speech : his themes are often slight but his fine sense of form makes his poetry a delight to read." Contemporary Indian Literature, (Sahitya Akadami, New Delhi, 1959) Page 89.

फ्रॉयड और आज के साहित्य में उसकी अन्तर्ध्वनि

● रवि अग्रवाल

फ्रॉयड की खोजों ने व्यक्ति की चेतना का जो रूप उद्‌घाटित किया है, उससे हिन्दी-साहित्य को नई दृष्टि मिली है, इससे कोई इनकार नहीं कर सकता। फ्रॉयड एक ऐसा मनोवैज्ञानिक था जिसने अपनी विचारधारा द्वारा साहित्य को सबसे अधिक प्रभावित किया है। वैसे साहित्य पर युग की विचारधारा का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता ही है, पर कुछ विचारधाराएँ ऐसी होती हैं जिनकी जड़ें गहरी से गहरी होती हुई एक बड़े भूभाग को घेर लेती हैं। फ्रॉयड की विचारधारा इन्हीं में से एक है। इस विचारधारा ने जीवन के मूल्यांकन की दिशा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि हम प्रत्येक घटित क्रिया के पीछे कोई न कोई मानवीय कारण खोजने के लिए बेचैन रहने लगे और मानव-मन के भीतर इतना प्रवेश करते गये कि हमें उसके अन्तराल में सब कुछ मिलने लगा। हमें पहली बार यह ज्ञात हुआ कि चेतन मन के अतिरिक्त भी कोई अन्य मन है जो हमारी सभी क्रियाओं पर नियंत्रण करके हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करता है और मानव की क्रियाएँ किसी न किसी रूप में उसी मन से संचालित होती हैं। हमें यह भी ज्ञात हुआ कि मानव-मन उन तमाम क्रियाओं को भी करता है जिसका चेतन मन से कोई संबंध नहीं है और वे क्रियायें जाने-अनजाने चरित्र को प्रभावित करती रहती है।

फ्रॉयड के आने के पूर्व तक मानव-मन को एक इकाई के रूप में माना जाता था और यही मानकर उसका अध्ययन किया जाता था। ऐसे अध्ययन की एक परम्परा अबाध गति से उन्नीसवीं शताब्दी तक मिलती है। मन के इस अध्ययन ने जीवन को स्थूल दृष्टि से देखा और आदर्शवादी ढंग से उसकी व्याख्या की। साहित्यकार भी उसी के अनुसार आदर्शवादी एवं सुधारवादी दृष्टिकोण को लेकर चले। व्यक्ति को सामाजिक भूमि दी गई। साहित्य में विभिन्न पात्र समाज के बीच रहकर, समाज से संघर्ष करते हुए भी एक क्षण के लिए समाज से न तो अलग होते थे और न उससे अलग होने की सोचते थे। सामाजिक जीवन में घुसी हुई अनेक विकृतियों से वे युद्ध करते रहते थे। सामाजिक जीवन में वे घुटते रहे, पिसते रहे, सामाजिक मूल्यों से उनकी आस्थाएँ डगमगाती रहीं, पर किसी ने भी सामाजिक जीवन की कभी भी उपेक्षा नहीं की इस प्रकार व्यक्ति और समाज के बीच का संबंध टूटने नहीं पाया। फ्रॉयड के प्रवेश ने व्यक्ति और समाज के बीच के संबंध को ढीला करके एक लम्बी

खाई उत्पन्न कर ली जीवन और समाज के बीच चलने वाले संघर्ष ने मानसिक संघर्ष का रूप धारण कर लिया पात्रों का दृष्टिकोण समाज से हटकर वर्ग वर्ग से हटकर परिवार और फिर अपने पर केन्द्रित हो गया। इस विचारधारा ने जीवन को पूर्ण वैयक्तिक बनाने का प्रयास किया। इस प्रकार से जो साहित्य मन में चल रहे संघर्षों से अब तक अपरिचित था, मनोविज्ञान ने उसकी आँखें खोल दी। अब साहित्य में अचेतन और चेतन में चलने वाले संघर्षों की अभिव्यक्ति होने लगी। बड़े विश्वास के साथ पात्रों के मन की चीर-फाड़ आरम्भ कर दी गई और साहित्यकार अचेतन की तमाम पर्तों को खोल कर उसमें कुछ खोजने के लिए जुट गया। अनेक मनोवैज्ञानिक प्रणालियों द्वारा पात्र को समझने का प्रयास किया जाने लगा। इसने चरित्र-चित्रण के आधार को भी सामाजिक से मनोवैज्ञानिक बना दिया।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से देखा जाय तो पहले के रचनाकारों को चरित्रांकन में विशेष आयाम की आवश्यकता नहीं होती थी। कारण कि साहित्यकारों की दृष्टि चेतन मन तक ही सीमित थी, उन्होंने अचेतन मन की कल्पना तक नहीं की थी। इसीलिए उनके पात्र जाने-पहचाने से होते थे। यही कारण है कि प्रसाद और प्रेमचन्द तक के पात्रों में सामाजिक तत्व अधिक मिल जाते हैं। मनोविज्ञान ने मानव के व्यक्त चरित्र की अपेक्षा अव्यक्त चरित्र की ओर विशेष ध्यान दिया जो दृष्टि से अलग होने पर भी व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रेरक होता है। इस प्रकार से अचेतन मन को ही सब कुछ माना गया और अव्यक्त को उभाड़ने में ही चरित्र-चित्रण की सफलता देखी गई। इससे पात्र 'वे' से हटते हुए 'मैं' की ओर बढ़ आए। इस देन ने साहित्य को नवीन दिशा प्रदान की जिसके कारण अनेक पात्र 'हम' से लगने लगे। क्रियाओं के पीछे दैवी प्रेरणा का भाव समाप्त हो गया और यह माना जाने लगा कि प्रत्येक कार्य के पीछे व्यक्ति का अचेतन मन ही सक्रिय रहता है। पहले कला आदि को दैवी प्रेरणा से उद्भूत माना गया था, अब उसे मानवीय धरातल दिया जाने लगा। अब व्यक्ति को, व्यक्ति के जीवन को समझने के लिए 'दैव' को न पुकार कर मानव के ही भीतर झाँका जाने लगा। निश्चित ही मनोविज्ञान ने हमारी चेतना का नवीन संस्कार करके नई दिशा दी, पर फ्रॉयड की अचेतन संबंधी कल्पना का एक ऐसा घातक प्रभाव भी पड़ा कि आज उससे समूचा समाज तिलमिला रहा है और अपने आप में एक घुटन का अनुभव कर रहा है।

कहना न होगा कि फ्रॉयड ने 'काम' को मानव-मन की प्रेरक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। उसने 'काम' की भित्ति पर ही अपने मनोविज्ञान का भवन खड़ा किया है। यद्यपि एडलर और युंग ने फ्रॉयड के काम संबंधी सिद्धान्त को स्वीकार न करते हुए उसका घोर विरोध किया तथा साहित्य के क्षेत्र में नवीन मान्यताओं को जन्म दिया, पर आज के हिन्दी-साहित्य ने जितना फ्रॉयड से लिया, उतना किसी अन्य से नहीं। यही कारण है कि उसने 'सेक्स' की जो रूपरेखा सामने खड़ी की, उसका एक अच्छा अध्ययन हिन्दी-साहित्य में उपलब्ध होता है। हिन्दी-साहित्य के अधिकांश लेखकों ने काम-अभुक्ति को ही अपने अध्ययन का विषय बनाकर अपने अध्ययन को पूर्ण समझ लिया है। वैसे प्रेम अहं लोभ क्रोध आदि अनेक मूल प्रवृत्तियों मृत्यु और जीवन की समस्याओं तथा अनेक मानसिक व्यापारों की चर्चा

हिन्दी-साहित्य में मिल जाती है, पर सबसे अधिक चर्चा सेक्स को लेकर हुई है और उसमें भी काम-अभुक्ति या काम-कुण्ठा की विशेष रूप से। इसका परिणाम यह हुआ कि आज के हिन्दी-साहित्य में हमें अनेक असाधारण चित्तवृत्तियों विशेषतः चित्त-विकृत्तियों (चित्त-विकृति, चित्त-विक्षिप्ति, चित्त-मन्दता और असामाजिक मनोवृत्ति) तथा काम-अभुक्ति की अनेक प्रतिक्रियाओं (इच्छा पूर्ति का तीव्र प्रयास, निष्क्रियता, आक्रामक प्रवृतियों के प्रति मोह और परिस्थितियों के प्रति सहज समझौता आदि) के अनेक चित्र देखने को मिल जाते हैं।

आज लेखकों का एक बहुत बड़ा वर्ग व्यक्ति के कुण्ठाग्रस्त मन के विश्लेषण और उनके मन की रहस्यमयता के पर्दाफाश में लग गया है। इस क्षेत्र में हिन्दी-उपन्यास-साहित्य तो सबसे आगे है। ऐसे लेखकों की दृष्टि मन की पाशविक वृत्तियों के उद्घाटन तथा उन तमाम वर्जित बातों को प्रकाश में लाने की ओर रहती है जो सामाजिक दृष्टि से अहितकर तथा एकांगी है। ऐसा लेखक न तो नियमों को, न सामाजिक बन्धनों को, न सामाज की मान्यताओ एवं आदर्शो को स्वीकार करता है और न ही अपने पाठक को उनमें विश्वास करने की दृष्टि प्रदान करता है। ऐसे लेखक अश्लीलता एवं नग्नता में ही कला के दर्शन करते हैं और कुत्साओं को ही कला की संज्ञा प्रदान करते हैं। हिन्दी साहित्य के अनेक वर्तमान उपन्यासकारों ने फ्रॉयड के उक्त सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति को ही अपना ध्येय बनाकर अपनी रचनाओं में वैयक्तिक कुण्ठा के अनेक चित्र प्रस्तुत किए हैं। क्या जैनेन्द्र कुमार, क्या इलाचंद्र जोशी, क्या अज्ञेय और क्या यशपाल, कृष्णचन्दर, अश्क, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद बाजपेयी, मन्मथनाथ गुप्त, धर्मवीर भारती, फणीश्वर नाथ 'रेणु', अमृतराय, अमृतलाल नागर आदि सभी ने किसी न किसी रूप में फ्रॉयड के सिद्धान्तों की ही अभिव्यक्ति की है। जैनेन्द्र और अज्ञेय की अपेक्षा इलाचंद्र जोशी में अवश्य कुछ व्यापकत्व मिलता है और वे फ्रॉयड के काम संबंधी एकागी दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए ऐसे सत्य की चर्चा करते है जिसकी ओर युंग ने संकेत किया था। जोशी जी ने लिखा है—"उसके (फ्रॉयड) कथनानुसार हमारे स्वभाव की जितनी विकृतियाँ है, उनका कारण दमित यौन-प्रवृत्ति है और जितनी सुकृतियाँ हैं या सुसंस्कृत और समुन्नत प्रवृत्तियाँ हममें पाई जाती हैं, वे भी दमित यौन-प्रवृत्ति के उदात्तीकृत रूप हैं। गरज यह है कि मानव-जीवन को प्रगति की ओर बढ़ाने वाली अथवा विकृति की ओर पीछे घसीटने वाली मूल परिचालिका शक्ति एक ही है, और यह है यौन-प्रवृत्ति। यह कैसा एकांगी और संकीर्ण दृष्टिकोण है, विशेषज्ञों को यह बताने की आवश्यकता न होगी।" जोशी जी के इस कथन का यह अर्थ न लगाया जाय कि वे फ्रॉयडियन विचारधारा से मुक्त हैं। फ्रॉयड उनके साहित्य में हैं और खुले रूप में है। सच तो यह है कि आज का साहित्य और विशेषकर उपन्यास-साहित्य, चाहे वह किसी भी कोटि का क्यों न हो, फ्रॉयडियन काम-सिद्धान्त की अभिव्यक्ति करता है। जैनेन्द्र से लेकर आज तक साहित्य की उक्त धारा गतिमान् है।

फ्रॉयड ने काम संबंधी जिन मान्यताओं का प्रतिपादन किया और कला क्षेत्र में उन्हे आरोपित करते हुए कहा कि कला, व्यक्ति के दमित भावों के अचेतन भंडार का प्रकटीकरण है वे कला के लिए घातक सिद्ध हुए। इधर अनेक नये-नये उपन्यासकारों ने भी नग्नता को और भी वीभत्स बनाकर साहित्य पर थोपने का घृणित काय किया है आज भी कर रहे हैं

आज के ये साहित्यकार मनोविज्ञान का सहारा लेकर पाठकों के समक्ष आन्तरिक घुटन और विक्षिप्ति के जो चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं, उससे पाठकों के मन और मस्तिष्क में वासना का कीड़ा लग रहा है; साथ ही ऐसी कुंठाओं से साहित्य एवं कला को भी निर्जीव बनाया जा रहा है। हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में यह घुन तो और भी तेजी से लग रहा है जिसने चारों ओर मांसलता को ही प्रश्रय दे रखा है। अब तो साहित्य, साहित्य न रह कर पाशविक वृत्तियों का प्रकाशन मात्र बन कर रह गया है।

हम यहाँ पर इतना कह देना चाहते हैं कि फ्रॉयड ने अचेतन मन के उद्‌घाटन द्वारा साहित्य एवं कला के क्षेत्र में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है, उससे साहित्य उनका सदा आभारी रहेगा; पर अचेतन मन की उन्होंने जो कल्पना की है, वह भ्रान्तिपूर्ण है। वस्तुतः उनकी यह कल्पना रोगियों पर आधारित है। साहित्यकार या कलाकार का मन रोगियों का मन नहीं होता, वह उससे भिन्न होता है। फ्रॉयड भले ही प्रत्येक व्यक्ति के मन को रोगी का मन मानें, पर आज का बुद्धिवादी व्यक्ति इस कथन को कभी स्वीकार नहीं कर सकता। कलाकार निर्माण के क्षणों में अपनी वैयक्तिकता से पूर्णतः अलग हो जाता है। तभी तो उसकी निर्मिति व्यक्ति-निरपेक्ष बनती है। यह वैयक्तिकता जितनी कम होती है, कला उतनी ही सामाजिक होती है और समाज का प्रत्येक व्यक्ति उतना ही अधिक उसमें झाँक कर अपने को देख सकता है। फ्रॉयड की विचारधारा से तो कला पूर्णतः वैयक्तिक बन कर रह जाती है और उसमें वैयक्तिक सुख-दुख, राग-द्वेष का इतिहास मिलने लगता है जो न तो कला की प्रकृति है और न ही उसका स्वरूप ही।

कला की प्रकृति वैयक्तिक न होकर सामाजिक होती है। कलाकार अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों के द्वारा समष्टि की अभिव्यक्ति करता है। इसीलिए तो कला जीवित, प्राणवान्, आनन्ददायक है और शाश्वत भावों से अनुप्राणित होती है। हम कला में वैयक्तिक अनुभूतियो के महत्व को तो स्वीकार कर सकते हैं, पर वैयक्तिकता के प्रकटीकरण को कला की संज्ञा नही प्रदान कर सकते हैं, जैसा कि फ्रॉयड स्वीकार करता है। यह सच है कि हम अनुभूति के बिना सृजन नहीं कर सकते, अनुभूतियाँ ही सृजन की प्रेरणा प्रदान करती है, पर ये अनुभूतियाँ समष्टि के लिए उत्सर्ग हो जानी चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता है तो रचना अपने आप मे वैयक्तिक राग-द्वेषों का लेखा-जोखा बन कर रह जाती है। इसलिये कला की वैयक्तिकता दूसरो को आनन्द प्रदान नहीं कर सकती। यदि हम कहें, जैसा कि फ्रॉयड ने कहा है, कि प्रत्येक व्यक्ति का अचेतन मन काम-मूला है और कला में उसकी ही अभिव्यक्ति होती है, इसीलिए सब को आनन्द प्राप्त होता है तो इसका यह अर्थ निकलता है कि कला कुंठित वासनाओ के प्रकटीकरण के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस तथ्य को हम स्वीकार नहीं कर सकते हैं। कला का सांस्कृतिक एवं सामाजिक मूल्य होता है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। कला या साहित्य का सामाजिक जीवन से जितना अधिक घनिष्ट संबंध होगा, वह अपने आप मे उतना ही प्राणवान् होगा। वास्तव में कला सामूहिक है और अपनी अभिव्यक्ति के समय एक ऐसे व्यक्तित्व का प्रदर्शन करती है जो उसके अहं से परे उसके ही अचेतन मन की सामूहिक देन होती है इसीलिए हम किसी भी रूप में कला में वैयक्तिकता को स्वीकार नही कर सकते

है और न ही उसे सामाजिकता अथवा सामूहिकता से अलग करके देख सकते हैं। फ्रॉयड ने अपने कला सम्बन्धी सिद्धान्तों में समाज एवं संस्कृति को कोई महत्व नहीं प्रदान किया। इसी का यह परिणाम है कि उसकी दृष्टि में कला दमित भावनाओं के प्रकटीकरण का साधनमात्र बन कर रह गई। साहित्य अथवा कला, जीवन की असफलताओं की अभिव्यक्ति नहीं है, वरन् स्वस्थ मन की देन है।

जो निम्न श्रेणी का कलाएँ हैं और वस्तुत: जिन्हें कला की संज्ञा दी ही नहीं जा सकती है, उस क्षेत्र में फ्रॉयड का कला संबंधी सिद्धान्त तो स्वीकार किया जा सकता है, पर जिसे हम कला की संज्ञा से अभिहित करते हैं, वह निश्चित ही स्वस्थ मन की देन है। कला के क्षेत्र में फ्रॉयड ने जो उदात्तीकरण की बात कही है, उसे उसने सामाजिक भय का परिणाम माना है। उसके अनुसार भलाई, परोपकार अथवा नैतिकता के भाव व्यक्ति में नहीं रहते, वे समाज द्वारा लादे जाते हैं। जो भी भलाई समाज में दिखती है, वह समाज के दण्ड का भय मात्र है। यही भय कलाकार को उदात्त बना कर सद्भावों की अभिव्यक्ति कराता है। निष्कर्ष यह है कि यदि समाज का भय न हो, तो कहीं भी भलाई एवं नैतिकता न दिखे। कलाविषयक फ्रायड की यह मान्यता निश्चय ही किसी भी सुधी चिन्तक को मान्य नहीं हो सकती।

एक शिल्पी मूर्ति बनाता है, पर जब वह उसमें मानवीय संवेदना के प्राण फूंकता है, तभी उसमें जीवन आता है और वह मूर्ति प्राणवान् होती है। इसके लिए कलाकार को कला का सामाजिक मूल्यांकन करना पड़ता है और अपने व्यक्तित्व को उसी के लिए मिटा देना पड़ता है। अपने व्यक्तित्व के मिटने से कलाकार नहीं मिटता, वरन् उसका तो विकास होता है और साथ ही कला को मानवीय संवेदना मिलती है। यही समष्टि के लिए व्यष्टि का उत्सर्ग है और यही प्रत्येक कलाकार का ध्येय होता है तथा होना चाहिए। इसके अभाव में कला अन्धकार की गहरी घाटियों में भटकती रहती है जैसा कि आज के हिन्दी-साहित्य में दाख रहा है। साहित्यकार को अपनी सृजनात्मक शक्ति को सार्थक बनाना है और मानवता के विकास की लम्बी दौड़ में भाग लेना है। यह स्वीकारा जा सकता है कि कलाकार का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है और वह युग की सीमाओं में बँधकर नहीं चल सकता है; पर स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं है कि वह मानव-मूल्यों की उपेक्षा करके साहित्य को मनमाने ढंग से जिस ओर चाहे खींच ले जाए। यदि वह ऐसा करता है तो समाज के साथ-साथ सम्पूर्ण मानवता के साथ अन्याय करता है।

प्रश्न उठता है कि मनुष्य के भीतर चलने वाले यौन विषयक कार्य-व्यापारों को लेकर मानव के जो-जो चित्र हिन्दी साहित्यकारों ने दिये है, वे क्या मानव के यथार्थ चित्र हैं? यह नग्न यथार्थ है जिसे साहित्य की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता है। साहित्य का यथार्थ इससे भिन्न होता है। साहित्य का यथार्थ जीवन का यथार्थ अवश्य है, पर उसका वीभत्स चित्र नहीं है जिसे आज का साहित्यकार अपनी खुली आँखों से देख रहा है। उसमें हमारी दुर्बलताओं, विषमताओं, घुटन, तथा पाशविक वृत्तियों आदि का नग्न चित्रण नहीं होता। और जो यह स्वीकार करते हैं कि जीवन का हू-बहू फोटोग्राफ प्रस्तुत करना ही साहित्य का यथार्थ है वह एक भ्रामक कल्पना के शिकार हैं आज के अनेक नौसिखिए साहित्यकारों को

अपनी इस संकीर्ण विचारधारा का त्याग करना होगा और समाज का तथा व्यक्ति को स्वस्थ दृष्टि से देखना होगा। यह स्वस्थ दृष्टि ही जीवन की बीभत्सता को भी एक अनोखे ढंग से प्रस्तुत कर सकती है जिसके द्वारा व्यक्ति एक दिशा पा सकता है। वस्तु के आदर्शात्मक अथवा नग्न चित्रण, जीवन को प्रभावित नहीं कर सकते हैं और न व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित कर सकते हैं। इसके लिए तो सत्य को शिवत्व से मंडित करना ही होगा। तभी साहित्य का ध्येय पूरा होगा।

मैं इतना और बता देना चाहता हूँ कि कला के यथार्थ का आदर्श से कोई विरोध नहीं है; हाँ आदर्श को भले ही यथार्थ की भूमि पसंद न हो। यथार्थ, कलाकार को पहले भूमि प्रदान करता है, फिर उसे उच्च दृष्टि देता है जिससे कि वह एक स्थान पर खड़े होकर मानवीय सत्यों के प्रति अपनी आस्था प्रकट कर सके और मानव तथा समाज को उसके पूर्ण रूप में चित्रित कर सकने में सफल हो सके। यथार्थ अपने सही अर्थों में व्यक्ति को महान् से महानतर बनाता हुआ मानवता के अनेक सीढ़ियों पर चढ़ता है जिससे हमें एक शक्ति प्राप्त होती है, और साथ ही हमारी आत्मा का विकास होता है। फ्रॉयडवादियों ने मानव-मन के भीतर चलने वाली कुत्सित लीलाओं के चित्रण का ध्येय बनाकर उसे यथार्थवाद की संज्ञा प्रदान करने का जो प्रयास किया है, उसे स्वीकारा नहीं जा सकता है। यह संहारात्मक प्रवृत्ति है। यह मानव के पशुत्व की आराधना है। यह सच है कि मानव के पशुत्व से यथार्थवाद मुख नहीं मोड़ता, मानव के भीतर जो कुंठाएँ हैं, वर्जित भावनाएँ हैं, यथार्थवाद उससे दूर नहीं भागता, वह उसका चित्रण करता है, पर वह मानव की अखण्डता पर विश्वास करके ऐसा करता है। मानव के भीतर जो पशुत्व और देवत्व है, यथार्थ उसके समन्वय पर विश्वास करता हुआ स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ता है। अतः यथार्थवाद व्यक्ति को खण्ड-खण्ड रूप में देखने की प्रवृत्ति नहीं है। व्यक्ति तो एक सामाजिक प्राणी है, उसका मूल्य समाज में ही आँकना होगा। हम उसे समाज से अलग नहीं कर सकते। इसीलिए जो साहित्यकार मानव-जीवन और समाज को उसके समग्र रूप में देखता है, वही यथार्थवादी कलाकार है। आज का यथार्थवादी साहित्यकार यथार्थ के चित्रण से दूर हटकर यौनवाद से इतना अधिक प्रभावित हो गया है कि वह काम-भावना को जीवन की सभी क्रियाओं तथा व्यक्तित्व की नींव मान कर अचेतन मन की काममूलक इच्छाओं के चित्रण में लगा है। इसी धारणा का परिणाम है कि आज का लेखक यौनवाद के संकीर्ण दायरे में बद्ध है और जीवन को नई दृष्टि से देखने की उसमें शक्ति नहीं रह गई है। आज के साहित्य में सामाजिक तत्त्व धीरे-धीरे कम होता दीख रहा है। अतृप्त वासनाओं, कुंठाओं, वर्जित इच्छाओं और मानसिक ग्रन्थियों में ही लेखकों का ध्यान अटका हुआ है। समाज से दूर रह कर उनके पात्र अपने आप में ही भटक रहे हैं। इससे स्वस्थ मानव का चित्र सामने न आकर रुग्ण मानव का चित्र अधिक उभरा है। लेखक मानव के इस मन के विश्लेषण में इतना अधिक लग गया है कि एक नहीं, अनेक प्रेत-छायाएँ निर्मित होने लगी हैं। पात्र, भीषण वासना के ज्वार में पीड़ित नग्नता से खेलने लगे हैं। यथार्थ के नाम पर अश्लीलता का प्रदर्शन आज जिस तेजी से हिन्दी साहित्य में हो रहा है सचमुच यह एक चिन्तनीय बात है भोग-जन्य आनन्द के क्षण प्राय

के प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में आते हैं और प्रत्येक व्यक्ति उसे किसी न किसी रूप में महत्व देता है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि भोग (काम) को ही जीवन का लक्ष्य बनाकर मानव की चेतना को कुंठित बनाने वाली उसकी विकृतियों को ही चित्रित किया जाय। ये विकृत छायाएँ किसी सुन्दर साहित्य का निर्माण नहीं कर सकती। इससे न केवल महत्तर लक्ष्य और उच्च सांस्कृतिक जीवन की क्षति होती है, वरन् व्यक्ति का जीवन भी घोर अन्धकार मे भटकता अनेक अनैतिकताओं को प्रश्रय देने में लग जाता है। हमें रोमांस की अनेक विकृत कल्पनाएँ एवं कुंठायें और उनकी तृप्ति के प्रयत्न आकर्षक लग सकते हैं, उनमें आनन्द मिल सकता है, पर इससे जीवन को दिशा नहीं मिल सकती है। यदि हम यह कहें कि इससे पात्रों मे वैयक्तिकता जन्म लेती है तो फ्रॉयडियन विचारधारा की यह वैयक्तिकता साहित्य का श्रृंगार नहीं कर सकती। मन की अचेतन ग्रन्थियों के प्रकटीकरण मात्र से ही व्यक्ति वैयक्तिक नहीं हो सकता है, उसके लिए ऐसी अनेक रेखाओं का निर्माण करना होता है जो उसके सामाजिक महत्व को कम न करते हुए भी उसकी वैयक्तिकता की रक्षा करे। इसके अभाव में व्यक्ति मात्र केस-हिस्ट्री सा प्रतीत होता है।

फ्रॉयड के अचेतन मन का सिद्धान्त और कला संबंधी मान्यता आज अमान्य हो चुकी है, किंतु आज का हिन्दी साहित्यकार उससे चिपका है और उसकी दुहाई देता है। इसे हम स्वीकारना नहीं, वरन् उसका अन्धानुकरण कह सकते हैं। आज हिन्दी साहित्यकारों एवं आलोचकों का एक ऐसा वर्ग है जो कुछ सोचने-समझने के बजाय पूर्व बातों की ही अनुकृति मे लगा है। जब तक अन्धानुकरण की प्रवृत्ति छोड़कर अपनी बुद्धि से निर्णय करने की प्रवृत्ति के प्रति झुकाव न होगा, तब तक वस्तु का सही मूल्यांकन सम्भव नहीं हो सकता। अपने आप से न सोचने-समझने का ही परिणाम है कि आज हमारे साहित्यकार बेबुनियादी बातों का सहारा लेकर तथा महत् मूल्यों की उपेक्षा कर समाज को गुमराह कर रहे हैं।

फ्रॉयड के सिद्धान्तों का चार्ल्स युंग ने तीव्र विरोध किया है। फ्रॉयड के सिद्धान्तों की विवेचना हम पहले ही कर आये हैं, अतः उसके पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। युंग ने अचेतन मन को न तो बुरा ही कहा है और न पाशविक वृत्तियों का अक्षय भंडार ही। काम-वासना को जीवन की एक मात्र वासना स्वीकार न करते हुए युंग ने उसे जीवन की अनेक वृत्तियों में से एक स्वीकार किया है और उसे मानसिक शक्ति का एक रूप माना है। उसका कहना है कि मानव के अचेतन मन में ही नैतिक भावनाओं की भी स्थिति रहती है और वह नैतिकता समाज द्वारा थोपी गई नहीं होती। इसीलिए उनमें सार्वभौमिकता होती है। व्यक्ति स्वयं अच्छा है, इसलिए समाज में अच्छाई है। यदि वह अच्छा न होता तो फिर समाज में भलाई का प्रश्न ही नहीं उठता। व्यक्ति का आन्तरिक स्वभाव ही चेतन पर आकर नैतिकता का प्रचार करता है। स्पष्ट है कि युंग ने मानवीय सत्यों की स्थापना व्यक्ति के अचेतन मे ही स्वीकार की है। नैतिक भावनाएँ ही व्यक्ति की पाशविकता पर नियंत्रण करती हैं और उसे पाशविक होने से बचाती हैं फ्रॉयड की कल्पना ने तो मानव को पूर्ण पशु ही बनाकर उसके सामाजिक जीवन को विघटित कर दिया व्यक्ति और समाज के बीच फ्रॉयड ने जो खाई पैदा

की थी युग ने उसे पाटने का प्रयास किया और व्यक्ति को सामाजिक धरातल पर लाकर उसे एक सामाजिक प्राणी घोषित किया।

युंग ने यह भी कल्पना की कि व्यक्ति का अचेतन मन. वैयक्तिक और सामाजिक दोनो प्रकार का होता है। उसने वैयक्तिक अचेतन मन में दमित भावनाओं को स्वीकार किया है और सामाजिक अचेतन मन में उन भाव-प्रतिमाओं को जो युग-युगान्तर से स्थानान्तरित होती चली आ रही हैं और चली जायेंगी। मन का यही भाग ज्ञान, सौन्दर्य तथा नैतिकता का स्रोत है। इसमें रहने वाली भावनाएँ शाश्वत होती हैं। जब तक व्यक्ति सामाजिक अचेतन मन मे नहीं झाँकता, तभी तक उसे मन कुरूप दिखाई देता है। सामाजिक मन की प्रेरणा से ही व्यक्ति उत्तम से उत्तम काम करके यश का भागी बनता है। समाज का भय या समाज के दण्ड का भय व्यक्ति को नैतिक नहीं बनाता, वरन् अपनी ही अचेतन शक्ति नैतिक बनाती है जो उसे सामाजिक अचेतन मन से प्राप्त होती है। समाज के भय से आई नैतिकता स्थायी नही होती। भय समाप्त होते ही नैतिकता का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। सामाजिक अचेतन मन की प्रेरणा से उद्भूत नैतिकता व्यक्ति के व्यक्तित्व के एक अंग के रूप में होती है। अतः कह सकते हैं कि व्यक्ति के भीतर शुभ कार्यों के लिए जो प्रेरणा आती है और जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति अनेक शुभ एवं मंगलकारी कार्य करता है, उसे प्रेरणा प्रदान करने वाला यही सामाजिक अचेतन मन है। साहित्य में व्यक्ति को काले और श्वेत का मिश्रण कहा गया है। यह कथन युंग के उक्त कथन की सत्यता की ओर संकेत करता है। प्रत्येक व्यक्ति में ये दोनो मन—वैयक्तिक अचेतन मन अर्थात् व्यक्ति का काला रूप और सामाजिक अचेतन मन अर्थात् व्यक्ति का श्वेत रूप—अवश्य रहते हैं। हाँ, यह व्यक्ति की चेतना के ऊपर निर्भर है कि उसका कौन सा अचेतन मन प्रमुख है। बुरे से बुरे व्यक्ति के मन में भी अच्छाई की भावना और अच्छे से व्यक्ति के मन में भी बुराई की भावना अवश्य रहती है, पर जब किसी में अच्छाई की प्रधानता हो जाती है तो वह अच्छा व्यक्ति वन जाता है और बुराई की प्रधानता होती है तो बुरा। बुरा, अच्छा भी बन सकता है और अच्छा, बुरा भी। किसी उत्तेजना पर व्यक्ति अच्छा या बुरा किसी ओर भी झुक सकता है। यदि वह अच्छाई की ओर झुकता है तब तो सामाजिक हित होता ही है, पर यदि किसी कारणवश उसका झुकाव बुराई की ओर हो जाता है तो सामाजिक अचेतन मन की प्रेरणा उसे बुराई करने से रोकती है और उस समय तक रोकती है जब तक व्यक्ति का अचेतन वैयक्तिक मन सामाजिक मन की पुकार को दबोच नही लेता। यह सामाजिक अचेतन मन अपना काम फिर भी नहीं छोड़ता। वह सतत प्रयत्न से एक ऐसा क्षण उत्पन्न कर ही लेता है, जब व्यक्ति अपनी अनैतिक क्रियाओं पर पछताता है, रोता है और दुख का अनुभव करता है। यह एक अनुभवसिद्ध तथ्य है कि व्यक्ति की आन्तरिक प्रेरणा उसे अमान्य कार्यों के लिए सदा रोकती है, जो यह प्रमाण प्रस्तुत करती है कि युंग ने अचेतन मन की जो कल्पना की है वह नितान्त सत्य और अपने आप में पूर्ण भी है। यहीं पर आकर फ्रायड की अचेतन मन संबंधी कल्पना निर्मूल सिद्ध हो जाती है।

युंग ने कहा है कि वही साहित्य स्वस्थ है जो सामाजिक अचेतन मन की प्रेरणा से निर्मित होता है। इस कथन से इतना स्पष्ट है कि व्यक्ति रचना के क्षणों में वह नहीं रहता

जो सामान्य समय में रहता है। वह इससे कुछ भिन्न हो जाता है। दूसरे शब्दो मे कह सकते है कि वह सामाजिक मन की गहराइयों में खो जाता है। यहाँ पर यह भी जान लेना आवश्यक है कि अचेतन मन की दमित इच्छाओं की शक्ति नष्ट नहीं हो जाती वरन् सामाजिक मन की भाव-प्रतिमाओं को जगाने में काम आती है। इस प्रकार से कलाकार का वैयक्तिक मन सामाजिक भावों को जगाने के काम आता है। वैयक्तिक मन की प्रेरणा जितनी तीव्र होगी, सामाजिक अचेतन मन उतना ही सजग होगा। यहाँ पर कलाकार की वैयक्तिकता सामाजिकता के लिए अपना उत्सर्ग कर देती है। इसीलिए कला वैयक्तिक अनुभूतियों के धरातल पर खड़ी हो कर सामाजिक सत्य का उद्घाटन करती है।

जैसा कि प्रारम्भ में संकेत किया गया है, जहाँ फ्रॉयड ने यह माना है कि चेतन-अचेतन एक दूसरे के शत्रु हैं, इसीलिए अचेतन अपनी पाशविकता को छिपाने के लिए चेतन द्वारा नैतिक आवरण डालता है, वहाँ युंग ने चेतन-अचेतन को पूरक रूप में स्वीकार किया है। युंग के अनुसार व्यक्ति का चेतन और अचेतन मन एक-दूसरे के विपरीत तो अवश्य रहते हैं पर विरोधी नहीं। यदि चेतन अंश बहिर्मुखी होता है तो अचेतन मन अन्तर्मुखी, और यदि अचेतन मन बहिर्मुखी रहता है तो चेतन अन्तर्मुखी। जब किसी समय चेतन मन में कोई विशिष्ट क्रिया या मानसिक भावना चरम सीमा पर पहुँचती है और व्यक्ति का व्यक्तित्व विघटित होने को आ जाता है, उसी समय व्यक्ति की रक्षा करने के लिए अचेतन मन क्रियात्मक स्तर पर सन्नद्ध हो जाता है। यद्यपि इससे व्यक्ति कुछ समय के लिए एक नये रूप में सामने आकर खड़ा हो जाता है जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती, पर यह व्यक्ति का असली रूप नहीं होता। इस पूरक संबंध के कारण चेतन-अचेतन के बीच संघर्ष की स्थिति नहीं रह जाती। फ्रॉयड ने जहाँ शत्रुता देखी, युंग ने वहीं समता देखी।

हम यहाँ पर इतना और कह देना चाहेंगे कि युंग ने चेतन-अचेतन की दृष्टि से चार मानसिक क्रियाओं—चिन्तन, भावना, संवेदना और अन्तर्ज्ञान—की कल्पना की है। उसने संवेदना और अन्तर्ज्ञान को चिन्तन और भावना के पूरक रूप में रखा है। युंग की यह कल्पना उसकी अपनी एक विशेषता है जिसकी कल्पना फ्रॉयड ने नहीं की थी। अपनी इन्हीं कल्पनाओं के माध्यम से युंग ने स्वस्थ मानव की खोज की।

फ्रॉयड की आलोचना के लम्बे दौरान युंग के विचार ने व्यक्ति को एक ऐसे धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया है जहाँ व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी के रूप में सामने आता है। समाज से अलग उसका कोई महत्व नहीं है। इसीलिए इसका मनोविज्ञान जड़वादी न होकर मानव में आशा और चेतना का संचार करता है। इस प्रकार से फ्रॉयड के जड़वादी, भोगवादी, स्वार्थी और क्रूर सिद्धान्त को स्वीकार न करके युंग ने जीवन का सच्चा रूप सामने रखा है। आत्मा की चेतन सत्ता में विश्वास रखने के कारण उसका व्यक्ति और भी अधिक प्राणवान् बन गया है। आज के हिन्दी-साहित्य को ऐसे ही प्राणवान् जीवन की अपेक्षा है जिसमें वासना की नग्न लीला न होकर व्यक्ति की आत्मा का विकास हो और व्यक्ति समाज में रह कर सामाजिक मूल्यों के प्रति अपनी आस्था रखता हो।

●

'वसन्त विलास' के कतिपय शब्दों की अर्थ-विचारणा

● भँवरलाल नाहटा

जैन कवियों का फागु-काव्यों के निर्माण में बहुत बड़ा योग रहा है। जैनेतर फागु-काव्यों में सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण 'वसन्त विलास' काव्य हैं, जिसकी रचना संवत् १४०० से १५०० के बीच में हुई। गुजरात से इसकी कई महत्वपूर्ण प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। सर्वप्रथम इसकी एक सचित्र प्रति गुजरात के धुरंधर विद्वान् केशव लाल ध्रुव को एक शास्त्री की हस्तलिखित प्रतियों में बिकती हुई मिली थी। वह कपड़े पर लिखी हुई थी और उसमें अपभ्रंश शैली के सुन्दर चित्र थे। इस प्रति के आधार से उन्होंने 'शाला पत्र' के अप्रैल सन् १८९२ के अंकों में प्रथम बार इस काव्य को प्रकाशित किया। उसके बाद डेक्कन कालेज से उन्हें एक दूसरी प्रति मिली। इन दोनों प्रतियों के आधार पर पाठ-संशोधन कर मूल पाठ को टिप्पणियों सहित 'हाजी महमद स्मारक ग्रंथ' में सन् १९२३ में उन्होंने पुनः छपवाया। तीसरी बार उन्होंने 'प्राचीन गूर्जर काव्य' नामक ग्रंथ में सन् १९२७ में प्रकाशित किया। 'वसंत विलास' के चित्रों के सम्बन्ध में श्री नानालाल . चमनलाल मेहता ने सन् १९२५-२६ में प्रथम बार प्रकाश डाला। तदनन्तर अध्यापक कान्तिलाल व्यास ने सन् १९४२ में विस्तृत प्रस्तावना एवं टिप्पणियों के साथ प्रथम संस्करण प्रकाशित करवाया। उनके द्वारा सम्पादित उक्त पुस्तक का द्वितीय संस्करण सन् १९५७ में तथा परिवर्द्धित तृतीय संस्करण सन् १९५९ में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् डॉ० नारमन ब्राउन ने 'वसन्त विलास' का एक महत्त्वपूर्ण सचित्र संस्करण प्रकाशित करवाया। एक अन्य संस्करण मधुसूदन मोदी सम्पादित 'राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान' जोधपुर से सन् १९६० में प्रकाशित हुआ। उसमें लघु वाँचना व वृहद् वाँचना पाठ-भेद के साथ शब्दकोश-टिप्पणी सहित प्रकाशित हुआ। इस प्रकार विगत सत्तर वर्षों से इस काव्य के संपादन-प्रकाशन का प्रयत्न होता रहा है, पर हिन्दी विद्वानों का इसकी ओर ध्यान नहीं गया था। सर्वप्रथम डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'भारतीय साहित्य' में इसे प्रकाशित किया और अब वह स्वतन्त्र रूप से आगरा विश्वविद्यालय के 'कन्हैयालाल मुन्शी हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ' द्वारा कुछ मास पूर्व प्रकाशित हुआ है। डॉ० गुप्त ने इसके पाठ-सम्पादन के साथ-साथ हिन्दी में अर्थ लिखने का भी महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया है। साथ ही उसकी भाषा के सम्बन्ध में भी अच्छा प्रकाश डाला है इसलिए डॉ० गुप्त विशेष रूप से के योग्य हैं

'वसंत विलास' प्राचीन राजस्थानी या गुजराती भाषा का एक शृंगारिक सुन्दर काव्य है। उसमें बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जिसका हिन्दी में प्रचलन नहीं है। इसलिए उन शब्दों की परम्परा और उनके वास्तविक अर्थों को जानना हिन्दी वालों के लिए कुछ कठिन ही है। डॉ० गुप्त ने अपनी ओर से शब्दों के सही अर्थ तक पहुँचने का यथाशक्य प्रयत्न किया है, फिर भी कहीं-कहीं वे शब्दों के मूल अर्थ या भाव को नहीं पकड़ पाये हैं। इसलिये कहीं-कहीं अर्थ समझने में भ्रान्ति हो गई है और अनेक स्थलों पर उन्होंने घुमा-फिरा कर बहुत दूर का अर्थ ले लिया है। कहीं-कहीं लेखन-शैली भी भावों को पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर पाती है।

ऐसा ज्ञात होता है कि प्राध्यापक कान्तिलाल व्यास के 'वसंत विलास' का नया संस्करण और मधुसूदन मोदी का लघु-बृहद् वाँचना वाला संस्करण डॉ० गुप्त के अवलोकन में नहीं आया। श्री व्यास ने अपने नये संस्करण में गुजराती में अर्थ लिखा है एवं विस्तृत शब्दकोश भी दिया है। श्री मोदी ने भी अपने संस्करण में शब्दकोश दिया है। यदि इन दोनों संस्करणों के सब्दकोश एवं अनुवाद डॉ० गुप्त के देखने में आते तो बहुत से शब्दों का भ्रमपूर्ण अर्थ जो उन्होंने किया है, वह नहीं हो पाता। श्री व्यास ने कई वर्षों तक इस काव्य के मर्म को समझने एवं शुद्ध पाठ-निर्धारण का उल्लेखनीय प्रयत्न किया है। श्री मोदी का प्रयत्न भी सराहनीय है। हमने डॉ० गुप्त के संस्करण के कतिपय शब्दों के अर्थों पर विचार करते हुए श्री व्यास और मोदी के संस्करणों का पूरा ध्यान रखा है। डॉ० गुप्त ने ८४ पद्यों को मूल माना है। डॉ० व्यास ने भी पद्यों की संख्या तो इतनी ही मानी है, पर एक दो पद्यों में हेर-फेर है। श्री मोदी के संस्करण में लघु वाँचना में संस्कृत श्लोकों के साथ पद्यों की संख्या ११८ दी गई है जिनमें भाषा पद्य ८४ है। बृहद् वाँचना में संस्कृत श्लोको के साथ पद्य-संख्या १६६ है।

'वसंत विलास' १६वीं शताब्दी से ही जैन तथा जैनेतर राजस्थानी एवं गुजराती कवियों को प्रेरणा देता रहा है। इसके अनुकरण पर 'फागु' और 'वसंत विलास' नाम से कई काव्य परवर्ती कवियों ने बनाये हैं। जैनेतर कवि सोनीराम रचित 'बसंत विलास' प्रकाशित हो चुका है। जैन कवि हर्षरत्न रचित 'नेमजी वसंत विलास' अभी अप्रकाशित है।

नीचे हमने डॉ० गुप्त द्वारा सम्पादित 'वसन्त विलास' के कतिपय शब्दों के अर्थ पर विचार किया है। डॉ० गुप्त ने इन शब्दों का जो अर्थ किया है, मेरी दृष्टि में यह भ्रमपूर्ण है। आशा है, मेरे इस प्रयत्न से 'वसंत विलास' के कतिपय शब्दों के अर्थ और भाव को समझने में सुधी-जनों को सहायता मिलेगी।

[१] पदमिनी परिमल बहिकइं लहकइं मलय समीर।
मयणु जिहां परिपंथीअ पंथीअ धाइं अधीर ॥४॥

डॉ० गुप्त का अर्थ—"कमलिनियों के परिमल बहकने (बिखरने) लगे है, [जिनके लिए] मलय समीर लालायित हो उठे हैं; किन्तु [ऐसे लुभावने समय में अपनी प्रिया से दूर] पथिक अधीर दौड़ रहे हैं क्योंकि मदन अनग उनके लिए परिपथी बटमार) बना हुआ है'

डॉ० गुप्त ने इसमें 'लहकइं' शब्द का अर्थ 'लालायित हो उठे हैं' किया है। किन्तु परिमल के लिए मलय समीर क्या लालायित होगी ? मलय समीर, वसंती हवा या मलयगिरि की सुगंधित हवा को कहते हैं। उसमें क्या लालसा या लोलुपता होगी ? यहाँ 'लहकइं' का अर्थ वायु के चलने, लहराने से है। संस्कृत 'लसत्कृत' इसका पर्याय है और प्राकृत 'लहक्किअ' से 'लहकना' शब्द हिन्दी-राजस्थानी व गुजराती में आया है। श्री रामचन्द्र वर्मा ने 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' में 'लहकना' का अर्थ १—रह-रह कर हिलना, लहराना; २—कुछ तेजी से चलना विशेषत: वायु का, किया है। श्री कान्तिलाल व्यास ने "मन्द मन्द वायु छे", 'blow gently' और मोदी ने भी to blow अर्थ किया है।

[२] मानिनि जन मन क्षोभन शोभन वाउला वाइं।
निधुवन केलि कलामीश्र कामीश्र अंगि सुहाइं ॥५॥

यहाँ गुप्त जी ने पद्य के पहले चरण के उत्तरार्ध का अर्थ "और बावले समीरों से शोभन है" किया है और 'वाउल' का अर्थ वातूल अर्थात् वात-पीड़ित, उन्मत्त, बावला किया है। पर यहाँ 'वाउला (वात > वाअ + उल्ल [स्वार्थ तद्धित]) वाइं' (= वाति) का वाक्यार्थ 'हवा चलती है' होगा। गुप्त जी ने अर्थ परिशिष्ट के अस्वीकृत अर्थ में इसे पुनरुक्ति दोष माना है पर 'वाइं' क्रिया पद में व्यवहृत हुआ है। इसलिए पुनरुक्ति दोष का प्रश्न ही नहीं उठता।

[३] खेलन वावि सुखालीय जालीय गुखि विश्राम।
मृगमद पूरिं कपूरिहिं पूरिहिं जल अभिराम ॥८॥

यहाँ गुप्त जी ने 'सुखालीय' का अर्थ "सुक्षालित" अर्थात् भली भाँति धुली हुई किया है। परन्तु जंगल की वापियाँ भरी रहती हैं, उन्हें धोकर भरना संभव नहीं। यहाँ सुखालिय (सुख + आलिक) अर्थात् Pleasure-giving अर्थ होना चाहिए। श्री मधुसूदन मोदी ने यही अर्थ किया है। चतुर्थ पाद के 'पूरिहिं' को गुप्त जी ने 'पूरिया' माना है, पर यमकानुप्रास का जैसा प्रयोग इस काव्य के दूसरे छंदों में है, उस हिसाब से 'पूरिहिं' पाठ ठीक लगता है।

[४] रंगभूमी सजकारीअ झारीअ कुंकुम घोल।
सोवन सांकल सांधीअ बांधीअ चंपक डोलि (दोलि) ॥९॥

इस पद्य की दूसरी पंक्ति का अर्थ गुप्त जी ने इस प्रकार किया है—"सोने की सांकलें लगी हुई चंपक-दोलियाँ (चंपक पुष्पों से अलंकृत हिंडोलियाँ) बाँध दी गई हैं।" परन्तु यहाँ चम्पक वृक्ष (की डाल) पर ही हिंडोले बाँधने का आशय है, न कि चम्पक पुष्पों से अलंकृत करने का। राजस्थान के लोक-गीतों में चंपे की डाल पर हींडा मांडने का प्रचुर उल्लेख है। प्रो० कान्तिलाल व्यास ने भी "चंपक वृक्षे सुवर्णनी साँकलो जोड़ीने हिंडोला बाँध्या छे" लिखा है।

[५] तिहा विलसइ सवि कामुक जामुक हृदयचइ रंगि ।
काम जिसा अलवेसर वेस रचइं वर अंगि ॥१०॥

गुप्त जी का अर्थ—"वहाँ (उस वन में) समस्त कामुक-जन हृदय के द्विगुण [अथवा द्विगुणित] उल्लास से विलास करते हैं और [उनमें से] जो अल्प वयस् हैं, वे अंगों पर कामदेव के जैसे [सुन्दर] वेषों कीरचना करते हैं।" परन्तु यहाँ 'कामुक जामुक' का आशय कामियो के जोड़े (स्त्री-पुरुष) से है, न कि हृदय के द्विगुणित उल्लास से। व्यास और मोदी ने भी यही अर्थ किया है।

दूसरी पंक्ति में आये हुए 'अलवेसर' का अर्थ गुप्तजी ने 'अल्प वयस्' किया है। अर्थ परिशिष्ट में वे लिखते हैं—"अलवेसर <सं० अल्पवयस्, जिसमें स्वार्थिक 'र' और जुड़ा हुआ है, और इसका अर्थ होना चाहिए 'यौवन में पदार्पण करता हुआ तरुण व्यक्ति'।"

गुप्त जी ने 'अलवेसर' की जो व्युत्पत्ति लिखी है, वह इस शब्द के प्रयोगों को देखते बलकुल समीचीन नहीं है। सभी शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत से समर्थित हो जाय, यह आवश्यक नहीं। बहुत से देशज शब्द भी प्रचलित होकर घुलमिल जाते हैं। यहाँ तो 'अलवेसर' शब्द जिस प्रकार बना है, व्युत्पत्ति बिल्कुल स्पष्ट है। कई विद्वानों ने अलव + ईश्वर से इसकी व्युत्पत्ति सिद्ध की है। हमारे मत से इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—अलव>अ + लव = अखण्ड, पूर्ण; अलव + ईश्वर = अलवेसर; और इसका अर्थ 'पूर्ण ऐश्वर्यशाली' होगा। 'सर्व समर्थवान्' के लिए इस शब्द का प्रयोग प्रचुरता से पाया जाता है। ऋषभदेव, पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकर गुरुओं और कहीं-कहीं राजाओं आदि व्यक्तियों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ, यहाँ कुछ उद्धरण दिये जाते हैं :—

(१) 'जागिउ नरेसर बींतवइ अलवेसर'—पृथ्वीचन्द्र चरित्र (प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, पृ० ९६)
(२) 'सहजिइं अलवेसर'— " " " पृ० ११२
(३) 'अलवेसर दाने सर सुजाण'— (शांतिसूरि कृत सागर श्रेष्ठी रास)
(४) 'अति ताण्यउ न खमइ अलवेसर' —जिनराज सूरि गीत (समयसुंदर कृत कुसुमांजलि, पृ० ४०५)
(५) 'अलखरूप पणि तुं अलवेसर'—चोवीस जिन सवैया (" " पृ० १५)
(६) 'प्रीतम माहरा अलवेसर अरिहंतोरे'—ईश्वर जिन स्त० (जिन हर्ष ग्रंथावली, पृ० ७३)
(७) 'ऋषभ जिनेसर अलवेसर जयो'—शत्रुंजय स्त० (" " पृ० १३८)
(८) 'अंतरजामी सुण अलवेसर'— " (" " पृ० २६७)
(९) 'अलवेसर इण बात नउ मत को आणउ पाउ'—देवजस जिन गीत (जिनराजसूरि कृत कुसुमांजलि, पृ० २८)
(१०) 'ते साहिब सविसर अलवेसर अरिहंत'—वृद्धिविजय कृत ज्ञानगीता (प्राचीन फागु संग्रह, पृ० २०१)

[६] मास मुवनि तिहा विससइ वससई अलिकुल भाए १३॥

यहाँ 'आए' शब्द का अर्थ गुप्त जी ने 'गान' किया है, पर इसके लिए कोई प्रमाण नहीं दिया है। 'आए' शब्द का अर्थ 'आज्ञा' होता है और गुप्त जी ने स्वयं २० वीं गाथा "लोपइ कोइ न आए" में 'आए' का अर्थ 'आज्ञा' ही लिखा है। श्री व्यास और मोदी के संस्करणों में भी यही अर्थ लिखा है।

[७] कोइलि आंबुला डालिहिं आलिहिं करइ निनादु।
काम तणउ करि आयसु आ इसु पाड़इ सादु॥२२॥

गुप्त जी ने 'डालिहिं आलिहिं' का अर्थ 'हरी डालियों पर' किया है। व्यास एवं मोदी 'आलिहिं' का अर्थ 'सखियों को' करते हैं। गुप्त जी को इसके लिए 'मानिनियों के' कोष्टक में लिखना पड़ा है। गुप्त जी 'आयसु आ इसु' का अर्थ 'आदेश' लिखकर पुनरुक्ति दोष ले आए हैं जबकि 'आ इसु' का अर्थ 'ये ऐसा' होगा। दोनों शब्दों का अर्थ भिन्न-भिन्न ही कवि को अभीष्ट लगता है। श्री व्यास और मोदी ने भी यही अर्थ किया है।

[८] इणिपरि कोइलि कूजइ पूजइं युवति मणोर।
विधुर वियोगिनी धुजइं कूजइ मयण किसोर॥२५॥

गुप्तजी ने इस पद्य का अर्थ किया है—"इस प्रकार से [एक ओर तो] कोयल कूजन करती है, और [दूसरी ओर पतियुक्ता] युवतियाँ मनोर-पूजा करती हैं, [अतः] विधुर (प्रियाओं से वियुक्त पुरुष-जन) और वियोगिनी-जन काँपने लगते हैं [जब] किशोर मदन [उनके मनों में] कूजन करने लगता है।"

यहाँ गुप्त जी ने 'पूजइं युवति मणोर' का अर्थ 'युवतियाँ मनोर-पूजा करती हैं' लिखा है। उन्होंने 'मनोरा पूजा' और 'मनोरा झूमक' के उदाहरण देकर अपने अर्थ को प्रमाणित करने की चेष्टा की है और लिखा है कि 'मनोरथ' शब्द भाषा-विज्ञान के किसी नियम के अनुसार नहीं बन सकता। पर 'मनोरथ' का प्राकृत 'मणोरह' है और कविता में 'ह' का लोप होकर 'मणोर' रह गया है। 'पूजइं' शब्द का संस्कृत रूप 'पूर्यंते' है। अतः अर्थ होगा—'युवतियों के मनोरथ पूर्ण होते हैं।' एक ओर कोयल कूजती है और दूसरी ओर युवतियाँ मनोरा पूजा करती हैं का क्या संबंध हुआ? 'मनोरा' क्या है? गुजरात और राजस्थान मे मनोरा-पूजा को कोई नहीं जानता। 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' में 'मनोहर' शब्द 'मनोर' से बना हुआ माना गया है। पर यह अर्थ यहाँ संगत नहीं लगता।

'पूजइ' शब्द 'पूर्यंते' के लिए प्राचीन साहित्य में पर्याप्त प्रयुक्त हुआ है। जैसे—
"तूं थसाइं सवि कुतिग पूजइं।१।"— शालिसूरि कृत विराट पर्व सं० १४७८ पूर्व
"जब परिजन परिपालन आस न पूजइं आम"—जयशेखर सूरि कृत नेमिनाथ फाग
सं० १४६० प्राय

"कर इग्यारइ पूजइ जिहां। भीमराइ साती छइ तिहां।" —विद्याविलास पवाड़ा

"पूजइ मन चींतवो आस" —पृथ्वीचंद्र चरित्र, पृ० ९३

"दीधा कूड़ कलंक, पोतानइ स्वारथ अगपूजतइ—जिनराजसूरि कृत कुसुमांजलि, पृ०२९

श्री व्यास और मोदी ने भी 'पूजइ' का अर्थ 'पूर्यंते' किया है। श्री व्यास ने 'मनोर' का अर्थ 'मनोरथ' किया है और आगे 'पूजइ' शब्द आता है, इससे यही अर्थ युक्तिसंगत है।

[९] आंबुलइ मांजरि लागीय, जागीय मधुकर माल।
मूंकइ मारु कि विरहिअ हीअइस धूम वराल ॥३१॥

इस पद्य की दूसरी पंक्ति के 'मारु' शब्द का अर्थ (मार = मारने वाला, सैनिक जिसका कार्य युद्ध में शत्रु को मारना और विनष्ट करना होता है) 'योद्धा' करके गुप्त जी ने लिखा है—"ऐसा तो नहीं है कि [कामदेव द्वारा] कोई विरही (जैसे युद्ध में आहत कोई) योद्धा निश्वास मुक्त कर (निकाल) रहा हो और यह [उसके] हृदय पर [छाया हुआ] वही निश्वास धूम हो ?" परन्तु संस्कृत में 'मार' का अर्थ कामदेव प्रसिद्ध है। गुप्त जी ने स्वयं २९वें पद्य में 'मार मारग उद्दीपक' का अर्थ 'कामदेव के मार्ग को उद्दीप्त करने वाली' किया है। व्यास एवं मोदी ने भी यही अर्थ किया है। उन्हीं के अनुसार 'धूम वराल' का अर्थ 'अग्न्यास्त्र' करने से इसका अर्थ होगा—'मानो कामदेव विरही जनों के हृदय में अग्न्यास्त्र फेंक रहा हो।'

[१०] विरह करालीअ बालीअ फालीअ चोलीय चंग।
विषय गिणइ तृण तोलइ बोलइ ते बहु भंगि ॥३६॥

डॉ० गुप्त का अर्थ है—"[ऐसे समय में] विरह से उत्पीड़िता [एक] बालिका (बाला) ने अपनी सुन्दर चोली फाड़ डाली है, वह विषयों को तृण के बराबर गिन रही है और जो [वचन] वह बोल रही है, वे बहुतेरे प्रकार के हैं (वह बकझक कर रही है)।" गुप्त जी ने उपर्युक्त अर्थ में 'फालीअ' शब्द का अर्थ फालू अर्थात् फाड़ना करके 'सुंदर चोली फाड़ डाली है' किया है। पर 'फालीअ' का अर्थ 'साड़ी' होता है। इसके लिए प्राचीन साहित्य के निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

(१) "पहिरण गजबड़ फालड़ी ए ओढणी नवरंग घाटड़ी ए"—विद्याविलास पवाड़उ

(२) "करयले कंकण मणि झमकारु जादर फालीअ पहिरण ए"—पांडवचरित रास

(३) "फालीअ चोलीअ सवि सिणगार"—विमल प्रबन्ध

ऐसी स्थिति में इस पद्य का अर्थ होगा—'विरह से त्रस्त बाला सुंदर साड़ी और चोली (जैसे वस्त्राभूषण व शृंगार प्रसाधनादि) विषयों को तृणवत् गिनती हुई अनेक प्रकार से प्रलाप करती है व्यास और मोदी दोनों ने फालीअ' का अर्थ साड़ी ही किया है

[११] रहि रहि तोरीअ ओदलि कोइलि स्यउ बहु वास।
नाहलउ अजीअ न आवइ भावइ मू न विलास ॥३७

डॉ० गुप्त ने अर्थ किया है—"[वह कहती है] ऐ कोकिला, तू [काम से] उत्तेजित स्त्री है और बहुतेरों के साथ बसेरा लेनेवाली है; तू ठहर (चुप रह), ठहर (चुप रह); [मेरा] स्वामी आज भी नहीं आ रहा है, इसलिए मुझे विलास नहीं भा (भला लग) रहा है।"

गुप्त जी का उपर्युक्त अर्थ 'वास' का सही अर्थ नहीं करने से गड़बड़ हुआ है। 'वास' (सं० वाश्) का अर्थ पक्षियों का बोलना, कलरव करना होता है। प्राचीन साहित्य में आये हुए निम्नलिखित प्रयोग देखिये—

(१) 'मोर मधुर वासंति' —समधर कृत 'नेमिनाथ फाग'
(२) 'कोयल मधुर सुवासइ' —जयसिंह सूरिकृत 'नेमिनाथ फाग'
(३) 'पंजर मंजरि अंब लंबि कोयल वासंते' —भरतेश्वर चक्रवर्त्ति फाग
(४) 'कोइलि वासइ अकालतु' —कामीजन विश्राम फाग
(५) 'मधुर म वासिसि मोर' —नेमिनाथ फाग
(६) 'रे कूकड़ा वासि म इणि रातिइ' —विरह देसाउरि फाग

तब प्रथम पंक्ति का अर्थ होगा—'हे कोयल ! देख लिया तेरा ! रहने दे ! रहने दे ! अधिक कलरव क्यों करती है ?' डॉ० भोगीलाल सांडेसरा, व्यास और मोदी तीनों ने 'वास' शब्द का यही अर्थ किया है।

[१२] उर वरि हार ति भार मू सयरि सिंगार अंगार।
चींतु हरइ नवि चंदन चंदु नही मुझ सारु ॥३८॥

इस पद्य की दूसरी पंक्ति का अर्थ गुप्त जी ने इस प्रकार किया है—"न चंदन मेरी चिंताओं को हरण कर रहा है और न चंद्र को मेरी कोई सार (कुशल चिंता) है।" यहाँ 'सारु' का अर्थ 'सार' (कुशल चिंता) किया गया है। चंद्र किसकी सार-संभाल करेगा या कुशल-चिन्ता करेगा ? इस 'सारु' शब्द का अर्थ होता है अच्छा, मनोहर या सुन्दर। अब भी बोलचाल की गुजराती में इसका प्रयोग प्रचुरता से होता है। मोदी के संस्करण में तो पाठ ही 'चंद नहीं मनोहार' है। व्यास और मोदी ने भी 'सारु' का अर्थ अच्छा व सुंदर किया है।

[१३] हल सखि दुखु (दुक्खु) दुनीठउ डीठउ गमइ न चीरु।
भोजनु आजु उवीठउ मीठउ स्वदइ न नीरु ॥३९॥

गुप्त जी का अर्थ—"हे सखी, मेरा दुःख दुर्निष्ठित (कठिनाई से जाने वाला) है, [अतः] चीर मेरी दृष्टि में भी नहीं जा (आ) रहा है।" गुप्त जी ने प्रथम पंक्ति के इस अर्थ में 'डीठउ गमइ' का जो अर्थ किया है, वह सही नहीं है। उन्होंने 'डीठि' का अर्थ 'दृष्टि' लिखा है, पर यहाँ 'डीठ्ठ' या 'दीठउ' शब्द प्रयोग है जिसका अर्थ होगा देखा हुआ' आज भी

राजस्थानी और गुजराती में अहर्निशि 'दीठउ' इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'गमइ' का अर्थ भी संस्कृत 'गम्यते' और प्राकृत 'गम्मइ' से (सिद्ध हेमचंद्र ८-४-२४६) समर्थित है। यहाँ 'सुहाना' अर्थ उपयुक्त है जो गुजराती में आज भी 'गमतां या गमतो' रूप में प्रयुक्त मिलता है। अतः इसका अर्थ होगा—'चीर देखा (ही) नहीं सुहाता'। श्री मोदी और व्यास ने भी यही अर्थ किया है।

[१४] सखि मुझ फुरकइ जांघडी तां घड़ी बिहुं लगइ आजु।
दूख सवे हिव वामिसु पामिसु प्रिय तणूं राजु ॥४४॥

गुप्त जी ने अर्थ इस प्रकार किया है—"हे सखी, मेरी [एक] जाँघ फड़क रही है, [इस कारण] आज दो ही घड़ियाँ लगेंगी; अब मैं अपने समस्त दुःख नमित करूँगी, और [अपने] प्रिय का राज्य [पुनः] प्राप्त करूँगी।" गुप्त जी के इस अर्थ में प्रथम पंक्ति का अर्थ ठीक नहीं लगता। 'तां घड़ी बिहुं लगइ' में 'लगइ' का अर्थ 'लगेगी' नहीं, पर गुजराती 'लगी' (up to) होगा। 'तां' का प्रयोग भी इसी अर्थ को समर्थित करता है। 'तां' का अर्थ गुप्त जी ने 'तहिं' (?) लिखा है। यहाँ तां > ताव (ताम्र) प्राकृत > तावत् (संस्कृत) होगा जिसे गुजराती मे 'त्यां सूधी' कहते हैं। तब इसका अर्थ इस प्रकार होगा—'हे सखि! आज दो घंटे से [लगा कर] मेरी जाँघ फड़क रही है'।

दूसरी पंक्ति में 'वामिसु' को गुप्तजी ने 'वानिसु' कर दिया है और उसकी व्युत्पत्ति "वान् < प्रा० वाण् < सं० वि + नम् (?) = विशेष रूप से नमित होना" लिखा है। पर वामिसु > वामयिष्यामि = दूर करूँगी अर्थ होगा। "[अपने] प्रिय का राज्य (पुनः) प्राप्त करूँगी" भी सार्थक नहीं है। यहाँ प्रिय-मिलन से प्राप्त होने वाले सुख की राज्य-सुख से तुलना की गई है। यह अर्थ व्यास और मोदी दोनों द्वारा समर्थित है।

[१५] धनु धनु वायस तुव सकहुं सरबसु तुय देसु।
भोजनि कूरु करंबुलउ आंबुलउ ज रिहुं लहेसु ॥ ४६ ॥

इसकी दूसरी पंक्ति का अर्थ गुप्त जी इस प्रकार करते हैं—"मैं तुझे भोजन में उबले चावल, करांबुले तथा आंबुले (आम) दूँगी, यदि मैं [अपने पति को] पाऊँगी।" उन्होंने 'करांबुलउ' को फल विशेष माना है, पर व्यास और मोदी ने 'दही-भात' किया है, जो कौवे का प्रिय भोजन है। राजस्थान में अब भी उसे 'करंबा' कहते हैं, जो दही में भात एवं खिचड़ी डालकर बनाया जाता है। 'कूर' बाजरी आदि को सेक कर बनाया जाता है। 'आंबुलउ' का अर्थ व्यास ने 'प्रियतम या स्वामी' किया है जो उपयुक्त और प्राचीन साहित्य से समर्थित है। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। गुप्तजी ने 'आंबुले' का आम अर्थ किया है तो उन्हें पति के लिए 'अपने पति को' कोष्टक में लिखकर अध्याहार करना पड़ा है। श्री व्यास और मोदी ने भी यही अर्थ किया है।

[१६] हरिस हरावइ कोतीअ मोतीअमा सिरि जाल।
रंग निरमसु अधर रे अधर किया परवाल । ६२

गुप्त जी का अर्थ— उनके सिर की जालियों के मोतियों की ज्योति ऐसी है जो हरिणों के [उनके देखते रहने पर] थका दे, और उनके अधरों का रंग ऐसा अनुपम है [कि यह संदेह होने लगता है] कि ये अधर हैं किंवा प्रवाल हैं।"

गुप्त जी ने उपर्युक्त अर्थ में सिर की जालियों के मोतियों की ज्योति को देखते रहने पर हरिणों के थकाने की विचित्र कल्पना की है। नेत्रों से नेत्रों की स्पर्द्धा होती है। स्त्रियों के विशाल नेत्रों की उपमा हरिण के नेत्रों से देने के उदाहरण साहित्य में हजारों मिलते है। इसीलिये स्त्रियों को मृगनयनी या हरिणाक्षी कहा गया है। गुप्त जी ने 'जोतीअ' का अर्थ ज्योति किया है, पर अर्थ होगा 'जोनेवाली' (= देखनेवाली = आँखें)। श्री आनंदघन जी महाराज ने 'जिण जोणी तुमने जोऊँ रे ते जोणी जुओराज' लिख कर ('नेमिनाथ स्तवन' में) 'जोणी' का प्रयोग आँखों या दृष्टि के अर्थ में किया है। 'जोतीअ' और 'जोणी' एक ही शब्द के पर्याय है।

[१७] उन्नत कुच किरि हिमगिरि शिखरि ते मध (मध्य) बईठ।
हार नीझरण प्रवाह रे नाहु महं झीलतु दीठ ॥६२॥

इसकी दूसरी पंक्ति का अर्थ गुप्तजी ने यों किया है—"उनके हार निर्झरों के प्रवाह हैं, जिन्हें मैंने उनके स्वामियों को (हाथों पर) झेलते (लेते) हुए देखा है।" इसमें 'झीलतु' का अर्थ 'हाथ में झेलना' नही, अपितु निर्झर-प्रवाह में झीलना अर्थात् नहाना होता है। Etymological Gujarati-English Dictionary में 'झिलवु' का अर्थ Sport in water और to Bath देकर "जुमना जी जल झिलवु साहेली रे" उदाहरण लिखा है। राजस्थान और गुजरात में अब भी यह शब्द प्रसिद्ध है। तब इस अर्द्धाली का अर्थ होगा—"हार रूपी निर्झर-प्रवाह (-की कान्ति) में स्वामी (के हाथों) को मैंने झीलते (खेलते या नहाते) हुए देखा।"

[१८] अलविहिं लोचन मींचइं हींचइं दोलिंहि एकि। (६८)

इस अर्द्धाली का गुप्त जी द्वारा किया गया अर्थ—"कोई आलाप लेते हुए अपनी आँखो को मींच रही हैं, कोई झूले को खींच रही (दोलायमान कर रही) है।" उन्होंने 'अलवि' की व्युत्पत्ति "अलव् <सं० आलप् = आलाप लेना" लिखा है, पर 'अलवि' शब्द का अर्थ 'सहज या लीला मात्र' होता है। इस शब्द का प्रयोग मध्यकालीन साहित्य में प्रचुरता से हुआ है। गुप्त जी ने 'अलवेसर' शब्द की व्युत्पत्ति लिखते हुए 'अल्प' और यहाँ 'आलाप लेना' लिखा है। दोनों ही अर्थ गलत हैं। यह देशज शब्द है और इसका प्रयोग सोलहवीं-सतरहवीं शताब्दी मे प्रचुरता से पाया जाता है। सतरहवीं शती के प्रकाण्ड विद्वान् जिनराज सूरि ने अपनी कृतियों में इस शब्द का अनेकशः उपयोग किया है। जिनराज सूरि कृत 'कुसुमांजली' से यहाँ पृष्ठाङ्क सहित कतिपय अवतरण दिये जाते हैं :—

(१) रूपइ रूड़े फूलड़े अलवि न ऊड़ी जाय रे —आदिनाथ स्तवन, पृ० १
(२) अलवि न पाछउ पिण उत्तर लिखइ रे —पद्मप्रभ स्तवन, पृ० ४
(३) पाच छतइ कुण काच नइ जी अलवि पसारइ हाथ —विमलजिन स्तवन, पृ० ६
(४) सकल मनोरथ तेहना प्रभु अलवि प्रमाण चढ़ावइ रे अमीझरा स्तवन, पृ० २०

(५) जोहो ऋद्धि अवर पाछलि थई ढोजी अलवि न निरखी आप सनत्कुमार गीत, पृ० ७४

(६) अलवि मोह मींट न मेलतो जे जोतो अनिमेष —धन्ना शालिभद्र रास, पृ० १३५

(७) अलवि अलीक न उच्चरइ अतिशयवंत मंहत —गजसुकमाल रास, पृ० १७२

(८) दुरगतिभय लवलेस अलवि न आणतउ रे ,, ,, , पृ० १९२

सोलहवीं शती के सुप्रसिद्ध कवि लावण्यसमय कृत 'विमल प्रबन्ध' में निम्नलिखित प्रयोग द्रष्टव्य है :—

'अलवि बइठा बोलइ मर्म । धोइ पातिक करइ विकर्म ॥ (खण्ड ३।२९)

गुप्त जी ने 'हींचइ' का अर्थ 'खींचती है' किया है, परन्तु हींडोले (दोल) पर बैठ कर स्वयं आन्दोलित होने की क्रिया को 'हींचना' कहते हैं। प्राचीन 'गुजराती गद्य सन्दर्भ' के पृ० ६४ में 'हींडोले हींचिया' द्रष्टव्य है। तब इसका अर्थ होगा—'कोई हींडोले पर हींचती (झूलती) हुई लीला मात्र से (सहज) आँखें मूँदती हैं।' (क्योंकि जब हींडोला आसमान में जाता है तो झिझक या मस्ती में आँखें सहज ही मुँद जाती हैं।)

[१९] एकि दिइं सहि लालीय तालीय छंदिहिं रास। (६९)

गुप्त जी ने इसका अर्थ किया है—"कोई लालित्य के साथ रास-छंदों में तालियाँ (हथेलियाँ) [बजाकर ताल] दे रही हैं।" पर अर्थ होगा—'कोई लालित्यपूर्ण तालबद्ध छंदो द्वारा रास दे (खेल) रही है।'

[२०] मुरकलइं मुखु मचकोड़इं मोडइं ललवल अंग।
वानि सोव्रन वलोड़इं लोडइं मधुवन रंगु ॥७०॥

गुप्त जी ने अपने अर्थ में 'मुरकलइं' शब्द का अर्थ 'मुकुर-कला' [प्रतिबिंब देखते हुए] लिखा है, पर इसका अर्थ 'मंद स्मित' होगा। राजस्थानी और गुजराती में अब मळकना या मुळकना कहते हैं। प्रा० मुरइ = (हासेन स्फुटति) + क + ल (स्वार्थिक प्रत्यय) से यह रूप बना है। निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत शब्द के विषय में द्रष्टव्य हैं :—

(१) 'वर मुरकलड़इ मुख जोअइ'—जनार्दन कृत उषाहरण, प्रा० गु० काव्य, पृ० ८९

(२) 'मुरकलइ हसति हिव हेलवइ' —शृंगार शत, पृ० २२१

पद्य के चतुर्थ चरण 'लोडइ मधुवन रंगु' के स्थान पर व्यास और मोदी के संस्करण में 'लोडइ नितु नव रंग' पाठ है। गुप्त जी ने इसे अस्वीकृत कर परिशिष्ट में दिया है। 'लोड' का अर्थ गुप्त जी ने 'लोल बनाना' किया है, परन्तु 'लोड' का अर्थ 'आलोडित करना' या 'मथना' होगा। तदनुसार इसका अर्थ होगा—'हमेशा नये-नये विलास से (प्रिय का मन) मथित कर देती है।'

'मुरकलइ' का अर्थ श्री व्यास ने मद स्मित' किया है और 'लोडइ का 'मधी नांखे छे' किया है।

[२१] कटक संकटि एवड्ड केवड़इ पइसिय भृङ्ग।
छइल पणइ गुण माणइ जाणइ परिमल रंगु ॥७२॥

गुप्त जी का अर्थ—"कंटकों के इस प्रकार के संकट में [से गुजर कर], ऐ भृंग (भ्रमर), तू ने केवड़े [की झाड़] में जो प्रवेश किया है, तो [अब] तू इस छैलपने में गुण मान कि [जिसके कारण] तू उसके परिमल का रंग (उल्लास-सुख) जान रहा है।"

गुप्त जी ने उपर्युक्त अर्थ में 'माणइ' का अर्थ 'मान' किया है। 'माणइ' का अर्थ 'भोगता है' होगा। 'माणना' भोगने के अर्थ में राजस्थानी में अति प्रचलित है। इस पद्य का अर्थ होगा—'ऐसे कांटों के संकट वाले केवड़े में प्रविष्ट होकर भ्रमर रसिकतापूर्वक उसके गुण (रस) को भोगता (आस्वादन करता) है, (क्योंकि वह उसके) परिमल की बहार को जानता है।'

[२२] पाडल कली छइ अति कूंवली तूं अलीअल म धंधोलि।
तूं गुण बोधु ति साचउ काचउ महीय म विरोलि ॥७३॥

इसका अर्थ गुप्त जी ने यों किया है—"ऐ भ्रमर, पाटल-कलिका अति कोमलाङ्गी है, उसको तू मत झकझोर; तू तो सच्चा गुण-वेदी है, कच्चे को मथकर तू न विलोड़ !"

उन्होंने 'महीय' का अर्थ मंथन करना और 'विरोलि' का अर्थ मक्खन अलग करना लिखा है। विरोलना या मंथन करना एक ही अर्थवाची क्रिया है। विरोल>विलोड्य (सं०)—सद्ध हेम० ८-४-१२१; मही, दही के अर्थ में प्रचलित है।

इस पद्य के उत्तरार्द्ध का अर्थ इस प्रकार होगा—'यह सत्य है कि तू उसके गुणो से विद्ध हो गया है। पर कच्चे दही का मंथन मत करो।'

श्री व्यास और मोदी ने 'मही' शब्द का अर्थ दही किया है और 'विरोलि' का अर्थ भी 'विलोड्य' किया है और आज भी गुजराती और राजस्थानी 'विलोववुं–विलोवणा' कहते हैं।

[२३] छाजइ नेह परायणु जाणु भलउ सखि भृंगु।
अलग थकउ गुण विमणए दमणए लिइ रस रंग ॥७५॥

इस पद्य के उत्तरार्द्ध का अर्थ गुप्त जी ने इस प्रकार किया है—"अलग स्थित [होकर] वह गुणों से विमन है और रस रंग लेकर वह दमन कर रहा है।"

यहाँ गुप्त जी ने 'दमणए' का अर्थ 'दमन कर रहा है' लिखा है, पर यह अर्थ असंगत है। यहाँ पुष्पों का प्रसंग चल रहा है। अतः कवि का आशय 'दमणक' पुष्प से है। 'विमणए' का पाठान्तर 'नमणए' भी है, जो उसका विशेषण है। 'विमणए' का अर्थ 'दुगुना' भी होता है अतः यहाँ अर्थ इस प्रकार होगा—'अलग स्थित होने (रहने) पर वह दमनक (पुष्प) का द्विगुणित रस-रंग लेता है।' श्री व्यास और मोदी ने भी 'दमणए' का अर्थ दमणक पुष्प ही लिखा है।

[२४] वालइ विलसिवा विवरु न भमर निहालइ मागु।
आवरिया इखि निम गुस नीगुस स्यउ तूम मागु ।७६

गुप्त जी का अर्थ—"ऐ भ्रमर, तू इस बालक का विलास-सुख प्राप्त कर और [इससे], जो तेरा मार्ग निहार रही है, लौट कर न जा। इसके द्वारा तो अपने गुणों का आचरण किया गया है और तेरा लगाव गुणहीनाओं से है।"

गुप्त जी ने 'विलसिवा' को 'विलसि वा' करके उसका अर्थ 'विलास सुख प्राप्त कर, कर दिया है एवं 'विवरु' का अर्थ (वि + वल् = मुड़ पड़ना) 'लौट पड़ना' किया है तथा इसके प्रयोग का कोई उदाहरण भी नहीं दिया है। 'विवर' का अर्थ 'छिद्र' स्पष्ट है। 'आचरिया' का सही पाठ व्यास और मोदी ने 'आवरिया' ही स्वीकार किया है जो दोनों प्रतियों में है। अतः इसका सही अर्थ इस प्रकार होगा—"वालइ (वृक्ष) में विलास करने (रस लेने) के लिए विवर (छिद्र या प्रवेश-द्वार) नहीं है और भ्रमर मार्ग देखता (खोजता) है। इसने अपने गुणों को (पराग-केसर) छिपा (ढँक) रखा है, अतः निर्गुण से तुम्हारा लगाव कैसा? श्री व्यास और मोदी द्वारा भी यही अर्थ समर्थित है।

[२५] सखि अलि चरणि न चांपइ चांपइ लेइ न गंध।
रूड़इ दोहगु लागइ आगइ इसउ निबंधु ॥७८॥

गुप्त जी ने इसके उत्तरार्द्ध का अर्थ किया है—"इसे भली भाँति से यह दौर्भाग्य लगे यह निबंध (विधान) [आज का नहीं], आगे (पहले के दिनों) का ही है।" यहाँ 'रूड़इ' का अर्थ 'भली भाँति से' नहीं, 'भले को' (अच्छे को, सुन्दर को) होगा। अतः इसका अर्थ होगा—'भले-सुन्दर को भी दोहाग लगता है, यह आगे का निबंध (पुरानी चाल) है।'

[२६] नितु नितु चरीअ नइ मरुअओ गरूउओ गंध कुरंगि।
भमक भमी भमी रीणओ लीणओ तस रस रंगि ॥७९॥

गुप्त जी का अर्थ—"[हे सखी] मरुवक नित्य-नित्य ही [नव] चरित [लीला-कलाप] की है, यद्यपि कुरंग के साथ उसमें गुरु अपगंध है; भ्रमर ने [इसी कारण उसके लिए] चक्कर लगाते-लगाते अपने [शरीर] को क्षीण कर दिया, किन्तु उसी प्रकार उसने उल्लास के साथ उसका रस [भी] लिया।"

गुप्त जी ने उपर्युक्त अर्थ में 'मरुवक नित्य-नित्य ही [नव] चरित [लीला कलाप] की है' लिखा है। मरुवक में क्या लीला-कलाप हो सकता है? 'चरीअ' का अर्थ होगा 'चरित' [रस-चर्या द्वारा]। अतः इसका अर्थ इस प्रकार समीचीन लगता है—'कड़ी गंध और कुरंग वाला मरुवक [रस-चर्या द्वारा] नित्य-नित्य चरित होने के कारण उसके रस-रंग में लवलीन भ्रमर [उसकी शोध में] भ्रमण करता हुआ दुःखी होता है।'

[२७] भमर भमंतउ गुणकर अगरु ज कोरीउ कोइ।
अज वि रे तीणइ वरांसइ वांस विणासइ सोइ ॥८०॥

गुप्त जी—"[हे सखी,] भ्रमर भी कैसा गुणकर है कि चक्कर लगाते हुए उसने किसी अगुरु में छिद्र [कर उसके रस का पान] किया, तो आज भी वह उसी प्रेम के कारण [और उसी मधुर रस की खोज में] बाँस [में छिद्र करके उस] का विनाश करता रहता है"

गुप्त जी ने उपर्युक्त अर्थ में 'गुणकर' विशेषण जो अगरू के लिये हैं, उसे भ्रमर के लिये लगा दिया है। जो अगरू के भ्रम से बाँस को छेद देता है, वह क्या गुणकर हो सकता है? 'बरांसइ' का अर्थ गुप्त जी ने 'प्रेमी' किया है, यह भी ठीक नहीं है। 'बरांसइ' का अर्थ 'भ्रान्ति से या भूल से' होगा। वरांसउ = विपर्यास (उक्ति रत्नाकर, पृ० ६८)। 'प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भगत सुदर्शन श्रेष्ठी कथा में 'भ्रान्ति' के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

इसका सही अर्थ इस प्रकार है—'भ्रमर ने चक्कर लगाते हुए किसी गुणकर (गुण करने वाला) अगरु के वृक्ष में छिद्र [कर उसका रसपान] किया तो आज भी वह उसी [अगरु की] भ्रान्ति से बाँस का (छेद करके) विनाश करता है।'

[२८] पूरब प्रेम सुहातीअ जातीअ गई म चींति।
विहसीअ नव नोमालीअ बालीअ मंडि न प्रीति ॥८१॥

गुप्त जी द्वारा किया हुआ अर्थ—"हे भ्रमर, पूर्व की प्रेम से सुहाती जाही को गई (गत यौवना) न समझ, [और उस] नव-नवमल्लिका से जो विकसित हो उठी है किन्तु बालिका है, तू प्रीति न कर।"

गुप्तजी ने यहाँ 'गई म चींति' का अर्थ 'गतयौवना न समझ' किया है। पर अर्थ होगा—'वह तो सर्वथा गई (पुष्प के अर्थ में मौसम शेष होने से व नायिका के रूपक अर्थ में अवसान हो जाने से) (उसकी अब) चिंता मत कर, नवमल्लिका नव विकसित हो गई है' उस बाल-लता के साथ प्रीति निर्माण करो!'

भ्रमर, यदि नव विकसित पुष्पों का रस नहीं लेगा तो किसका लेगा? गुप्त जी ने 'मंडि न प्रीति' का अर्थ 'तू प्रीति न कर' किया है, उसमें 'न' नकारात्मक न होकर प्रेरणात्मक है—'प्रीति निर्माण करो न!'

(२९) इक थुड़ि करुणी नइ बेउल बेउ लता नवि भेउ।
भमर विचालि किसा गर पामर विलसि न बेउ ॥८२॥

गुप्त जी का अर्थ—"एक ही वृक्ष-स्कंध पर करणी तथा बेले की लताएँ हैं और दोनों लताओं में कोई भेद नहीं है; फिर भी ऐ भ्रमर, तू विचालि में (दोनों के बीच) कैसे [कार्य] कर रहा है? ऐ पामर, तू दोनों का विलास-लाभ [एक साथ!] मत कर।"

इस पद्य के अर्थ में भी गुप्त जी ने प्रेरणात्मक 'न' को नकारात्मक लिया है। जब दोनों लताओं में कोई भेद नहीं है तो कवि का यह आशय है कि 'मूर्ख! दुविधा न पड़ कर दोनों से विलास करो न!'

'बिहारी सतसई' में अर्थ-परिवर्तन

● रामकुमारी मिश्र

'बिहारी सतसई' ब्रजभाषा का बहुप्रसिद्ध मुक्तक काव्य-ग्रंथ है जिसकी रचना १८वीं शती के प्रारम्भ में हुई। इस ग्रन्थ की अनेक टीकाएँ भी उपलब्ध हैं जिनमें न केवल 'सतसई' के काव्यसौष्ठव (अलंकार, ध्वनि आदि) पर विचार किया गया है, वरन् फ़ारसी, अरबी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के आगत शब्दों का विवेचन भी है। किन्तु यह विवेचन अर्थ-परिवर्तन के उस पक्ष की पूर्ति नहीं करता जो आधुनिक भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत आता है।

प्रस्तुत निबंध में अर्थ-परिवर्तन पर विचार करने के लिये प्रथमतः शब्दों की व्युत्पत्ति, फिर विभिन्न आर्यभाषाकालों में उनके अर्थ, 'बिहारी सतसई' में प्रयुक्त स्थलों पर उनके अर्थ, (संख्याओं द्वारा दोहा संख्या, चरण संख्या अंकित है। ये संख्यायें लेखिका द्वारा प्रस्तुत डी०फिल्० के प्रबंध के प्रामाणिक पाठ की है।) फिर आधुनिक हिन्दी अर्थों का उल्लेख करते हुए अर्थ-परिवर्तन के तत्वों का निर्देश किया गया है।

विभिन्न आर्यभाषा कालों से हमारा तात्पर्य प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल (संस्कृत), मध्य भारतीय आर्यभाषा काल (पालि, प्राकृत) तथा आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल (हिन्दी, बंगला, ओड़िया, नेपाली, गुजराती आदि) से है। फलतः हम इन कालों को कोष्ठक में दी गई प्रमुख भाषाओं के द्वारा एवं उनमें प्राप्त शब्दार्थों के द्वारा ही संक्षेप में प्रकट करेंगे। विभिन्न आर्यभाषा कालों को संक्षिप्त रूप में कहीं-कहीं प्रा० भा० आ०, म० भा० आ० तथा आ० भा० आ० द्वारा अंकित किया गया है।

अर्थों के लिये जिन कोशों की सहायता ली गई है, वे हैं—मोनियर विलियम कृत 'संस्कृत कोश', सेठ कृत 'पाइअ सद्द महाण्णवो', चाइल्डर्स तथा रीज डेविड कृत 'पालि कोश' स्टाइनगास कृत 'फ़ारसीकोश', गोपालचन्द्र प्रहराज कृत 'ओड़िया भाषा कोश' (भाग १-७), ज्ञानेन्द्रमोहन दास कृत 'बांगला भाषार अभिधान' (२ भाग), टर्नर कृत 'नेपाली कोश' एवं रामचन्द्र वर्मा कृत 'प्रामाणिक हिन्दी कोष'।

पालि के लिए पा०, प्राकृत के लिये प्रा०, गुजराती के लिए गुज० संक्षिप्त रूपों का भी यत्र-तत्र प्रयोग किया गया है

[१] आँकनु . १८९.२ [आँकु (एक व०), अंक (अक्षर-समूह)]

तीनों भाषाकालों में 'अंक' का प्रयोग 'चिह्न', 'रेखा' के अर्थों में प्राप्त होता है। ये अर्थ संस्कृत, प्राकृत, बंगला, ओड़िया और हिन्दी में देखे जा सकते हैं। ये ही इसके मूल अर्थ है और इन्हीं के आधार पर उक्त सभी भाषाकालों में इसके अन्य विशेष अर्थ विकसित हुए है। पालि तथा प्राकृत में इसके अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं मिलता। इसका एक अर्थ 'तप्त लौह चिह्न' पालि में अवश्य है।

प्रस्तुत उदाहरण में 'आँकनु' प्रयुक्त है जो 'अंक' का ही विकसित रूप है। यह 'आँक' का बहुवचन है। यहाँ इसका अर्थ 'अक्षर-समूह' है जो इसके मूल अर्थ 'चिह्न', 'रेखा' से व्युत्पन्न है; क्योंकि अक्षर, चिह्न या रेखा से ही बने होते हैं। संस्कृत में 'अंक' के अर्थ 'संख्याज्ञापक चिह्न', 'संख्या' मिलते हैं, परन्तु पालि तथा प्राकृत में इसका अर्थ 'संख्या' नहीं मिलता। बँगला, ओड़िया और हिन्दी में संस्कृत की भाँति ही इसके अर्थ प्राप्त हैं। इस प्रकार आधुनिक भारतीय आर्यभाषाकाल में भी 'अंक' का अर्थ 'अक्षर' नहीं मिलता और न आधुनिक हिन्दी में यह अर्थ प्रचलित है। फलतः यहाँ अर्थारोप के माध्यम से अर्थ-संकोच का तत्व आया है।

[२] अकस ४२१.२ (वैर या द्वेष)

यह अरबी 'अक्स' का विकसित रूप है और इसके अर्थ हैं—प्रति दूर, विपरीत, उल्टा। उल्लिखित दोहे में इसका प्रयोग 'बैर', 'द्वेष' के लिये हुआ है। अरबी में इसका एक अर्थ विपरीत या उल्टा भी है। विपरीत स्वभाव या गुण के कारण ही किसी को, अन्य किसी से, द्वेष या बैर होता है। हिन्दी के अतिरिक्त ओड़िया में भी 'अक्स' के अर्थ डाह, ईर्ष्या, बैर, बदला तथा प्रतिकार है। इस प्रकार 'अक्स' का अरबी अर्थ आ० आ० भा० के अर्थ के लिये कारण स्वरूप है और आ० आ० भा० का अर्थ कार्यस्वरूप है। अतः यहाँ अर्थारोप का तत्व परिलक्षित होता है।

[३] आखत : ६९०. १ (मांगलिक चावल या जौ)

यह संस्कृत 'अक्षत' का विकसित रूप है। 'अक्षत' का अभिधेयार्थ है—क्षतहीन, अखंडित आदि। संस्कृत में 'अक्षताः' का अर्थ 'बिना कांडा जौ' अथवा 'बिना भूसी निकाला जौ' है। पालि में 'अक्खत' का अर्थ 'अखंड चावल' है। प्राकृत में संस्कृत के समान ही अर्थ पाया जाता है। इस प्रकार प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० के अर्थों में विभिन्नता है।

बँगला में आतप तुंडल, जौ, लावा समस्त शस्य तथा ओडिया में जौ, लावा तथा वेदविहित धार्मिक कार्यों पर वरवधू पर छिड़का जाने वाला चावल के अर्थों में 'अक्षत' प्राप्त है। आधुनिक हिन्दी में 'अक्षत' 'अच्छत' तथा 'आखत' इन तीनों रूपों का प्रयोग होता है और इन सभी रूपों का अर्थ है कच्चा चावल जो देवताओं पर चढ़ाया जाता है। इस प्रकार बँगला तथा हिन्दी में 'आखत' के जितने स्पष्ट अर्थ प्राप्त हैं उतने प्राकृत में नहीं। मूलतः संस्कृत में विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने वाला 'अक्षत सभी भारतीय में संज्ञा

के रूप में प्रयोग में आता रहा है। प्रस्तुत उदाहरण में तो यह स्पष्ट रूप में संज्ञा रूप में है। इस प्रकार विशेषण के अर्थ पर संज्ञा का अर्थ आरोपित है।

'आखत' का प्रयोग आजकल भी पूर्वी (भोजपुरी) क्षेत्रों में 'मांगलिक कार्यों पर बाँटा जाने वाला जौ' के लिये होता है। यह अर्थ प्रा० भा० आ० 'के बिना काँडा जौ' के अनुरूप है। इस प्रकार के विशिष्ट अर्थ बंगला तथा ओड़िया में नहीं मिलते। यदि हम प्रस्तुत उदाहरण में 'आखत' का अर्थ मांगलिक जौ तथा चावल निकालें तो अर्थारोप का तत्व प्राप्त होगा।

[४] अगोट ३९३.१ (प्रतिबन्ध, रुकावट)

यह संस्कृत 'गोष्ठ' शब्द के साथ 'अ' उपसर्ग लगाकर 'अगोष्ठ' से विकसित हुआ है। इसके पा०, प्रा० में 'गोट्ठ', बंगला तथा ओड़िया में 'गोट', 'गोट्ठ', गुज० में 'गोठो', मराठी मे 'गोठा' तथा सिंधी में 'गोठ' रूप मिलते हैं (टर्नर कृत नेपाली कोश)। हिन्दी में यह 'गोठ' रूप मे पाया जाता है, 'गोट' रूप में नहीं। फलतः हिन्दी में अ + गोट न होकर अ + गोठ = 'अगोठ' रूप प्राप्त होगा। उक्त सभी भा० आ० भा० कालों में 'गोष्ठ' अपने अभिधेयार्थ 'गोशाला' अर्थात् गायों के रहने की जगह के अर्थ में प्रयुक्त मिलता है। इसी अर्थ के आधार पर इसके अन्य अर्थ भी लिये गये हैं। यथा, संस्कृत में इसका एक अर्थ 'पशुओं के मिलने का स्थल' भी है। पा० तथा प्रा० में केवल अभिधेयार्थ ही प्राप्त है। बँगला में 'गोट' का अर्थ 'गोचारण के लिये मैदान' और 'गोष्ठ' का अर्थ मिलन, सभा, संग आदि हैं। ओड़िया में 'गोठ' पशुझुंड तथा पशुओं के रहने के स्थान के लिये प्रयुक्त मिलता है। हिन्दी में 'गोठ' (गोष्ठ) के अर्थ दल, गोष्ठी तथा मंडली भी हैं। गुज० तथा मराठी में संभिधेयार्थ ही मिलता है, किन्तु सिंधी मे 'गोठु' का अर्थ ग्राम है। यह अर्थ गृहों के मिलनस्थल या गृह-समूह के ही आधार पर लिया गया होगा।

यहाँ पर 'अगोट' का अर्थ विरह है। वर्तमान हिन्दी में 'गोट' अथवा 'अगोट' मिलन अथवा विरह के लिये प्रयुक्त नहीं होते। ये अर्थ, अर्थपरिवर्तन की प्रक्रिया से सम्बद्ध हैं, अतः यहाँ अर्थारोप का तत्व प्राप्त होता है।

[५] अठान १७३.१ (बुरी ठान, दुराग्रह)

इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'अट्ट' धातु से मानी जा सकती है। यह अभिधानों में ही प्राप्य है और इसका अर्थ है 'वध करना'। म० भा० आ० में इसका कोई स्वरूप प्राप्त नही होता। आ० भा० आ० ओड़िया में 'अठाठिक' शब्द मिलता है जिसके अर्थ हैं—मृत्युपूर्व अन्तिम स्थिति, मरणावस्था, एकदम बुरी हालत। ओड़िया में ही एक अन्य शब्द 'अठा' भी है जो 'डाह भरी चर्चा' के लिये प्रयुक्त होता है। आ० भा० आ० में अन्यत्र इसका कोई रूप प्राप्त नहीं है।

अटट से हिन्दी में अठाना क्रिया अथवा अठाव 'अठान संज्ञा रूप बन सकते हैं प्रस्तुत उदाहरण में इसका अर्थ दुराग्रह है दुराग्रह के कारण ही वध हो सकता है

फलतः यहाँ पर काय के अर्थ पर कारण का आरोप माना जाय तो अर्थारोप का तत्व मिलता है। साथ ही अर्थोत्कर्ष का तत्व भी प्राप्त होता है, क्योंकि 'वध' के स्थान पर 'दुराग्रह' मात्र का अर्थ निकलता है।

'अठान' को यदि अ + ठान के द्वारा निर्मित माना जाय तो 'अ' से 'बुरे' या 'दुः' जैसे उपसर्गों के अर्थ का बोध होता है।

[६] अछेह ४४७.२, ६००.२ (निरन्तर)

यह संस्कृत' 'अच्छेद्य' से विकसित हुआ है। 'अच्छेद्य' का अर्थ है जिसका काटना अनुचित अथवा असम्भव हो, जिसे विभाजित न किया जा सके। पालि 'अच्छेज्ज' का अर्थ है 'जिसका नाश न किया जा सके'। प्राकृत में 'अच्छिज्ज' या 'अच्छेज्ज' का अर्थ है जो तोड़ा न जा सके। बँगला में 'अच्छेद्य' का अर्थ है जिसको छेदा न जाय, अभेद्य। ओड़िया में इसका अर्थ 'जो काटा न जा सके, जिसे विभाजित न किया जा सके, जिसे काटना अनुचित हो' प्राप्त है। हिन्दी 'अछेद', 'अछेद्य' का अर्थ है जो छेदा न जा सके, अभेद्य। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रा० भा० आ० के अर्थ तथा आ० भा० आ० के ओड़िया अर्थ में समानता है। परन्तु म० भा० आ० के पालि तथा प्राकृत के अर्थ बिल्कुल भिन्न हैं। आ० भा० आ० में बँगला तथा हिन्दी के अर्थों में समानता है, परन्तु ये अर्थ संस्कृत में प्राप्त इसके मूल अर्थ के आधार पर ही विकसित हुए हैं।

उद्धृत अंश में इसका अर्थ 'निरन्तर' है। इसमें भी उक्त अर्थों का ही भाव है; किन्तु यह भाव अमूर्तात्मक है, क्योंकि यह समय की निरन्तरता को द्योतित करता है। 'अच्छेद्य' के अर्थ के आधार पर ही यह अर्थ प्राप्त है, फलतः यहाँ अर्थप्रस्फोट का तत्व मिलता है। इसका प्रयोग इस अर्थ में वर्तमान हिन्दी में नहीं होता (यद्यपि हिन्दी कोश में यह शब्द है और 'निरन्तर' अर्थ भी दिया हुआ है)।

[७] अवधि : ५६७.१ (अत्यन्त)

संस्कृत में 'अवधि' का अर्थ है सीमा, हद। इसका एक आभिधानिक अर्थ 'समय-सीमा' भी है। पालि, प्राकृत 'ओधि' तथा 'ओहि' का भी अर्थ 'सीमा', 'हद' ही है। पालि मे 'ओधिसो' का अर्थ 'समय-सीमा' तथा 'सीमाबद्ध' भी है। ओड़िया तथा हिन्दी में इसके दो अर्थ हैं—सीमा, समय-सीमा। फलतः पालि, ओड़िया और हिन्दी में दो अर्थ प्राप्त हैं जबकि प्राकृत एवं बँगला में 'अवधि' का अर्थ 'सीमा' ही प्राप्त है। इनमें इसका अर्थ 'समय-सीमा' लक्षित नहीं होता।

प्रस्तुत उदाहरण में इसका अर्थ 'सीमा', 'हद' है, परन्तु यह सीमा 'अति' सूचक है। यहाँ 'अवधि अनूप' का अर्थ 'हद का अनूप', 'अति अनूप' है। ओड़िया में भी इसका एक अर्थ अति प्राप्त है वर्तमान हिन्दी में इसके प्रचलित अर्थ को ध्यान में रखते हुए यहाँ अर्थ सकोच का तत्व प्राप्त होता है

[८] आभारु : ५५१.१ (दायित्व)

यह संस्कृत शब्द 'भार' में 'आ' उपसर्ग लगाकर बने 'आभार' शब्द का विकसित रूप है। 'आभार' के रूप में यह संस्कृत, पालि, बँगला तथा ओड़िया में नहीं पाया जाता। प्राकृत में यह शब्द प्राप्त है, परन्तु जब हम 'भार' तथा 'आभार' के अर्थों पर दृष्टिपात करते हैं तो उनमें विशेष अन्तर लक्षित नहीं होता। फलतः यहाँ 'भार' को लेकर ही विचार किया जावेगा।

संस्कृत में 'भार' के अर्थ हैं बोझ, वजन, अधिक काम, श्रम, कष्ट, किसी को दिया गया काम, दायित्व, राशि, ढोल बजाने का विशेष ढंग आदि। पालि में 'भार', 'भारो' के अर्थ है कोई बाह्य वस्तु, बोझ, गाड़ी भर बोझ, कर्तव्य, अस्तित्व, २०००० पल का भार-विशेष। प्राकृत में 'आभार' का अर्थ भार, बोझ है। बँगला में इसके कुछ प्रमुख अर्थ हैं—गुरुत्व, समूह, राशि, प्रयोजन, अभिचार, अधिकार, कठिन, दुरूह, भारी, तथा कष्टकर। ओड़िया मे वजन, भारीपन, उत्तरदायित्व, दायित्व, स्वातन्त्र्य, उपहार, भारी, कठिन आदि अर्थ प्राप्त है। हिन्दी में 'आभार' के अर्थ बोझ, भार, गृहस्थी का बोझ, एहसान, उपकार, उत्तरदायित्व आदि प्राप्त हैं। इस प्रकार 'भार' और 'आभार' के अर्थों में समानता है। उक्त सभी भा० आ० कालों में इसके लाक्षणिक अर्थ भी प्राप्त हैं। प्रस्तुत उदाहरण में 'आभारु' दायित्व के लिये प्रयुक्त है, परन्तु आजकल हिन्दी में इसका प्रचलित प्रधान अर्थ 'कृतज्ञता' है। अतः इसके आधुनिक अर्थ को ध्यान में रखते हुए यहाँ अर्थ-संकोच-तत्व आया है।

[९] इक आँक ६१५.१ (सर्वथा, बिल्कुल)

यह इक + आँक इन दो शब्दों के रूप में है जिनमें से प्रथम संस्कृत के 'एक' का विकसित रूप है और 'आँक' भी संस्कृत 'अंक' का विकसित रूप है। सभी भा० आ० कालो मे 'अंक' का एक अर्थ चिह्न, निशान प्राप्त है। उद्धृत अंशों में यह यौगिक शब्द (इक आँक) सर्वथा, एकदम, बिल्कुल के अर्थ में आया है। सम्भव है, यह अर्थ इसलिये विकसित हुआ हो कि किसी बात पर बल देने के लिये चिह्न या लकीरें खींचने की प्रथा है। फलतः इसी आधार पर इस यौगिक शब्द का उक्त अर्थ गृहीत हुआ होगा। आधुनिक हिन्दी में इसका प्रयोग नहीं मिलता। यौगिक शब्द, अर्थ में नवीनता ला देते हैं, अतः इनके द्वारा अर्थ-संकोच तत्व मिलता है।

[१०] उसासि ६६०.१ (उभार दिया)

यह संस्कृत 'उच्छ्वास' का विकसित रूप है। संस्कृत में इसके अर्थ हैं—साँस बाहर फेंकना, छोड़ने की क्रिया, साँस, निधन, मृत्यु, फेन, सूजन, उठान, विकास, सान्त्वना, उत्साह, अध्याय, वायु, छिद्र (अभिधानार्थ) आदि। पालि में इसका कोई रूप नहीं मिलता, परन्तु एक अन्य शब्द 'निरुस्सास' (साँसहीन) मिलता है जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पालिमें 'उस्सास' का अर्थ 'साँस' होगा। प्राकृत में 'उस्सास' मिलता है जिसके अर्थ हैं—ऊर्ध्व श्वास प्रबल श्वास बंगला में उच्छ्वास के कई अर्थ प्राप्त हैं विकास निःश्वास ऊँचे उठने की क्रिया स्फीति, आकांक्षा विस्फोट आदि ओड़िया उच्छ्वास के भी

सूजन, फैलाव, स्फीति विशिष्ट अर्थ मिलते हैं। हिन्दी में इसके उच्छ्वास, उसाँस और उसास तीन रूप हैं जिनके अर्थ श्वास, ग्रह का प्रकरण, मानसिक कष्ट, ऊपर को खींचा हुआ लम्बा साँस हैं।

इस प्रकार संस्कृत, बँगला तथा ओड़िया में उठान, विकास तथा सूजन आदि अर्थ प्राप्त है और ये अर्थ श्वास-निश्वास से वक्ष के फूलने के कारण ही प्रस्फुटित हुए हैं। उद्धृत अंश मे 'उसासि' संयुक्त क्रिया के रूप में है और इसका प्रयोग 'उभार देने' के अर्थ में हुआ है जो उपर्युक्त संस्कृत, बँगला, ओड़िया के 'विकास' के ही समान है। इसका यह अर्थ हिन्दी में प्राप्त नही, फलतः अर्थ-प्रस्फोट के माध्यम से यहाँ अर्थ-संकोच-तत्व उपलब्ध होता है।

[११] ऊतरु १३१.२ (स्वीकृति)

यह संस्कृत 'उत्तर', 'उत्तरम्' का विकसित रूप है। संस्कृत 'उत्तर' के अर्थ हैं—बाद का, अगला, अंत का, बाद में और 'उत्तरम्' का अर्थ है जवाब। पालि 'उत्तर', 'उत्तरो' के अर्थ उच्चतर, ऊँचा, ऊपर का, बाद का, उत्तर दिशा हैं। प्राकृत 'उत्तर' के अर्थ—श्रेष्ठ, प्रशस्त, प्रधान, मुख्य, उत्तर दिशा में रहा हुआ, उपरिवर्ती, अधिक ऊन का बना वस्त्र, जवाब, प्रत्युत्तर, वृद्धि आदि हैं। बँगला में 'उत्तर' के अर्थ हैं—प्रतिवाक्य, जवाब, बात, उच्च वाच्य, अभिप्राय, सम्मति, आपत्ति, खण्डन, सिद्धान्त, प्रतिकार, परवर्ती, योग्य, प्रधान, दुर्लभ, उत्तर दिक्, बाद में, अनन्तर आदि। ओड़िया में इसके जवाब, निर्णय, दोषारोपण, खंडन, बाद का, ऊपर का, सामने का, उक्त, आदि अर्थ प्राप्त है। हिन्दी में 'उत्तर', 'ऊतर', 'ऊतरु' के अर्थ दक्षिण दिशा के सामने की दिशा, जवाब, बदला, पिछला, बाद का, ऊपर का, श्रेष्ठ, पीछे, तथा बाद हैं।

इस प्रकार सभी भा० आ० कालों में इसके विशेषण तथा संज्ञा अर्थ मिलते है। केवल पालि में इसका विशेषण वाला ही अर्थ प्राप्त है और प्राकृत में 'बाद का' अर्थ नही मिलता। इसका विशेषण वाला अर्थ ही मूल अर्थ है और बाद में अर्थारोप के माध्यम से संज्ञा वाला अर्थ प्राप्त हुआ। उद्धृत दोहे में 'ऊतरु' स्वीकृति के लिये प्रयुक्त हुआ है। आधुनिक हिन्दी मे यह अर्थ नहीं मिलता ; केवल बँगला में 'सम्मति' के रूप में यह अर्थ प्राप्त है। अतः यहाँ अर्थ-संकोच का तत्व मिलता है।

[१२] कठिनु ६४०.१ (तीव्र)

यह संस्कृत 'कठिन' शब्द (कड़ा, मृदु का उलटा, मुश्किल, निर्दय, तीव्र) से विकसित हुआ है। पालि में 'कठिन', 'कठिनो' के अर्थ हैं—कड़ा, ठोस, मुश्किल, दृढ़। प्राकृत में 'कढिण' (कठिन, कर्कश, कठोर, परुष) रूप हैं। बँगला में 'कठिन के' अर्थ हैं—सख्त, कठोर, निर्मम, निर्दय, निष्ठुर, दुरूह, दुर्बोध, तीव्र, तीक्ष्ण, भयानक, विषम, दुखजनक, दुसह, कष्टकर। ओड़िया में 'कठिण' अथवा 'कठिन' का निर्दय, सख्त, दृढ़, ठोस, तीव्र, कर्कश, दुःसाध्य, असह्य, गंभीर, विपत्तिजनक तथा दुर्बोध अर्थ प्राप्त है। हिन्दी में 'कठिन' के अर्थ कड़ा, सख्त, कठोर, मुश्किल, दुष्कर तथा दुःसाध्य हैं। इस प्रकार 'कठिन' सभी आ० भा० कालों मे विशेषण के समान प्रयुक्त हुआ है

निर्देशित दोहे में 'कठिन' का अर्थ 'तीव्र' है जो आधुनिक हिन्दी में नहीं पाया जाता। यह अर्थ संस्कृत, ओड़िया तथा बँगला में विशेष रूप से पाया जाता है, अतः यहाँ अर्थ-संकोच-तत्व प्राप्त है।

[१३] कुबत ८७.१ (खोटाई, खोटापन)

यह संस्कृत 'वार्ता' में 'कु' उपसर्ग लगाकर बने 'कुवार्ता' का विकसित रूप है। संस्कृत में 'वार्ता' का प्रयोग किसी घटना का विवरण, समाचार, स्थायी घटना (आभिधानिक अर्थ) के लिये होता है। पालि में 'वात्ता' का अर्थ 'समाचार' है। प्राकृत में 'वट्टा', 'वत्ता' का अर्थ बात, कथा, वृत्तांत, जनश्रुति, किंवदन्ति है। बँगला में 'बात' के अर्थ प्रश्न, वार्ता, कथा, उक्ति, वाक्य, रचना हैं।

'कु' उपसर्ग लगाने से उपर्युक्त सभी अर्थों में विपरीतता आयेगी। हिन्दी में 'कुबत' के अर्थ हैं बुरी बात, बुरी चाल अथवा निन्दा। यहाँ 'कुबत' का अर्थ खोटापन या खोटाई है जो भा० आ० के किसी काल में नहीं पाया जाता। अतः यहाँ अर्थ-संकोच का तत्व प्राप्त है।

[१४] केलि : २११·२ (रति, कामक्रीड़ा), २०२.२ (विहार)

'बिहारी सतसई' में यह शब्द संस्कृत 'केलि' के मूल रूप में पाया जाता है। संस्कृत मे इसके अर्थ है—क्रीड़ा, रति-क्रीड़ा, मनबहलाव, छिपाव आदि। पालि में 'केलि' (केळि) के अर्थ संस्कृत के समान (छिपाव को छोड़कर) हैं। रीज डेविड ने अपने कोश में 'केळि' के दूसरे अर्थ भी दिये है—अनुरक्ति, कामना, स्वार्थपरता, धोखा, अस्थिरता। प्राकृत 'केलि' या 'केली' क्रीड़ा, खेल, परिहास, हँसी, ठट्ठा, काम-क्रीड़ा अर्थ देता है। बँगला में 'केलि' के अर्थ हैं—खेल, क्रीड़ा, कौतुक, परिहास, स्त्री-प्रसंग। ओड़िया में पालि की भाँति ही दो रूप है—केलि तथा केळि, परन्तु इनके अर्थ बंगला के ही समान हैं। केवल एक अर्थ और है—'दाबल दुवा' (खेल में हारे हुए खेलाड़ी द्वारा उच्चरित शब्द)।

हिन्दी में 'केलि' ये अर्थ हैं—खेल, क्रीड़ा, रति, मैथुन, स्त्रीप्रसंग, हँसी-ठट्ठा, दिल्लगी। यहाँ 'केलि' का प्रयोग 'रति' बताने के लिये प्रयुक्त है। आजकल 'केलि', रति या कामक्रीड़ा के लिये ही प्रयुक्त होता है। इस प्रकार से आधुनिक काल में इसके अर्थ मे अपकर्ष हुआ है। साथ ही अर्थ-संकोच का तत्व भी यहाँ मिलता है।

[१५] खोटि २९९.२ (नखाघात करना)

यह संस्कृत 'खुण्ड', 'खुड' का विकसित रूप है। संस्कृत में इसका प्रयोग टुकड़े-टुकड़े करने, लँगड़ा कर चलने के लिये होता है। प्राकृत में 'खुट्ट' अकर्मक तथा सकर्मक दो रूपो मे प्राप्त किया है। अकर्मक में इसके अर्थ हैं खूटना, क्षीण होना, टूटना, त्रुटित होना और सकर्मक में तोड़ना, खंडित करना, टुकड़े करना है। बँगला में 'खुण्टा', 'खोटा' का अर्थ है—चयन, आहरण, चोंच द्वारा उठा कर खाना, निर्वाचन करना, नखाघात करना या नखाघात द्वारा स्थान को काटना। ओड़िया 'खोट' लँगड़ा कर चलने अथवा लँगड़ा होने के अर्थ में प्रयुक्त होता है हिन्दी में खोटना शब्द किसी वस्तु का ऊपरी भाग तोड़ने के लिये प्रयुक्त होता है

यहाँ पर 'खोटि' नखाघात करने के अर्थ में है जो बँगला में प्राप्त है। भोजपुरी तथा अवधी में नख के द्वारा फुनगी या ऊपरी भाग को तोड़ने के लिये 'खोंटने' का प्रयोग होता है। वर्तमान हिन्दी के अर्थ तथा निर्देशित दोहे में प्रयुक्त अर्थ को दृष्टिकोण में रखते हुए अर्थ-प्रस्फोट का तत्व मिलता है और इसके माध्यम से अर्थ-संकोच तत्व भी।

[१६] गँवारि ७०६.२ (ग्रामीण स्त्री)

यह 'गँवार' का स्त्रीलिंग रूप है। टर्नर ने नेपाली शब्द 'गमार्', 'गँवार', 'गँवर' शब्दों की व्युत्पत्ति 'ग्रामदाँर' (देहाती लड़का) से की है। 'ग्रामदार' को वे संस्कृत ग्राम: + दारकः (लड़का) से निष्पन्न बताते हैं। उनका अभिमत है कि 'दार' का बहुवचन पुल्लिग रूप 'दारि' शिन (षिन) भाषा में आया है। उन्होंने पालि में प्राप्त 'ग्रामदारिको', उड़िया में 'गमार', हिन्दी तथा पंजाबी में 'गँवार', गुजराती में प्राप्त 'गमार्', मराठी में 'गँवार' शब्दों का उल्लेख किया है।

पालि में 'ग्रामदारका' (ग्राम के लड़के) तथा 'गामदारिका' (ग्राम की लड़कियाँ) भी मिलते हैं। प्राकृत में 'गामार' का अर्थ ग्रामीण, छोटे गाँव का रहने वाला है। पालि मे 'गामदारिको', 'गामदारका' तथा 'गामदार' शब्द उपलब्ध है। 'गामदारिका' से 'गँवारी' या 'गँवारि' सरलता से व्युत्पन्न हो सकता है। अर्थ की दृष्टि से इन तीनों का अर्थ ग्राम से सम्बद्ध या ग्रामीण है। बँगला में 'गोंयार' (ग्राम्य, अशिक्षित, अमार्जित, नासमझ, अरसिक, लम्पट, दस्यु, चोर) ओड़िया में 'गाउँली' 'गाउँलिया' (ग्राम सम्बन्धी, ग्रामीण, सरल, मूर्ख) तथा हिन्दी में 'गँवार' (ग्रामीण, देहाती, असभ्य, मूर्ख) और 'गँवारि' (गँवारि स्त्री) प्राप्त हैं।

भा० आ० के तीनों कालों में इसके अर्थों में 'ग्रामीण' और 'मूर्ख' प्रधान अर्थ है। सस्कृत तथा पा०, प्रा० में इसका प्रयोग बुरे अर्थ में नहीं है। आधुनिक भा० आ० में इसके अर्थ में अपकर्ष आया है। निर्देशित क्रमांक के दोहे में 'गँवारि' ग्रामीण स्त्री के लिये प्रयुक्त हुआ है। आधुनिक हिन्दी में 'गँवारि' का अर्थ मूर्खा होगा। फलतः आधुनिक हिन्दी से 'बिहारी सतसई' में प्राप्त अर्थ की तुलना करने पर अर्थोत्कर्ष के माध्यम से अर्थ-संकोच तत्व मिलता है।

[१७] गाढ़े ४१०.२ (भलीभाँति, कसकर)

यह संस्कृत 'गाढ़' का विकसित रूप है। संस्कृत में 'गाढ़' के अर्थ है—अवगाहित, गहरे पैठा हुआ, एक साथ दबाया हुआ, कसकर खींचा हुआ, कसा हुआ, शिथिल का उल्टा, घना, गहन (आभिधानिक), मजबूत, दृढ़। पालि में 'गाळ्ह' (मजबूत, कसा हुआ, घना, गहरा, प्राकृत में 'गाढ' (गाढ़, निविड़, सान्द्र, मजबूत, दृढ़), बँगला में 'गाढ़', 'गाढ़ि' (जिसने अवगाहन किया है, घना, अत्यन्त, अनेक, अति गम्भीर), ओड़िया में 'गाढ' (कसा हुआ, दृढ़, कड़ा, कठोर, घना, अधिक, गम्भीर, कसकर दबाया हुआ, तीव्र गति, भारी, गहरा, डूबा हुआ, सावधान, प्रधान) तथा हिन्दी में 'गाढ़', 'गाढ़ा' (अधिक, बहुत, दृढ़, मजबूत, घना, गाबा बहुत गहरा विकट कठिन जिसमें जल के साथ कोई चूर्ण मिला हो, ठस, मोटा घनिष्ट जिसमें कठिन परिश्रम हुआ हो) रूप प्राप्त है

सभी कालों में 'गाढ़' विशेषण की भाँति प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत, पालि, बँगला तथा ओड़िया में कसकर खींचा हुआ, अत्यन्त आदि अर्थ प्राप्त हैं। प्रस्तुत दोहे में 'गाढ़े' का अर्थ 'भलीभाँति कसकर' है जिसका प्रयोग क्रियाविशेषण के रूप मे है। अत: यहाँ पर विशेष प्रकार का अर्थ जिसमें अर्थ-प्रस्फोट का तत्व वर्तमान है, प्रस्फुटित हुआ है। वर्तमान हिन्दी मे यह अर्थ न मिलने के कारण अर्थ-संकोच का भी तत्व यहाँ पाया जाता है।

[१८.] गिलत १६०.१ (पकड़ना, गहना)

यह संस्कृत 'गिल्' का विकसित रूप है जिसका अर्थ निगलने की क्रिया या निगलना है। पालि और प्राकृत में भी यही अर्थ है। बंगला में 'गिला', 'गेला' (चबाये बिना उदरस्थ करना, आहार करना), ओड़िया में 'गिळिबा' (खाना, शब्द करते हुए जल्दी-जल्दी खाना, निगलना, बिना सूझे-बूझे याद करना, रटना, खूब खाना, दबाना, पराजित करना) तथा हिन्दी में 'गिलना' (निगलना, मन में छिपा कर रखना) रूप प्राप्त हैं।

इस प्रकार भा० आ० में सभी कालों में इसका एक अर्थ 'निगलना' है। आ० भा० आ० काल में ही इसके कुछ नये अर्थ प्राप्त हुए हैं जो निगलने की क्रिया से ही विकसित है। उद्धृत दोहे में 'गिलत' का प्रयोग पकड़ने या ग्रहण करने के अर्थ में हुआ है। निगलने की क्रिया में कार को मुँह से पकड़ा या ग्रहण किया जाता है, अतः इसी आधार पर पकड़ने तथा गहने का अर्थ प्रस्फुटित होता है। फलतः यहाँ अर्थ-प्रस्फोट का तत्व मिलता है जिसके माध्यम से अर्थ-संकोच तत्व भी आ गया है, क्योंकि आजकल यह शब्द गहने या पकड़ने के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता।

[१९] गुडी ५९.२. ३६९.१ (पतंग)

यह संस्कृत 'गुटिका' या 'गुड' से व्युत्पन्न माना जा सकता है—गुटिका>गुडिआ>गुडी, गुड्डी, गूडी अथवा संस्कृत 'गुड' जो पुल्लिङ्ग है, स्त्रीलिंग में 'गुडी' या 'गूडी' रूप ले सकता है।

संस्कृत 'गुटिका' या 'गुड' का अर्थ गोली या खेलने की गोली है। प्राकृत 'गुडिया' से भी गोली का ही अर्थ निकलता है। बँगला में घुंडी, घुडी (वायु द्वारा जो चक्कर खाते-खाते चले, आकाश में उड़ने के लिये चतुष्कोण कागज, खंड निर्मित क्रीडनक) तथा ओड़िया में गुडी' (पतंग) रूप प्राप्त हैं। हिन्दी में 'गुडी' या 'गुड्डी' का अर्थ 'पतंग' या 'कनकौआ' है।

इस प्रकार आ० भा० आ० में यह 'पतंग' के लिये सर्वथा प्रयुक्त है जबकि म० भा० आ० में केवल 'गोली' के लिये। प्रस्तुत क्रमांक में पतंग ही अर्थ है। हो सकता है, गोली भी खेलने की वस्तु रही हो जिससे बँगला, ओड़िया तथा हिन्दी में पतंग का बोध होने लगा। कन्नड में 'गुडि्ड' का अर्थ ध्वजा है। प्राचीन हिन्दी में भी ध्वजा के लिये 'गुडी' प्रयुक्त मिलता है (ठाम-ठाम गूडी उलझिये न लक्ष्मन)। इसी अर्थ के आधार पर कदाचित् वायु में उड़ने के कारण 'गुडी' पतंग के लिये प्रयुक्त होने लगा हो। इस प्रकार यहाँ अर्थ प्रस्फोट का तत्व मिलता है

[२०] गोल १९७ २ (प्रधान सेना)

यह अरबी 'गोल' से व्युत्पन्न है। अरबी में इसका अर्थ झुंड तथा समूह है। बँगला मे 'गोल' से ही विकसित 'गोला' रूप प्राप्त है जिसके अर्थ हैं निरर्थक, विशेषत्वहीन, अशिक्षित साधारण जन जो केवल दल बढ़ाते हैं। हिन्दी तथा बिहारी (भोजपुरी, मैथिली एवं मगही) में मंडली या झुण्ड के लिये 'गोल' शब्द प्रयुक्त मिलता है।

प्रस्तुत दोहे में इसका अर्थ 'प्रधान सेना' है। सेना से दल का बोध होता है, अतः हिन्दी तथा अरबी के आधार पर ही यहाँ इसका अर्थ 'प्रधान सेना' प्रस्फुटित हुआ है। फलतः, अर्थ-प्रस्फोट के माध्यम से यहाँ अर्थ-संकोच तत्व प्राप्त है।

[२१] चिलक १९.२, १९५.१ (चमक)

यह देशी 'चिल्लअ' (पाइअ०-सेठ) में 'क' लगाकर बना है। इसी से नामधातु 'चिलकना' बना है। 'चिल्लअ' का प्रयोग 'देदीप्यमान्', 'चमकना' के अर्थ में हुआ है। हिन्दी मे 'चिलक' के अर्थ हैं चमक, कांति, हड्डी या नस में अचानक उठने वाला दर्द। निर्देशित क्रमांक के दोहों में 'चिलक' का प्रयोग 'चमक' के लिये हुआ है।

आधुनिक हिन्दी में 'चिलकना' का रह-रहकर चमकना और 'चिलक' का चमक— ये दोनों अर्थ विरल हैं। अत: यहाँ पर अर्थ-संकोच का तत्व प्राप्त है।

[२२] चोंटत ६९८.२ (तोड़ना)

संस्कृत, पालि तथा प्राकृत में इसका कोई रूप प्राप्त नहीं है, अतः यह देशी शब्द हो सकता है। संस्कृत में चुट् (अलग करना, काटना, छोटा होना), चुट्ट् (छोटा होना), चुट् (चुट) तथा चुंठ् (आघात करना) धातुएं मिलती हैं। इसका सम्बन्ध बँगला, ओड़िया तथा हिन्दी में 'चोट' से हो सकता है, परन्तु पालि तथा प्राकृत में इसके कोई भी रूप प्राप्त नही है। बँगला में चोट के अर्थ हैं—आघात, प्रहार आदि से आघात, कोष, बल, प्रभाव, सुयोग, वेग। ओड़िया में भी चोट, आघात, आघात से व्यथा, वेग, शक्ति, बंदूक में बारूद भरना, मानसिक व्यथा, आक्रमण का समय, सुयोग, साँप का काटना, गंभीर दायित्व तथा जिद है। हिन्दी में 'चोट' आघात, जखम, वार, आक्रमण, व्यंग्य, ताना, बार, दफा के लिये प्रयुक्त होता है।

निर्देशित दोहे में 'चोंटत' से तोड़ने का अर्थ निकलता है जिसमें आघात का स्वरूप विद्यमान है। फलतः यहाँ अर्थ-प्रस्फोट के माध्य में अर्थ-संकोच का तत्व मिलता है।

[२३] छाला ४८४.१ (झलका)

यह संस्कृत 'छल्लि' का विकसित रूप है। पालि में 'छल्लि' तथा प्राकृत में 'छल्ली' रूप पाये जाते हैं मा० भा० आ० के छाल छाल छाला छाली इन्हा से व्युत्पन्न है

संस्कृत में 'छल्लि' को छदिस और छर्दिस का प्राकृत रूप माना गया है (संस्कृत-मोनियर वि०)। पालि का 'छल्लि' शब्द संस्कृत 'छल्लि' के समान है (पालि-रीज)। संस्कृत 'छल्लि' का आभिधानिक अर्थ पेड़ों की छाल और वल्कल है तथा यही अर्थ पालि तथा प्राकृत में भी पाया जाता है।

बँगला मे 'छाल' (त्वक्, चमड़े के ऊपर का आवरण, वल्कल), ओड़िया में 'छाळ' (पशुओं की खाल, छाला, त्वचा, फल का छिलका, पेड़ की छाल, वल्कल), असमिया में 'खाल' (पेड की छाल, वल्कल) तथा 'छाला' (ऊपरी छाल या चमड़ा जैसे मृगछाल) रूप हैं।

प्रस्तुत दोहे में 'छाला' झलके के लिये प्रयुक्त हुआ है जो त्वचा के ऊपर उठ जाने के कारण उत्पन्न होता है। अत: यहाँ छाल या त्वचा से अर्थ-प्रस्फोट के द्वारा अर्थ-संकोच तत्व मिलता है।

[२४] छुही ३५६. २ (सिंचित)

इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'छुप्' अथवा 'क्षुभ्' धातु से मानी जा सकती है। 'छुप्' का अर्थ स्पर्श करना है, अत: 'छुपित' का अर्थ होगा 'स्पर्श किया हुआ'। अर्थ-प्रस्फोट के आधार पर इससे 'लिप्त' का अर्थ इस प्रकार मिलता है। :—

छुपित (सं०) > छुपिअ (प्रा०) > छुवी (हि०) > छुई > छुही।

संस्कृत 'क्षुभ्' धातु हिलने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इससे 'क्षुभित' और फिर प्राकृत 'छुहिअ' तथा हिन्दी 'छुही' रूप मिल सकते हैं। प्राकृत में खुबम्, छुबम् रूप भी प्राप्त हैं।

प्राकृत मूल के देशी शब्द 'छुहिअ' (लिप्त, पोता हुआ) से भी यह व्युत्पन्न हो सकता है। आधुनिक हिन्दी में भी 'छूही' खड़िया मिट्टी के लिये और 'छुहना' चूना पोतने के लिये प्रयुक्त होते हैं। प्रस्तुत दोहे में इसका प्रयोग गुलाब जल के साथ हुआ है, अत: हम गुलाब जल से लिप्त या पोती हुई अर्थ न करके गुलाब जल से सिंचित या सिक्त अर्थ करेंगे। इस प्रकार से 'छुही' के आधार पर 'सिंचित' अर्थ प्रस्फुटित माना जायगा और इस अर्थ-प्रस्फोट के माध्यम से अर्थ-संकोच का तत्व गृहीत होगा।

[२५] जोरी ६७७. १ (युग्म, स्त्री-पुरुष का जोड़ा)

यह संस्कृत 'योटक' या 'युक्त' तथा देशी 'जुडिअ' या 'जोड़' से व्युत्पन्न माना जा सकता है। यथा—

संस्कृत योटक > प्राकृत जोडव > हिन्दी जोड़ा, जोड़ी।
अथवा संस्कृत युक्त > पालि, प्राकृत जुत्त > हिन्दी जुट्ट, जुड्ड, जोड, जोड़ा, जोड़ी।
देशी जुडिअ > हिन्दी जुडी, जोड़ी।
या देशी जोड > हिन्दी जोड़, जोड़ा, जोड़ी।

'योटक' का आभिधानिक अर्थ नक्षत्र-समूह है। प्राकृत 'जोड' का भी अर्थ नक्षत्र मिलता है। बंगला में जुडि जुडी जोड जोडा जोर युग्म, युगल दो मिलन ओड़िया में जोडि'

(बँगला के सदृश अर्थ) गुजराती 'जोड', हिन्दी में 'जोड़', 'ओर' (जोड़ा, बराबरी, समानता, दो व्यक्ति या दल जो किसी प्रतियोगिता में भाग लें) तथा 'जोड़ा' (एक ही तरह की दो चीजें, स्त्री-पुरुष या नर-मादा का युग्म, वह जो बराबरी का हो, जोड़, रूप मिलते हैं।

संस्कृत, पालि तथा प्राकृत युक्त, जुत, जुतो, जुत का एक अर्थ जोड़ा हुआ, बाँधा हुआ, सताया हुआ मिलता है। देशी 'जुड़िअ' का अर्थ आपस में जुटा हुआ, लड़ने के लिये एक-दूसरे से भिड़ा हुआ तथा देशी 'जोड़' का अर्थ नक्षत्र है। यदि 'युक्त' से जोड़ी को व्युत्पन्न माने तो 'युग्म' विकसित अर्थ होगा।

[२६] झार ४१. २ (जलन)

यह संस्कृत 'ज्वाल' का विकसित रूप है जिसका अर्थ है—जलता हुआ, दहकता हुआ, प्रकाश, लौ, लपट। पालि में 'जाल' अथवा 'जाला' के अर्थ लौ, लपट हैं। प्राकृत मे 'जाल', 'जाला' का प्रयोग ज्वाला, अग्नि-शिखा के लिये मिलता है। बँगला में 'झाल' कटुरस, कड़ा मिजाज, ऊष्मा, क्रोध, कटु, लाल मिर्च, सूखे वृक्ष का अग्रभाग, शरीर ताप, उत्ताप के लिये और ओड़िया में 'झाल', कटु स्वाद तथा कटु के लिये प्रयुक्त होता है। हिन्दी में 'झार', 'झाल' चरपराहट, तीखापन, ज्वाला, जलन, ताप, ईर्ष्या तथा डाह के लिये प्रयुक्त मिलता है।

प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० काल में इसका एक अर्थ अग्निशिखा या लौ प्राप्त है, परन्तु आ० भा० आ० काल में इसका परिणाम अथवा प्रतिफल प्राप्त है जिससे उत्ताप, ज्वाला, जलन तथा ताप आदि अर्थ निकले हैं। यही नहीं, इन्हीं के आधार पर शारीरिक तथा मानसिक ताप के अर्थ प्रस्फुटित हुए हैं। आधुनिक हिन्दी, बँगला तथा ओड़िया में 'झार' का प्रयोग विशेषतः कटु स्वाद या तीखेपन के लिये होता है। उद्धृत दोहे में यह अपने मूल अर्थ में प्रयुक्त है जो प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० में प्राप्त होता है। वर्तमान अर्थों को ध्यान में रखते हुए यहाँ **अर्थ-संकोच** तत्व मिलता है।

[२७] **टहलें** ५४३. २ (घरेलू कामकाज)

यह **'टहल'** का बहुवचन रूप है। प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० में इसका कोई रूप नहीं मिलता। श्री रामचन्द्र वर्मा ने अपने प्रामाणिक हिन्दी कोष में 'टहलना' का सस्कृत 'तत्चलन' से व्युत्पन्न माना है, परन्तु यह आ० भा० आ० का देशी शब्द प्रतीत होता है। बँगला में 'टहल' का अर्थ मान करते हुए, भिक्षार्थ पर्यटन, पाद चारण; ओड़िया में पाद चारण, हवाखोरी के लिये घोड़े पर घूमना, सेवा, घरेलू छोटा-मोटा काज, स्वामी की सेवा, सिंधी में पादचारण, सेवा; गुजराती में इधर-उधर घूमना, टहलना तथा हिन्दी में छोटी और हीन सेवा तथा खिदमत है। आधुनिक हिन्दी में भी यही अर्थ है।

प्रस्तुत-दोहे में 'टहल' का प्रयोग घरेलू काम-काज के लिये हुआ है। भोजपुरी तथा अवधी में भी इसके यही अर्थ मिलते हैं। इससे नौकर तथा सेवा-कार्य का अर्थ नहीं निकलता। अत यहाँ **अर्थ भेद है और साथ ही अर्थ-संकोच-तत्व भी**

[२८] टाकु ४५९. १ (स्वल्प)

यह संस्कृत 'टंक्' का विकसित रूप है। संस्कृत में 'टंक' मुहर या छाप लगा सिक्का तथा चार माशे की तौल के लिये प्रयुक्त मिलता है। पालि में 'टंको' का अर्थ पत्थर गढ़ने का एक औजार है। प्राकृत में 'टंक' के अर्थ है—एक प्रकार का सिक्का, परिमाण-विशेष, चार माशे की तौल।

बँगला में 'टंक', 'टाका', 'टंका' का प्रयोग रौप्य मुद्रा, दो पैसा, धन, वेतन तथा चार मासे की तौल के लिये मिलता है। ओड़िया में यह 'टंक' चार माशा या ६८ ग्रेन की तौल का सिक्का, रौप्य मुद्रा तथा एक रुपया का अर्थ देता है और 'टंका' के प्राचीन भारत मे प्रचलित एक रौप्य मुद्रा या ताम्र मुद्रा, एक रुपया, धन, दौलत, नगद रुपया, चार माशे की तौल, ६८ ग्रेन या तोला अर्थ मिलते हैं। टर्नर ने असमी में 'टका' (रुपया) गुजराती में 'टाक' (एक विशेष तौल, कलम की निब) का उल्लेख किया है। हिन्दी में 'टका' से चाँदी का पुराना सिक्का, ताँबे का सिक्का जो दो पैसे के बराबर था, अधन्नी, रुपया-पैसा का तथा 'टंका' से एक तोले की तौल का अर्थ निकलता है। हिन्दी 'टाँक' के अर्थ है—तीन या चार माशे की एक तौल, कूत, अंदाज, आँक।

इस प्रकार सभी कालों में 'टाँकु' परिमाण का सूचक है। यद्यपि यह परिमाण भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न है। अतः यह 'स्वल्प' परिमाण का ही बोधक है। प्रस्तुत क्रमांक के दोहे में इसका अर्थ स्वल्प है। अतः यहाँ अर्थप्रस्फोट-तत्व मिलता है, क्योंकि प्रस्फोट से ही स्वल्प का बोध होता है।

[२९] तरल १०८. १ (गतिमान, चलायमान)

यह संस्कृत 'तरल' के मूल रूप में यहाँ प्रयुक्त है। संस्कृत में 'तरल' के अर्थ हैं—कंपित, इधर-उधर डोलता हुआ, अस्थिर, घमंडी, चमकता हुआ, विलासी (आभिधानिक अर्थ), द्रव्य, खोखला। पालि में 'तरलो' (कंपमान, अस्थिर) तथा प्राकृत में 'तरल' (चंचल, चपल) रूप प्राप्त हैं। बँगला में 'तरल' के अर्थ है—जलवत् पतला, द्रव्य, वाष्पीय, विगलित, गलित, आर्द्र, कंपमान, चंचल, शिथिल, क्षिप्र, शीघ्र, द्रुत, कामुक, उज्ज्वल। ओड़िया में 'तरल' के (बंगला के अर्थों के अतिरिक्त) संस्कृत में पाये जाने वाले कुछ अर्थ प्राप्त हैं, यथा—चमकता हुआ, विलासी, घूमता हुआ, खोखला। हिन्दी में 'तरल' हिलता-डुलता, चलायमान, क्षणभंगुर, चंचल, पानी की तरह बहने वाला द्रव, चमकीला, कोमल तथा मंद अर्थ हैं। आधुनिक हिन्दी मे 'तरल' का प्रयोग जल की तरह पतला के अर्थ में होता है। प्रस्तुत दोहे में 'तरल' का प्रयोग तर्यौना के साथ है, फलतः चमकीला या उज्ज्वल अर्थ हो सकता है जो संस्कृत, ओड़िया, बँगला तथा हिन्दी में समान रूप से प्राप्त हैं; परन्तु यहाँ 'तरल' का अर्थ चलायमान, कंपित ही उपयुक्त है जो संस्कृत पालि प्राकृत बंगला ओडिया तथा हिन्दी सभी में प्राप्त है

हिन्दी में इस अर्थ में न प्रयुक्त होने के कारण यहाँ अर्थ-संकोच तत्व प्राप्त है

[३०] तिलकु ५७०. १ (क्षण)

यह संस्कृत 'तिल' में 'क' प्रत्यय जोड़कर बने 'तिलक' का विकसित रूप है। संस्कृत, पालि, प्राकृत, बंगला, ओड़िया तथा हिन्दी में 'तिल' का प्रयोग तिल के पेड़ तथा उसके दाने के अर्थ में प्राप्य है। संस्कृत में 'तिल' का एक अर्थ छोटा टुकड़ा, कण भी है। बंगला मे 'तिल' अल्पत्र या सामान्य परिमाण, सूक्ष्म काल परिमाण के लिये तथा ओड़िया में बहुत कम मात्रा, थोड़ा, कम स्थान, एक क्षण के अर्थ में मिलता है। आधुनिक हिन्दी में 'तिल' से समय की सूचना या उसकी स्वल्पता का अर्थ नहीं मिलता। प्रस्तुत क्रमांक के दोहे में 'तिलकु' क्षण के लिये प्रयुक्त है। संस्कृत के अर्थ छोटा टुकड़ा या कण के आधार पर ही अर्थ-प्रस्फोट द्वारा कम मात्रा अर्थ हुआ है। मात्रा तथा स्थान, मूर्त प्रसंग हैं, परन्तु क्षण अमूर्त हैं। अत· यहाँ पर मूर्त अर्थ का आरोप अमूर्त अर्थ पर होने से अर्थारोप का तत्व मिलता है।

[३१]. थुरहथी २९६. १ (छोटे हाथों वाली, छोटी हथेली वाली)

यह यौगिक शब्द है जो 'थुर' + हथी से बना है। 'थुर' संस्कृत 'स्थूल' का विकसित रूप है। 'स्थूल' का प्रयोग बड़ा, मोटा, मोटा-ताजा, भारी, गहन, रूखा, मूर्ख, अज्ञान, ढेर और मात्रा के लिये मिलता है। पालि 'थुल्ल' 'थुल्लो' 'थूल' तथा 'थूलो' के अर्थ संस्कृत की ही भाँति है, परन्तु एक और भी अर्थ प्राप्य है—सामान्य, निम्न। प्राकृत 'थुल्ल' तथा 'थूल' मोटा के अर्थ में मिलता हैं। बँगला में 'थूल' मोटा के लिये तथा हिन्दी में 'थूल' जो दिखाई दे, सूक्ष्म का उलटा, मोटा और भारी, भद्दा के लिये प्रयुक्त होता है।

प्रस्तुत दोहे में 'थुर' छोटा के अर्थ में आया है जो किसी भी काल में नहीं मिलता। यह पालि में प्राप्त एक अर्थ 'सामान्य' 'निम्न' के आधार पर अर्थ-प्रस्फोट द्वारा 'छोटे' का अर्थ देता है। श्री रामचन्द्र वर्मा ने 'थुरहथा' या 'थुरहथी' का एक अर्थ 'कंजूस' दिया है जो उक्त आधार पर ही सम्भव है। अतः यहाँ अर्थ में प्रस्फोट के माध्यम से अर्थ-संकोच-तत्व प्राप्त है।

[३२] दीरघ ४९०.१ (प्रचण्ड, दारुण)

यह संस्कृत 'दीर्घ' का विकसित रूप है। 'दीर्घ' के अर्थ हैं—लम्बा (स्थान, काल), ऊँचा, लम्बा (निश्वास)। पालि में 'दीघ,' 'दीघो' (लम्बा), प्राकृत में' दीह' (आयत, लम्बा); बँगला में 'दीघ', 'दीर्घ' (लम्बा, अधिक, सुदूर विस्तृत, बहुकालव्यापी, वृहत्, आयत); ओड़िया में 'दीर्घ' (लम्बा-स्थान, काल, सुदूरव्यापी, लम्बा, ऊँचा, अधिक विस्तृत, व्यापक, फैला हुआ, भारी, बड़ा, लम्बा नि:श्वास) तथा हिन्दी में 'दीरघ', 'दीर्घ' तथा 'दीह' (विस्तृत, लम्बा, बड़ा, विशाल) रूप प्राप्त हैं। इस प्रकार आ० भा० आ० काल में अर्थ-प्रस्फोट द्वारा 'दीर्घ' के अनेक अर्थ निष्पन्न हुए हैं। प्रस्तुत दोहे में 'दीरघ' का प्रयोग प्रचण्ड, दारुण के अर्थ में हुआ है जो आधुनिक हिन्दी में नहीं मिलता है अत आधुनिक अर्थ से तुलना करने पर यहाँ अर्थ प्रस्फोट के माध्यम से अर्थ-सकोच-तत्त्व प्राप्त है।

[३३] सुदेस ११९.१ (उच्च पद वाले, श्रेष्ठ स्थान वाले)

यह सु + देस से बना यौगिक शब्द है। सु उपसर्ग अच्छे, उच्च या श्रेष्ठ का द्योतक है। 'देस' संस्कृत 'देश' का विकसित रूप है। संस्कृत 'देश,' प्राकृत और बंगला 'देस,' ओड़िया 'देश' तथा हिन्दी 'देस' और 'देश' का एक अर्थ समान रूप से स्थान या प्रदेश है जो संज्ञा रूप में प्रयुक्त होता है, परन्तु यहाँ पर विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अतः अर्थारोप के माध्यम से अर्थ-प्रस्फोट तत्व मिलता है क्योंकि प्रस्तुत दोहे में 'सुदेस' का अर्थ उच्चपद वाला है।

[३४] धोती ४७९.१, धोवती ४८०.१ (धोती, वस्त्र)

'धोवती', धोती से ही विकसित हुआ है और 'धोती' संस्कृत 'धौत' में स्त्रीलिंगबोधक प्रत्यय 'ई' लगाकर बना है। संस्कृत 'धौत' के अर्थ है—धोया हुआ, साफ किया हुआ, चमकाया हुआ, चमकता हुआ, श्वेत। पालि में 'धोतो' तथा प्राकृत में 'धोअ' रूप मिलते हैं जिनसे धोया हुआ, प्रक्षालित, साफ का अर्थ प्राप्त होता है। बंगला में 'धुति,' 'धुती,' 'धूती' शब्द परिधेय वस्त्र के लिये प्रयुक्त हैं। ओड़िया में 'धोति' का अर्थ पुरुष के पहनने का वस्त्र, अधोवस्त्र है। हिन्दी में 'धोती' का अर्थ हैं—कमर के नीचे घुटनों तक (और स्त्रियों के लिये पूरा शरीर) ढकने के लिये कमर में लपेट कर पहनने का कपड़ा। आ० भा० आ० के ये विशेष अर्थ 'धुले हुए' के आधार पर ही प्रस्फुटित हुए हैं।

आजकल पुरुषों के पहनने के अधोवस्त्र को तो धोती कहते हैं और स्त्रियों के वस्त्र को अधिकांशतः साड़ी। प्रस्तुत अंश में 'धोती' का अर्थ स्त्री की धोती या साड़ी है। अतः आधुनिक अर्थ के अनुसार 'धोती' के अर्थ पर साड़ी का अर्थ आरोपित है। इस प्रकार यहाँ अर्थारोप के माध्यम से अर्थ-संकोच तत्व पाया जाता है।

[३५] नाँदि ११५.२ (प्रसन्न होना तथा भभकना)

इसका सम्बन्ध संस्कृत √नंद् धातु से है जिसका अर्थ है—प्रसन्न होना, किसी से सन्तुष्ट होना। पालि में 'नंदति' का एक और अर्थ प्राप्त है—गर्वित होना। प्राकृत 'नाद' खुश होना, आनंदित होना, समृद्ध होना के अर्थ में है। बंगला में 'नंद' संज्ञा तथा विशेषण दोनों रूप में प्रयुक्त मिलता है। ओड़िया में 'नंद के अर्थ संस्कृत के समान हैं। हिन्दी में संस्कृत तथा प्राकृत के 'नंद्' एवं 'णंद' रूपों का विकसित रूप 'नांदना' मिलता है जिसके अर्थ है आनन्दित या प्रसन्न होना तथा बुझने से पहिले दीपक का भभकना। आधुनिक हिन्दी में तथा अन्य किसी भाषा में यह 'भभकना' अर्थ प्राप्त नहीं है। यहाँ पर नायिका के प्रसंग में प्रसन्न होना तथा दीपक के प्रसंग में भभकना अर्थ निकलता है। दीपक का भभकना अमंगल-सूचक है जो प्रसन्न होना के उल्टा है। फलतः यहाँ अर्थ-विपर्यय के द्वारा अर्थ-संकोच-तत्व मिलता है।

[३६] निसानि १०३.२ (ध्वजा)

यह फारसी निशान का विकसित रूप है निशान के अर्थ हैं—चिह्न मुहर तीरन्दाज का निशाना, पद्धल्ला, ध्वजा पारिवारिक अस्त्र-शस्त्र कवच सम्बन्धी सामग्री राजा

द्वारा दिया गया पत्र सीमा, घाव पूर जाने पर रहने वाला चिह्न भाग हिस्सा, अवसर भगला 'निशान निशाना चिह्न निदर्शन दाग तथा अंक के लिये प्रयुक्त होता है ओड़िया 'निसाण' भी इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में 'निशान' निशान, ऐसा चिह्न या लक्षण जिससे कोई चीज पहचानी जा सके या बात या घटना का परिचय मिले, बनाया हुआ चिह्न, शरीर में दाग; वह चिह्न जो अशिक्षित अपने हस्ताक्षर के बदले लगते हैं, पता-ठिकाना के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

प्रस्तुत दोहे में 'निसानि' ध्वजा के लिये प्रयुक्त है। आजकल लोकगीतों को छोड़कर 'निसान' इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। उससे दाग या चिह्न, पता, ठिकाना के ही अर्थ प्रकट किये जाते हैं। ध्वजा या पताकाओं में विशिष्ट चिह्न अंकित रहते हैं अथवा व्यक्ति विशेष को द्योतित करने के लिये ही ध्वजाएँ होती हैं। मूल अर्थ के आधार पर यह अर्थ प्रस्फुटित हुआ है, फलतः अर्थ-प्रस्फोट के माध्यम से अर्थ-संकोच तत्व प्राप्त है।

[३७] पढ़ी ३५८.१ (सीख लिया)

यह संस्कृत √पठ् धातु से व्युत्पन्न है। 'पठ्' का अर्थ पढ़ना, आवृति करना, पाठ करना, ईश्वर का नाम लेना, अपने आप पढ़ना, अध्ययन करना, सिखाना, पढ़ाना, उद्धृत करना, उल्लेख करना, व्यक्त करना, घोषणा करना, किसी से सीखना आदि उपलब्ध होता है। पालि में 'पटति' का अर्थ भी पढ़ना, आवृति करना है। प्राकृत में 'पठ' के अर्थ पढ़ना, अभ्यास करना, बोलना तथा कहना मिलते हैं। बँगला में 'पड़ा' अध्ययन करना, पाठ करना के लिये और ओड़िया में 'पढ़िबा' पढ़ना, सीखना, पाठ करना, आवृति करना, बोलना, किसी लिखावट को पढ़ना के लिये प्रयुक्त हैं। हिन्दी में 'पढ़ना' के कई अर्थ हैं—पुस्तक या लेख में लिखी बातों या विषय को इस प्रकार देखना कि उनका ज्ञान हो जाय, अध्ययन करना, उच्चारण करना, बाँचना, मंत्र-कविता आदि का सुनाना, जादू करना, मंत्र फूंकना, तोता-मैना द्वारा पढ़ाये शब्दों का उच्चारण। यहाँ पर 'पढ़ी' सीखने के अर्थ में प्रयुक्त है जो आजकल प्रचलित नहीं है; अतः यहाँ पर अर्थसंकोच-तत्व प्राप्त है।

[३८] पातुर २८५.२ (वेश्या)

यह संस्कृत 'पात्र' का विकसित रूप है। पात्र के अर्थ है—अभिनेता, अभिनेता की वणिका, नाटक का नायक। पालि में 'पत्त' पात्र-विशेष, भिक्षापात्र के लिये प्रयुक्त मिलता है। प्राकृत में 'पत्त' का अर्थ भाजन, आधार, आश्रय, स्थान, दान देने योग्य गुणी लोग होता है। इस प्रकार प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० में 'पात्र' समान अर्थों में प्रयुक्त नहीं मिलता। गुजराती 'पातर', का अर्थ गणिका है। हिन्दी में 'पातुर', 'पातुरी' के अर्थ वेश्या, नटी प्राप्त हैं। इस प्रकार संस्कृत 'पात्र,' हिन्दी 'पातुर,' 'पातुरी' तथा गुजराती 'पातर' के अर्थों में पर्याप्त समानता है। परन्तु पालि तथा प्राकृत के 'पत्त' में नहीं। अत 'पात्र' से 'पातुर

का विकास आ० भा० आ० काल में ही सम्भव है और यह म० भा० आ० से होकर आ० भा० आ० में नहीं आया। उद्धृत अंश में 'पातुर' वेश्या के अर्थ में आया है। संस्कृत से तुलना करने पर इसके अर्थ में अपकर्ष दीखता है।

[३६] पानूस ६०२.२ (फानूस में रखा दीपक)

यह फ़ारसी 'फ़ानूस' का विकसित रूप है जिसका अर्थ प्रकाश-गृह है। बँगला मे 'फानस', 'फानुस', 'फानुष' रूप मिलते हैं, जो लालटेन, आलोकावरण, दीपावरण के अर्थ मे आते हैं। हिन्दी में 'पानूस' या 'फानूस' छत में टाँगने के लिये एक डण्डे के चारों ओर लगे हुए शीशे के कमल या गिलास आदि जिनमें मोमबत्तियाँ लगी रहती हैं, के लिये प्रयुक्त मिलता है। उद्धृत दोहे में 'पानूस' फानूस में रखे दीपक के लिये प्रयुक्त है। हिन्दी में यह अर्थ प्राप्त नहीं। यहाँ पर आधार के अर्थ पर आधेय (दीपक) के अर्थ के आरोप होने से अर्थारोप तत्त्व है और उसके द्वारा अर्थ-संकोच-तत्त्व भी।

[४०] पाप २६७.२ (आपद, कष्ट, बला)

यह संस्कृत 'पाप' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत में 'पाप' के अर्थ हैं दुर्भाग्य, आपद, कष्ट, दुष्टता, नुकसान, अधर्म, दोष, अपराध। पालि में 'पाप' (बुरा काम, अधर्म) तथा प्राकृत में 'पाव' (कुकर्म) रूप मिलते हैं। बँगला में 'पाप' का प्रयोग मनुष्य को पतित बनानेवाले कर्म, अधर्म, दुष्कृति, आपद, जंजाल के लिये तथा ओड़िया में अपराध, अधर्म, दोष, क्षति, आपद, दुर्भाग्य, हत्या के लिये होता है। हिन्दी में 'पाप' के अर्थ हैं इस लोक में बुरा माना जाने वाला और परलोक में अशुभ फल देने वाला कर्म, धर्म या पुण्य का उल्टा, पातक, गुनाह, अपराध, कसूर, जुर्म, पाप करने का विचार, बुरी नीयत, व्यर्थ की झंझट, बखेड़ा। आधुनिक हिन्दी में 'पाप' प्रमुखतया अधर्म, पातक, गुनाह के लिये प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत क्रमांक के दोहे में 'पाप' आपद, कष्ट के लिये प्रयुक्त है, जो संस्कृत, बँगला तथा ओड़िया में भी प्राप्त हैं। अतः यहाँ पर अर्थ-संकोच-तत्त्व मिलता है।

[४१] बदराह ६५. २(डाकू)

यह शब्द फ़ारसी 'बदराह' के मूल अर्थ में आया है। फ़ारसी में इसका प्रयोग सन्मार्ग से हटने की क्रिया अथवा दुष्ट के लिये होता है। बँगला में 'बदराह' कुपथगामी, पापी के लिये एवं ओड़िया में 'बदराहा' कुमार्ग, कदाचरण, कुमार्ग ग्रहण करने की क्रिया, दुष्ट के लिये प्रयुक्त मिलता है। हिन्दी में 'बदराह' बुरे रास्ते पर चलने वाले, कुमार्गी के लिये प्रयुक्त मिलता है। इस प्रकार फ़ारसी तथा ओड़िया में संज्ञा एवं विशेषण दोनों रूपों मे यह प्रयुक्त मिलता है, किन्तु हिन्दी तथा बँगला में विशेषण रूप में ही। प्रस्तुत दोहे में यह 'डाकू' के अर्थ में प्रयुक्त है। अतः यह अर्थ मूल अर्थ के आधार पर प्रस्फुटित हुआ है। फलतः अर्थ-प्रस्फोट के माध्यम से यहाँ अर्थ-संकोच-तत्त्व मिलता है

[४२.] बसीठि ५६१.१ (दूती)

यह संस्कृत 'वशिष्ठ' का विकसित रूप है और स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत 'वशिष्ठ' पालि 'वासिट्ठो' एवं प्राकृत 'वसिट्ठ' के अर्थ समान रूप से ऋषि विशेष है। आधुनिक हिन्दी में 'बसीठि' 'वासेट्ठो' या 'बसीठ' का प्रयोग नहीं मिलता और न बँगला तथा ओड़िया में ही। यहाँ 'बसीठि' दूत के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार व्यक्ति-विशेष के नाम से विकसित होकर यह शब्द बिलकुल भिन्न और सामान्य अर्थ 'दूत' देने लगा। इस प्रकार विशेष के अर्थ पर सामान्य का अर्थ आरोपित होने से अर्थारोप-तत्त्व प्राप्त होता है।

[४३] बिनोदु ६३८.२ (आनन्द)

यह संस्कृत 'विनोद' का विकसित रूप है जिसका अर्थ है—मनोरंजन, क्रीड़ा, खेल, आनन्द। प्राकृत में 'विणोद' खेल, क्रीड़ा, कौतुक तथा कौतूहल के लिये प्रयुक्त मिलता है। बँगला में 'विनोद' का अर्थ मनस्तुष्टि, औत्सुक्य, आमोद-प्रमोद होता है। ओड़िया में 'बिनोद' का प्रयोग आनन्द, प्रसन्नता, उत्सुकता, क्रीड़ा, मनोरंजन, व्यंग तथा परिहास के लिये होता है। हिन्दी में 'विनोद' अथवा 'बिनोद' के अर्थ हैं मन बहलाने वाली बात या काम, तमाशा, क्रीड़ा, परिहास, प्रसन्नता। यहाँ पर 'विनोदु' आनन्द के अर्थ मे प्रयुक्त है और यह अर्थ संस्कृत तथा ओड़िया में प्राप्त है। आधुनिक हिन्दी में इसका प्रयोग मजाक, मनोरंजन के अर्थ में ही होता है। अतः यहाँ पर अर्थ-संकोच-तत्त्व प्राप्त है।

[४४] बिलखो १३६.१ (चकित)

यह संस्कृत 'विलक्षित' से विकसित क्रियारूप है। 'विलक्षित' का एक अर्थ चकित, आश्चर्यान्वित, स्तम्भित प्राप्त है। प्राकृत 'विलक्ख' लज्जित, प्रतिभाशून्य, मूढ़ के लिये प्रयुक्त है। 'विलक्षित' के प्राकृत रूप के अर्थ होंगे—प्रतिभाशून्य किया, मूढ़ बनाया आदि। ओड़िया में 'विलक्ष' का एक अर्थ चकित है। अतः 'विलक्षित' का अर्थ होगा चकित किया हुआ। हिन्दी में 'बिलखना' शब्द बहुत रोना, विलाप करना, दुखी होना, सिकुड़ना के लिये प्रयुक्त होता है। कृदन्त रूप 'बिलखी' बहुत रोई हुई, विलाप की हुई, दुखी हुई, सिकुड़ी हुई के अर्थ में आयेगा। प्रस्तुत दोहे में 'बिलखो' का अर्थ चकित होगा, जो संस्कृत, पालि तथा ओड़िया में प्राप्त है। आधुनिक हिन्दी में 'बहुत रोने' के अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण यहाँ अर्थ-संकोच-तत्त्व मिलता है।

[४५] बीर ६५४.१ (भाई)

यह संस्कृत 'वीर' का विकसित रूप है। संस्कृत 'वीर' मनुष्य, पुरुष विशेष (बहादुर, पति, पुत्र, नर पशु), पालि 'बीर' अथवा 'वीरो' शक्तिशाली, पराक्रमी, बहादुर व्यक्ति, बुद्ध तथा बौद्ध भिक्षुओं के विशेषण के रूप में और प्राकृत 'वीर' पराक्रमी तथा शूर के अर्थ मे प्रयुक्त मिलता है। बँगला में 'वीर' के अर्थ हैं—वीर्यवान, शूर, साहसी, योद्धा, हनुमान, महावीर। ओड़िया में 'वीर' के अर्थ प्रधान, मुख्य, शक्तिशाली योद्धा, अभिनेता, उदार, धार्मिक, दयालु साहसी व्यक्ति हैं। हिन्दी में 'बीर' भ्राता, भाई, सखी-सहेली के अर्थ मे

और 'वीर' बहादुर, बलवान, योद्धा, सिपाही, भाई, पति, पुत्र आदि के लिये संबोधन के रूप मे आता है। इस प्रकार 'वीर' के संज्ञा और विशेषण रूप में दो प्रकार के अर्थ हैं। संस्कृत तथा हिन्दी में पति, पुत्र तथा भ्राता, सखी-सहेली अर्थ प्राप्त हैं, जो अन्य भा० आ० में प्राप्त नही हैं। इसका कारण यही हो सकता है कि भाई तथा पति में वीरता का आरोप किया जाय। अतः यहाँ विशेषण में संज्ञा का अर्थ आरोपित है। आजकल लोक-साहित्य में ही 'वीर' का प्रयोग भाई के लिये होता है। इस प्रकार यहाँ अर्थ-संकोच-तत्त्व मिलता है।

[४६] भज्यो २६६.१, भजत ४०७.२ (भोगते हुए)

यह संस्कृत √भज् धातु का विकसित रूप है। √भज् दो रूपों में प्राप्य है—परस्मैपद तथा आत्मनेपद। दोनों रूपों में एक साथ √भज् 'बाँटना या भाग करना' के अर्थ मे है, परन्तु केवल आत्मनेपद में √भज् 'देना' के अर्थ में है। इस रूप में और भी अर्थ प्राप्य है—पाना, उपभोग करना, ग्रहण करना, रूप धारण करना, चुनना, प्रेम करना, उपासना करना। पालि में 'भजति' सेवा करना, आदर करना, परिचय प्राप्त करना, अनुसरण करना, प्राप्त करना, प्रेम करना के अर्थ में तथा प्राकृत 'भज' तथा 'भय' सेवा करना, विभाग करना, ग्रहण करना के अर्थ में प्रयुक्त हैं। बँगला में 'भजा' (उपासना करना), ओड़िया मे 'भजिबा' (पूजा करना, माला जपना, आसक्त होना, प्राप्त करना, अनुभव करना, सहन करना, प्रशंसा करना, प्रेम करना, वरण करना, अभ्यास करना, सेवा करना, किसी व्यक्ति को प्रसन्न करना) तथा हिन्दी मे 'भजना' (देवतादि का नाम रटना, भजन करना, जपना भोगना, धारण करना या वहन करना) रूप प्राप्त हैं।

सभी कालों में इसका एक अर्थ 'जपना', 'नाम लेना' प्राप्त है, जो आधुनिक हिन्दी मे भी मिलता है। ४०७.२ में 'भजत' लिप्त होने, भोगने के अर्थ में है। यह अर्थ संस्कृत तथा ओड़िया में है। आधुनिक हिन्दी में न होने से यहाँ अर्थ-संकोच-तत्त्व पाया जाता है। २६६.१ में 'भज्यो' धारण करने के अर्थ में प्रयुक्त है। संस्कृत में √भज् का एक अर्थ धारण करना, वस्त्र पहनना और प्राकृत में ग्रहण करना है। आधुनिक हिन्दी में इसका प्रयोग इस अर्थ में नहीं होता। अतः यहाँ भी अर्थ-संकोच-तत्त्व है।

[७४] भटभेरा २५४. १ (सामना)

यह यौगिक शब्द है, जो भट + भेरा से बना है। संस्कृत 'भट', पालि 'भट', 'भटो', प्राकृत 'भड' एवं बंगला, ओड़िया तथा हिन्दी 'भट' का एक अर्थ समान रूप से 'योद्धा' मिलता है। 'भेरा' प्राकृतकालीन देशी शब्द 'भिड' से व्युत्पन्न जान पड़ता है जिसके अर्थ होते है मिलना, सटना, सट जाना, लड़ना, मुठभेड़ करना। बंगला में 'भिड़ना' मिलने, सटने, जुड़ने, घिसने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। ओड़िया में 'भिडिबा' जोर से खींचना, कस कर बाँधना, आलिंगन करना, दबाना, जोड़ना, फल को हाथ से मारना, चलती सवारी को रोकना फुर्ती से चलना मजबूती से आसन लगाना बधन को फसाना के अर्थ में आता है

हिन्दी में भिड़ना टक्कर खाना, टकराना, लड़ना, साथ लगना, सटना के अर्थ में व्यवहृत होता है। इस प्रकार से प्राकृत तथा हिन्दी अर्थों में साम्य है। बंगला तथा ओड़िया में 'लड़ना' अर्थ नहीं मिलता। श्री रामचन्द्र वर्मा ने 'भटभेरा' का अर्थ 'वीरों का आपस में लड़ना', 'भिडंत दिया है। उद्धृत दोहे में यह शब्द शरीर से शरीर का स्पर्श या सामना के अर्थ में प्रयुक्त है। यह अर्थ प्राकृत तथा ओड़िया में प्राप्त है। धक्का, टक्कर, अनायास भेंट जैसे अर्थ मूल अर्थ के आधार पर ही प्रस्फुटित हुए हैं। अतः यहाँ अर्थ-प्रस्फोट के माध्यम से अर्थ-संकोच-तत्त्व मिलता है।

[४८] मत ४७६.१ (चेतना, होश)

यह संस्कृत 'मति' का विकसित रूप है। 'मति' के अर्थ हैं भक्ति, प्रार्थना, पूजा, मंत्र, विचार, उद्देश्य, प्रस्ताव, निश्चय, इच्छा, बुद्धि, बोध, संबुद्धि, निर्णय, सम्मान, स्मृति। पालि मे 'मति' (मनु, संबुद्धि, विचार, कल्पना, ज्ञान, इच्छा, सम्मति) तथा प्राकृत में 'मइ' (बुद्धि मेधा, मनीषा, ज्ञान) रूप प्राप्त हैं। बंगला, ओड़िया तथा हिन्दी में भी 'मति' का प्रमुख अर्थ बुद्धि है। हिन्दी में 'मत' सम्मति, विचार, राय, भाव, आशय के लिये प्रयुक्त होता है। पालि, प्राकृत, बंगला तथा ओड़िया में 'मति' का एक अर्थ समान रूप से 'ज्ञान' है। प्रस्तुत दोहे मे 'मत' का प्रयोग चेतना, होश के लिये हुआ है। संस्कृत तथा प्राकृत में 'मति' का एक अर्थ 'बोध' है। प्रस्तुत अर्थ इसी से सम्बद्ध है। वर्तमान हिन्दी में यह अर्थ नहीं मिलता, अतः यहाँ अर्थ-संकोच-तत्त्व प्राप्त होता है।

[४९] मुहूरत ६२४.२ (काल, समय)

यह संस्कृत 'मुहूर्त' का विकसित रूप है। 'मुहूर्त' के अर्थ हैं—अत्यल्प काल, कुछ क्षण, दिन का ३० वाँ भाग, ४८ मिनट। पालि 'मुहुत्त' तथा 'मुहुत्तो' एवं प्राकृत 'मुहुत्त' के अर्थ भी इसी के समान हैं। बंगला 'मुहूर्त', ओड़िया 'मुहुरुत' भी अत्यल्प काल, ४८ मिनट के समय को द्योतित करते हैं। हिन्दी में 'मुहूरत' अथवा 'मुहूर्त' का विशेष अर्थ है 'फलित ज्योतिष के अनुसार निकाला हुआ वह समय जब कोई कार्य किया जाय'। आधुनिक हिन्दी मे 'मुहूर्त' प्रमुख रूप से 'शुभ घड़ी' तथा 'अत्यल्प समय' के लिये प्रचलित है। 'अत्यल्प काल' का अर्थ समस्त कालों में प्राप्त है, परन्तु फलित ज्योतिष वाला अर्थ नहीं मिलता। प्रस्तुत दोहे में यह काल या समय बताता है, जो अत्यल्प न होकर दीर्घ अवधि का हो सकता है, अतः यहाँ पर अर्थ-संकोच का तत्त्व प्राप्त होता है।

[५०] मौज ८२.२ (उमंगपूर्वक किया गया दान)

यह अरबी शब्द है, जो मूल रूप में यहाँ प्रयुक्त हुआ है। अरबी में 'मौज' के अर्थ हैं—उद्वेलित होना, सागर का लहराना, लहर, तरंग, ख्याल, सनक। बंगला में 'मौज' लहर, तरंग, ख्याल, सनक के लिये तथा ओड़िया में 'मउज' या 'मौज' आनंद, आनन्द की लहर, ऐन्द्रिक भोग से प्राप्त आनन्द के लिये प्रयुक्त होता है हिन्दी मौज लहर तरंग मन की उमग के अर्थ में आता है इस प्रकार बंगला तथा हिन्दी के अर्थ समान हैं। आधुनिक

हिन्दी मे 'मौज' मन की तरंग, उमंग के लिये प्रयुक्त होता है। उद्धृत दोहे में 'मौज' उमंग-पूर्वक किया गया दान के अर्थ में आया है। इस प्रकार उमंग से उमंगपूर्वक दान का अर्थ आरोप के माध्यम से ही प्राप्त हुआ है। आधुनिक हिन्दी में यह अर्थ न होने के कारण अर्थ-संकोच का तत्व पाया जाता है।

[५१] रूप ६८.१ (चिह्न)

यह संस्कृत 'रूप' के मूल रूप में प्रयुक्त है। संस्कृत में 'रूप' के अनेक अर्थ हैं जिनमे बाह्य आकृति, सौंदर्य, प्रकृति, चिह्न, लक्षण, मूर्ति एवं अवस्था प्रमुख हैं। पालि में 'रूप', 'रूपम्' के अर्थ आकृति, मूर्ति, शरीर, सौंदर्य हैं। प्राकृत में 'रूअ' (आकृति, आकार, सदृश, तुल्य), 'रूप' (पशु), 'रूव' (आकृति, आकार, सौंदर्य, वर्ण, मूर्ति, स्वभाव, शब्द, नाम) शब्द प्राप्त हैं। बँगला तथा ओड़िया के अर्थ संस्कृत के समान हैं, परन्तु बँगला में 'चिह्न' अर्थ नही मिलता। हिन्दी में एक अर्थ 'चाँदी-रूपा' भी है, परन्तु 'चिह्न' नहीं है।

निर्देशित दोहे में 'रूप' का प्रयोग 'चिह्न' के लिये हुआ है, जो आधुनिक हिन्दी में नही पाया जाता। यह अर्थ केवल संस्कृत या ओड़िया में पाया जाता है। अतः यहाँ अर्थ-संकोच-तत्त्व मिलता है।

[५२] सोक ४६५.२ (दुख)

यह संस्कृत 'शोक' का विकसित रूप है। 'शोक' के अर्थ हैं—जलन, ताप, लपट, लौ, गर्मी, दुख, व्यथा, पीड़ा, कष्ट, मूर्त दुख। पालि में 'सोक', 'सोको' दुख के लिये (पुत्रशोक) और प्राकृत में 'सोअ', 'सोग' अफ़सोस, दिलगीरी के अर्थ में प्रयुक्त हैं। बँगला, ओड़िया तथा हिन्दी में समान रूप से 'शोक' का एक अर्थ 'किसी प्रिय या प्रेमी की मृत्यु या विरह के कारण दुख' है। आधुनिक हिन्दी में यही अर्थ प्रचलित है, परन्तु प्रस्तुत दोहे में केवल 'दुख' के लिये शोक प्रयुक्त है। अतः यहाँ अर्थ-संकोच-तत्त्व मिलता है।

[५३] सयान २४०.१ (चतुरता)

यह संस्कृत 'ज्ञान' में स प्रत्यय लगाकर बने 'सज्ञान' का विकसित रूप है। संस्कृत 'ज्ञान' का अर्थ जानकारी, किसी वस्तु के सम्बन्ध में जानकारी, चेतना है। अत: 'सज्ञान' से जानकारी सहित, चेतनायुक्त अर्थ निकलेंगे। पालि में 'ज्ञान' तथा ज्ञानम्' जानकारी, संबुद्धि दृढ़ विश्वास, अंतर्दृष्टि के लिये और प्राकृत में 'णाण' तथा 'जान' ज्ञान, बोध, समझ के लिये प्रयुक्त है। बंगला 'सिआन,' 'सियाना', 'सेयान' तथा 'सेयाना' सज्ञान, चतुर के अर्थ मे और ओड़िया 'सिहाण' चतुर, चालक, धूर्त के अर्थ में तथा 'सिआन्' नेता, चतुर, सावधान के अर्थ में आते हैं। हिन्दी 'सयान', 'सयाना' अधिक अवस्था वाला, बुद्धिमान, धूर्त, चतुरता तथा चालकी के अर्थ में प्रयुक्त मिलता है।

मूल अर्थ के आधार पर ही धूर्त या चतुर अर्थ प्रस्फुटित हैं। हिन्दी में एक अथ चतुरता, चालाकी है जो आधुनिक हिन्दी में नहीं मिलता इस प्रकार विशेषण के अर्थ पर संज्ञा का अर्थ आरोपित हुआ है प्रस्तुत क्रमांक में संज्ञा वाला अर्थ चतुरता चालाकी प्रयुक्त

है। अत यहाँ अर्थारोप तत्व आया है साथ ही इस अर्थ में आधुनिक हिन्दी में प्रयुक्त न होने से अर्थ-सकोच-तत्व भी पाया जाता है।

[५४] साथ २१७.१ (समूह)

यह संस्कृत 'सार्थ' का विकसित रूप है। 'सार्थ' के अर्थ हैं—व्यापारियों या यात्रियों का घूमनेवाला समूह, कारवाँ, समान जाति के पशुओं का समूह, समूह, किसी समूह का व्यक्ति। पालि में 'सत्थ', 'सत्थो' (कारवाँ) तथा प्राकृत में 'सत्थ' (व्यापारियों का समूह, प्राणी-समूह) रूप प्राप्त है। बँगला, ओड़िया तथा पंजाबी में 'साथ' संग, सहित के अर्थ में तथा सिंधी में 'साथु', 'सथु', कारवाँ के अर्थ में प्रयुक्त हैं। हिन्दी में 'साथ' अव्यय की भाँति प्रयुक्त मिलता है। इस प्रकार आ० भा० आ० काल में 'समूह' अर्थ से ही अव्यय वाला अर्थ प्रस्फुटित हुआ है। उद्धृत दोहे में 'साथ' समूह के लिये प्रयुक्त है, जो आधुनिक हिन्दी में नहीं मिलता। अतः यहाँ अर्थ-संकोच-तत्व आया है।

[५५] सैन ५८७. २ (पलक)

यह संस्कृत 'संज्ञापन' से सम्बन्धित है। 'संज्ञापन' के अर्थ हैं सूचन, सूचना देने की क्रिया, शिक्षण। पालि में 'सञ्जाणु' बोध, अनुभव, ज्ञान, चिह्न, संकेत तथा प्राकृत मे 'सजा', 'संणा' आहार आदि की अभिलाषा, मति, बुद्धि, संकेत, इशारा, आख्या, नाम, सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान का अर्थ देते है। हिन्दी में 'सैन' संकेत, इशारा, चिह्न, निशान, पहिचान के लिये प्रयुक्त होता है।

प्रस्तुत दोहे में इसका अर्थ 'पलक' है। पलक से संकेत, इशारा किया जाता है, अतः पलक साधन है और संकेत साध्य। इस प्रकार साध्य के अर्थ पर साधन का अर्थ आरोपित होने से अर्थारोप और आधुनिक हिन्दी में 'पलक' अर्थ न मिलने से अर्थ-संकोच-तत्व प्राप्त होता है।

[५६] सौंधे ७.२ (सुगन्ध)

यह संस्कृत 'सुगन्ध' का विकसित रूप है। संस्कृत में 'सुगंध' के अर्थ हैं—मधुर गंध वाला, सुगंध युक्त। पालि में 'सुगंध' 'सुगंधो' (मधुर गंध वाला) तथा प्राकृत में 'सुअंध', 'सुगंध' (अच्छी गंध, अच्छी गंध वाला) रूप मिलते हैं। बँगला 'सोंदा', 'सोंधा' (गन्धयुक्त) तथा हिन्दी 'सोंध' (सुगंध, सोंधा) एवं 'सोंधा' (सुगंधित, खुशबूदार, कोई सुगंधित पदार्थ) समान अर्थ में प्रयुक्त हैं। हिन्दी में 'सौंध' 'सौंधा' एवं 'सुगंध' शब्द भी प्राप्त हैं। इस प्रकार 'सुगंध' अपने विकसित रूपों में संज्ञा तथा विशेषण के अर्थ में प्रयुक्त मिलता है। आधुनिक हिन्दी में 'सौंधा' विशेषण की भाँति प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत दोहे में यह संज्ञा रूप में प्रयुक्त है, अतः यहाँ अर्थ-संकोच-तत्व आया है।

प्राचीन भारतीय लेखन-सामग्री

● गोविन्दजी

लेखन सामग्री के अन्तर्गत वे वस्तुएँ आती हैं, जो लिखने के लिए आधारभूत रूप मे प्रयुक्त की जाती हैं और जिनकी सहायता से लेखन-कार्य किया जाता है। इन सामग्रियो की सहायता के बिना लेखन-कार्य असम्भव है। लेखन में जिन वस्तुओं का प्रयोग होता है वे हैं लेखनी, मसि (स्याही,) पंक्ति खींचने के साधन आदि तथा लिखने का आधार जैसे शिलापट्ट, कपड़ा, भूर्जपत्र, कागज आदि।

जब हड़प्पा और मोहनजोदड़ों की खुदाई नहीं हुई थी और सिन्धु-सभ्यता प्रकाश मे नहीं आई थी तब तक विद्वानों का (विशेषतः पाश्चात्य विद्वानों का) विचार था कि भारत मे लेखन-प्रणाली का विकास बहुत प्राचीन काल में नहीं हुआ। क्योंकि इस सम्बन्ध में अब तक जितने लिखित प्रमाण मिले हैं, उन्हें स्पष्टतः चार सौ वर्ष ईसा पूर्व से पहिले नहीं रखा जा सकता। ग्रीक-साहित्य के कतिपय उल्लेखों तथा अन्य आधारभूत प्रमाणों के आधार पर कुछ विद्वान् इस काल को ५वीं, ८वीं तथा १०वीं शती ईसा पूर्व तक खींच ले जाते हैं। भारतीय ज्ञान-विज्ञान के प्रशंसक एवं समर्थक जर्मन विद्वान् मैक्समूलर महोदय ने पाणिनी की 'अष्टाध्यायी' (उनके अनुसार रचना काल चौथी शती ई०पू०) में लिपि सम्बन्धी कोई उल्लेख न मिलने के कारण लिखा है कि चौथी शती ईसा पूर्व भारतीयों को लेखन-कला का ज्ञान नही था। मैक्समूलर की ही भाँति बर्नेल महोदय की धारणा है कि चौथी और पाँचवीं शती ई० पू० भारतीयों ने लिखने की कला फोनेशियन लोगों से सीखी। बूलर महोदय का मत है कि पाँच सौ ईसवी पूर्व भारतीयों ने सेमेटिक लिपि से अपनी ब्राह्मी लिपि का निर्माण किया। किन्तु अब इस प्रकार के मत तथ्यहीन हो गये हैं और सिन्धु-सभ्यता के प्राप्त अवशेषो एवं प्रमाणों से निःसन्देह कहा जा सकता है कि भारत में लेखन-प्रणाली का विकास बहुत प्राचीन काल में लगभग ३५०० वर्ष ईसा पूर्व हो गया था।

हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों की खुदाई में बहुत सी ऐसी सामग्रियाँ मिली हैं जिनको देखकर यह कहा जा सकता है कि इन पर कुछ लिखा है। ऐसी मुहरें और बर्तनों के टुकड़े काफी संख्या में पाये गये हैं जिन पर लेख उत्कीर्ण हैं। अभी तक इन मुहरों तथा बर्तनो पर उत्कीर्ण सङ्केत लिपि को न तो पढा जा सका है और न इनका अर्थ ही लगाया जा सका है तांबे की ऐसी अनेक पट्टियाँ पाई गयी हैं जिन पर कुछ लिखा गया है कांच में परिणित

मिटटी के निर्मित कङ्कणों पर छोटे छोटे अक्षर भी खुदे पाये गये हैं ?[१] मिट्टी या ताँबे के चादरों के अतिरिक्त अन्य कोई लेखन-आधार न मिलने के कारण सर जान मार्शल ने यह अनुमान लगाया है कि सिन्धु सभ्यता के निवासी लिखने के लिए मिट्टी के बदले में कम स्थायी वस्तुओं जैसे भूर्जपत्र, तालपत्र, चमड़ा, सूती वस्त्र आदि का उपयोग करते रहे होंगे जो कि समय-चक्र में स्वाभाविक रूप से नष्ट हो गये होंगे।[२] हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों से प्राप्त बर्तनों पर लाल-काली रेखाओं के अङ्कन हैं। कुछ बर्तन बहुरङ्गी भी मिले हैं।[३] मोहनजोदड़ों से एक ऐसे बर्तन का टुकड़ा उपलब्ध हुआ है जिसके एक ओर एक नाव का चित्र उत्कीर्ण है तथा दूसरी ओर चित्रात्मक अक्षर में कुछ लिखा हुआ है।[४] भेड़े की आकार की एक ऐसी मूर्ति भी मिली है जिसकी पीठ पर दावात की तरह का एक बर्तन है।[५] इन तथ्यों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि सिन्धु-सभ्यता के निवासी लिखने के लिए अवश्य ही मसि (स्याही) का प्रयोग करते रहे होंगे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि सिन्धु-सभ्यता कालीन लिपि अथवा विभिन्न प्रकार की लेखन-सामग्री का सही-सही ज्ञान हमको नहीं है, फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस काल में लेखन-प्रणाली का प्रचलन अवश्य हो गया था और लिखने के लिए विभिन्न प्रकार की सामग्रियों का उपयोग किया जाता था।

यद्यपि भारतीय लेखन-सामग्री का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है किन्तु इसका निश्चित एवं प्रामाणिक क्रम मौर्यकाल से पूर्व नहीं मिलता। मौर्यकाल में लिखित बौद्धों एवं जैनों की अनेक धार्मिक एवं साहित्यिक रचनाएँ उपलब्ध हैं। अब तक भारतीय लेखन-सामग्री के रूप में जितनी वस्तुएँ तथा उनके प्रमाण मिले हैं, उनका एक संक्षिप्त क्रमिक विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

आधार-सामग्री

पाषाण

सिन्धु-सभ्यता कालीन बर्तनों के टुकड़ों, मुद्राओं तथा ताँबे की पट्टियों के बाद लिखने का जो सबसे प्राचीन आधार उपलब्ध हुआ है, वह है पाषाण अथवा शिलाखण्ड। किसी महत्त्वपूर्ण घटना को चिरस्थायी बनाने के दृष्टिकोण से आतशी पत्थर, बालू पत्थर आदि को सुन्दर चिकना गढ़कर उस पर लिखने का कार्य प्राचीन काल में बहुत होता था। पहले रङ्ग, स्याही या कोयले से पत्थर पर लिख लिया जाता था, फिर छेनी या टाकियों तथा हथौड़े से उस लिखे हुए स्थान को खोदकर निकाल दिया जाता था।

पत्थर पर लिखे हुए प्राचीन राजकीय आदेश, धर्मशिक्षा, व्यक्तिगत अभिलेख तथा काव्य प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। अशोक के शिलालेख तो विख्यात ही हैं। काश्मीर का विशाल अद्वैत शैवमत जिस 'शिव सूत्र' पर आधारित है, वह पर्वत की शिला पर ही उटङ्कित था।[६] दूसरी शताब्दी के लगभग महाक्षत्रप रुद्रदामा द्वारा लिखवाया हुआ गिरनार का लेख पत्थर पर ही लिखा हुआ है, जो अलङ्कृत गद्य-काव्य का एक उत्तम नमूना है सम्राट

समुद्रगुप्त ने प्रयाग के स्तम्भ पर हरिषेण कवि रचित जो प्रशस्ति खुदवाई थी, वह भी गद्य-पद्य काव्य का उत्तम उदाहरण है। मेवाड़ में जैन-मन्दिर के पास एक चट्टान पर 'उन्नत शिखर पुराण' नामक दिगम्बर जैन-पुराण विक्रमी सं० १२२६ वि० में खुदवाया गया था जो अब भी वर्तमान है। बिझौली में एक विशाल जैन 'स्थलपुराण' कई सर्गों में पत्थर पर लिखा पाया गया है।[७] चौहान राजा विग्रहराज चतुर्थ का 'हरिकेल नाटक' तथा उनके राजकवि सोमेश्वर कृत 'ललितविग्रहराज' नामक नाटक शिलापट्टों पर लिखे पाये गये हैं, जो अजमेर के म्यूज़ियम में सुरक्षित हैं। रोडाकृत 'राउलवेल' नामक ११ वीं शताब्दी का एक शिलाङ्कित भाषा-काव्य प्राप्त हुआ है, जो बम्बई के प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूज़ियम में रखा गया है।[८] सबसे प्राचीन प्राप्त शिलालेखों में एक अजमेर जिले के बड़ली नामक ग्राम से और दूसरा नेपाल की तराई में पिपरावाँ नामक स्थान से मिले हैं। डॉ० बूल्हर तथा डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार ये अशोक के पूर्व के हैं।[९]

ईंट

पाषाण के अतिरिक्त मिट्टी द्वारा निर्मित ईंटों पर भी लिखने की प्रथा प्राचीन काल में प्रचलित थी। कच्ची मिट्टी के ईंटों या पट्टों पर लेख उत्कीर्ण कर उन्हें सुखा दिया जाता और उसके बाद उन्हें आग में पका दिया जाता था। मिट्टी द्वारा निर्मित बड़े-बड़े पट्टों पर भी लिखा जाता था। बौद्धकाल में इस प्रकार की ईंटों का प्रयोग बहुतायत से होता था। बौद्ध लोग अपने धर्म सम्बन्धी सूत्रों के प्रचार हेतु पत्थर की ही भाँति ईंटों का भी प्रयोग करते थे। कभी-कभी लेख का क्रम एक से अधिक ईंटों पर चला जाता था। वे ईंटें दीवाल में इस भाँति लगाई जाती थी कि अभिप्रेत लेख पूर्णतया पढ़ा जा सके। उत्तरी पश्चिमी प्रान्तो (अब पाकिस्तान) में ऐसी बहुत सी ईंटें पाई गयी हैं जिन पर बौद्धसूत्र लिखे हैं। मथुरा म्यूज़ियम में बड़े-बड़े ईंटों के कई टुकड़े रखे हैं जिन पर एक-एक पंक्ति खुदी हुई है। सम्भवतः ये ईंटें दीवाल में लगाने के हेतु तैयार की गयी होंगी। गोरखपुर के गोपाल गाँव से तीन अखण्डित ईंटें और कुछ टुकड़े उपलब्ध हुए हैं जिन पर दोनों ओर बौद्ध सूत्र खुदे हैं। आजमगढ से राहुल सांकृत्यायन को गुप्त कालीन बहुत सी ईंटें प्राप्त हुई थीं, जो वहाँ के स्थानीय हरिऔध कला-भवन में संग्रहीत हैं।[१०]

ईंटों के अतिरिक्त कभी-कभी मिट्टी द्वारा निर्मित बर्तनों तथा ठप्पों पर लेख खुदाये जाते थे और मुद्रायें लगाई जाती थी। पुरुषों की मुद्राओं के अतिरिक्त अनेक ठप्पों पर बौद्धो के धर्म मंत्र 'ये धर्म हेतु प्रभवा' की मुद्राएँ मिलती हैं। मिट्टी की छोटी-छोटी अनेक मुद्राएँ काफी संख्या में प्रयाग के संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

भूर्जपत्र या भोजपत्र

भूर्जपत्र या भोजपत्र प्राचीन काल में लिखने का प्रमुख आधार रहा है। भोजपत्र हिमालय-प्रदेश में पैदा होने वाले 'भूर्ज' नामक वृक्ष की छाल है, जो काग़ज़ की तर पतला होता है भूर्ज ठण्ढी वायु में उत्पन्न होनेवाला वृक्ष है जिसकी ऊँचाई कभी-कभी साठ फुट तक होती है हिमालय में १४००० फीट की ऊँचाई पर यह बहुतायत रे

पाया जाता है। भूर्ज की छाल को एक विशेष विधि से तैयार करके उस पर लिखा जाता था। छाल के लगभग एक बालिस्त और गज भर लम्बे भाग को काटकर उसे मजबूत चिकना बनाने के लिए उस पर तेल लगाया जाता था। फिर उसे कौड़ी या अन्य किसी चिकनी वस्तु से गेल्हा जाता था और तब लिखाई का काम होता था। अब तो भोजपत्र का प्रयोग केवल तन्त्र-मन्त्र के लिए होता है।

भोजपत्र की पोथियाँ अलग-अलग पत्रों पर होती थीं। इनके बीच में छेद के लिये जगह छोड़कर इधर-उधर लिखा जाता था और ऊपर-नीचे लकड़ी की पाटी रखकर बीच से ग्रन्थन होता था। मुगलकाल में काग़ज़ की पुस्तकों की भाँति इन पर भी जिल्द बाँधी जाने लगी थी।

भोजपत्र की पुस्तकें बहुत टिकाऊ नहीं होतीं। अतः भोजपत्र पर लिखी अनेक पुस्तकें नष्ट हो गयी हैं। उत्तरी भारत में, विशेष रूप से काश्मीर तथा हिमालय प्रदेशों में भूर्जपत्र पर लिखने की विशेष प्रथा रही है। सम्भवतः इसका कारण हिमालय में भोजपत्र की अधिकता तथा लिखने के लिये सुविधाजनक होना है। यूनानी सन्दर्भों से विद्वानों की ऐसी धारणा है कि सिकन्दर के भारत आक्रमण के समय भोजपत्र का प्रयोग लिखने के लिए विशेष रूप से होने लगा था। भोजपत्र पर लिखी अधिकांश पुस्तकें काश्मीर से उपलब्ध हुई हैं। भोजपत्र पर लिखित जो प्राचीनतम अभिलेख प्राप्त हुआ है वह खरोष्ठी लिपि में लिखा हुआ प्राकृत 'धम्मपद' है जो खोतान से मिला है।[११] डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार यह सन् ईसवी की दूसरी या तीसरी शताब्दी का होना चाहिये। सबसे पुरानी संस्कृत पुस्तक जो भोजपत्र पर लिखी मिली है वह 'संयुक्तागम सूत्र' है। इसकी लिखावट से विद्वानों ने इसका लिपिकाल सन् ईसवी की चौथी शताब्दी माना है। इनके अतिरिक्त भोजपत्र पर लिखी अनेक पुस्तकें कलकत्ता, पूना, लाहौर, लन्दन, बर्लिन, आक्सफोर्ड आदि स्थानों के पुस्तकालयों में संग्रहीत हैं।

ताड़पत्र या तालपत्र

ताड़पत्र या तालपत्र, ताड़ नामक वृक्ष के पत्ते हैं। ताड़ वृक्ष विशेषतः समुद्र के किनारे उत्पन्न होता है। इसके पत्ते काफी लम्बे और चौड़े होते हैं। तालपत्र को उबालकर उसे शङ्ख या अन्य किसी चिकने पदार्थ से रगड़ कर गेल्हा जाता था। गेल्हने के बाद लोहे की कलम या कटारी से उन पर अक्षर कुरेद दिया जाता था, फिर काली स्याही लेप दी जाती थी जो गड्ढों में भर जाती थी। चिकने अंश पर से स्याही पोंछ दी जाती थी। लोहे से कुरेद कर लिखने की प्रथा दक्षिण भारत में ही थी। उत्तर भारत में तथा पूर्व भारत में उन पर उसी प्रकार लिखा जाता था जिस प्रकार भोजपत्र या कागज पर लिखा जाता है। इन तालपत्रों की लम्बाई एक फीट से तीन फीट तक तथा चौड़ाई एक से सवा फीट तक होती थी। लिख लेने के पश्चात् पत्रों के बीच में छेद कर उन्हें नत्थी कर दिया जाता था अथवा ग्रन्थ के दाहिने या बायें छेद करके सूत से बाँध दिया जाता था ताकि तालपत्र इधर-उधर न होने पावें।

तालपत्रों पर लिखने की सर्वप्रथम चर्चा चीनी यात्री ह्वेनत्सांग (७वीं श० ई०) ने अपने भारत-वर्णन में किया है। किन्तु लिखने के लिये तालपत्र का प्रयोग बहुत पहले से ही

होता था। अब तक तालपत्र पर लिखी जो सबसे पुरानी पुस्तक मिली है वह एक संस्कृत नाटक का त्रुटित अंश है। विद्वानों का अनुमान है कि इसकी लिपि दूसरी शताब्दी ईसवी की है।[12] काशगर से प्राप्त तालपत्रों पर लिखित कुछ हस्तलेखों को लिपिशास्त्र के आधार पर विद्वानों ने चौथी शताब्दी के आस-पास का लिखा हुआ सिद्ध किया है। मध्यभारत से जापान पहुँची हुई 'प्रज्ञापारमिता हृदयसूत्र' तथा 'उष्णीष विजयधारिणी' नाम की दो बौद्ध पोथियाँ वहाँ के होरियूजि मठ में सुरक्षित हैं जो पण्डितों के अनुसार सन् ईसवी की छठी शताब्दी के आस-पास लिखी गयी होगीं। नेपाल के ताड़पत्र-पुस्तक-संग्रह में एक 'स्कंद पुराण' की तथा कैम्ब्रिज के संग्रह में 'परमेश्वर तन्त्र' की प्रतियाँ सुरक्षित हैं। भोजपत्र पर लिखित कुछ ऐसे अभिलेख मिले हैं जिनको काटकर ताड़पत्रों के आकार का बनाया गया है। तक्षशिला से एक ताँबे की चादर भी उपलब्ध हुई है जो तालपत्र के आकार के अनुरूप है। ये वस्तुएँ प्रथम शती ईसवी के बाद की नहीं हैं।[13]

इन तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि लिखने के लिए तालपत्रों का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से ही तालपत्रों की जन्मभूमि दक्षिण में ही नहीं, बल्कि सुदूर उत्तर के प्रदेशों तथा पञ्जाब आदि में भी होता था। ११वीं शताब्दी तथा इसके बाद की बहुत सी पुस्तकें नेपाल, गुजरात, राजपूताना तथा योरोप के संग्रहालयों में रखी हुई हैं।

वस्त्र या कपड़ा

स्मृति ग्रन्थों तथा सातवाहनकालीन अभिलेखों से ऐसा सङ्केत मिलता है कि सूती तथा रेशमी कपड़े लिखने के लिए उपयोग में लाये जाते थे जिस पर राजकीय तथा व्यक्तिगत आलेख लिखे जाते थे। इनको पट्, पटिका या कार्पासिक पट् कहा जाता था। कपड़े पर लिखने के लिये पहले इमली के बीज को पीसकर उस पर लेप कर दिया जाता था, फिर उसको कोयले या कालिख से काला कर दिया जाता था और खड़िया मिट्टी से उस पर लिखा जाता था।

रेशमी कपड़े लिखने के लिए विशेष उपयोग में लाये जाते थे। बूल्हर महोदय को जैसलमेर से एक ऐसा रेशमी वस्त्र मिला है जिस पर स्याही से जैन-सूत्रों की सूची लिखी गयी है। पेटर्सन महोदय को भी अणहिल्वाड़ा पाटन से कपड़े पर लिखा एक हस्तलेख मिला है जिस पर संवत १४१८ वि० तिथि दी गयी है। रेशमी कपड़ों पर लिखे हुए कई प्रलेख खरोष्टी तथा ब्राह्मी लिपियों में स्टेईन महोदय को यमन के खण्डहरों तथा मिरान के प्राचीन मन्दिरों से प्राप्त हुए हैं।[14] अलबेरूनी ने भी रेशमी वस्त्रों पर शाही वंशावलियों के लिखने की चर्चा की है।

काष्ट फलक या लकड़ी की पट्टियाँ

बौद्ध ग्रन्थ 'विनयपिटक' एवं जातकों में लकड़ी की पट्टियों पर लिखने की चर्चा मिलती है। पश्चिम के एक क्षत्रप नहपाण के एक अभिलेख में नगर-भवन में लगे पट्टियों फलकों का वर्णन है जिस पर ऋण ... ो अनुमप लिखा जाता था बर्मा में वार्निश की

हुई काठ की पट्टियाँ लिखने के लिये विशेष रूप से प्रयोग में लाई जाती थी। असम से प्राप्त एक पट्टिका आक्सफोर्ड की बोएलियन लाइब्रेरी में सुरक्षित है।

भोजपत्र तथा कपड़े की अपेक्षा काठ की पट्टियाँ अधिक टिकाऊ होती थीं। आज भी प्रारम्भिक कक्षा में विद्यार्थी काठ की पट्टियों पर अक्षर ज्ञान करते हैं। यह प्रथा देहातो मे अधिक प्रचलित है।

चर्मपत्र

सुबन्धु के 'वासवदत्ता' नामक पुस्तक में आये उल्लेखों से ऐसा अनुमान किया जाता है कि चमड़े का प्रयोग लेखनाधार के रूप में किया जाता था।[१५] किन्तु चमड़े पर लिखा कोई हिन्दू लेख अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। चर्मपत्र पर विशेष न लिखने के मूल मे सम्भवतः धार्मिक भावना तथा चमड़े की अपवित्रता कारण रही हो। योरोपीय संग्रहालयो मे काशगर से प्राप्त चर्मपत्र पर अङ्कित कुछ ऐसे अभिलेख रखे गये हैं जो भारतीय अक्षरो से मिलते हैं। स्टेईन महोदय को चीनी तुर्किस्तान यात्रा में लगभग दो दर्जन ऐसे राजकीय अभिलेख मिले हैं जो खरोष्टी में चर्मपत्र पर लिखे गये हैं। इन चर्मपत्रांकित अभिलेखों पर तिथि भी दी गयी है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये अभिलेख भारतीय सभ्यता के बौद्ध-जन-सम्पर्क में लिखे गये। विंसेण्ट स्मिथ महोदय ने अपने एक लेख में स्ट्रैबो (Strabo) का उल्लेख किया है जिसके पास एक ऐसा चर्मपत्र था जो किसी भारतीय अधिकारी द्वारा आगस्टस सीज़र (मृत्यु १४वीं श० ई०) को भेजा गया था।[१६] इन तथ्यों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चमड़े को अशुद्ध मानने तथा धार्मिक भावना के बावजूद भी भारत मे चमड़े पर लिखने की प्रथा थी।

धातु

भारतीय साहित्य में धातुओं का केवल नामोल्लेख मात्र ही नहीं है, बल्कि उन पर लिखे बहुत से अभिलेख तथा अनुदान पत्र पाये गये हैं। सोना तथा चाँदी सदृश बहुमूल्य धातुएँ भी लिखने के लिए उपयोग में लाई जाती थीं। बौद्धों की जातक कथाओं में कुटुम्ब सम्बन्धी आवश्यक विषयों, राजकीय आदेशों तथा धर्म-नियमों के स्वर्ण-पत्रों पर खुदने का उल्लेख मिलता है। तक्षशिला के समीप गंगू नामक स्तूप से खरोष्टी लिपि में लिखा हुआ सोने का पत्तर जनरल कनिंघम को प्राप्त हुआ था। बर्मा के ह्रोम नामक स्थान से पाली में खुदे हुए सोने के दो ऐसे पत्र मिले हैं जिनकी लिपि सन् ईसवी की चौथी-पाँचवीं शताब्दी की जान पड़ती है। भट्टिप्रोलू के स्तूप से तथा तक्षशिला से भी चाँदी के पत्रों पर भक्तिपूर्ण अभिलेख प्राप्त हुए हैं। मूल्यवान होने के कारण सोने-चाँदी के पत्तरों पर लिखने की प्रथा प्राचीनकाल में बहुत कम थी।

लेखन-सामग्री के रूप में प्रचलित धातुओं में ताँबा सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। ताम्रपत्रों पर लिखने की विशेष प्रथा रही है। राजाओं तथा सामन्तों के द्वारा मन्दिर, मठ, ब्राह्मण, साधु आदि को दिये हुए दान के प्रमाणपत्र ताँबे पर खुदवा कर दिये जाते थे।

ताम्रपत्रों पर लिखी बातें बहुत स्थायी होती थी। फाह्यान (४०० ई० के लगभग) ने ताम्रपत्रों पर अनुदान के लिखने की चर्चा की है। सोधौरा से एक ऐसी ताँबे की चादर प्राप्त हुई है जिस पर मौर्य-कालीन राजकीय आदेश लिखा है। यह चादर पिघलाकर ढाली हुई ज्ञात होती है जिस पर अक्षर और चिह्न स्पष्ट रूप से उभरे हुए है।[१७]

ताँबे की चादरों पर लिखे अभिलेख विभिन्न रूपों में पाये गये हैं। ताम्रपत्रों की मोटाई, चौड़ाई तथा लम्बाई में भी स्थान-भेद से विभिन्नता मिलती है। दक्षिणी भारत के ताम्रपत्र कम चौड़े होते हैं जब कि उत्तरी भारत के अधिक चौड़े। राजाओं के दानपत्र ताम्रपत्रों पर लिखे विशेष मिलते हैं। ये दानपत्र कभी तो केवल एक पत्र पर लिखे होते है और कभी कई पत्रों पर। एक से अधिक पत्र बीच में छेदकर छल्लों के रूप में किसी धातु के तार से नत्थी कर दिये जाते थे। राजस्थान से ऐसे अनेक दानपत्र उपलब्ध हुए है। छोटी कविताएँ भी दानपत्रों पर लिखी पाई गयी हैं। मद्रास के तिरुपति नामक स्थान में ताँबे के पत्रों पर खुदी हुई तेलगू पुस्तकें मिली हैं।

जैन-मन्दिरों में पीतल की बनी हुई ऐसी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं जिनके आसनों तथा पीठों पर लेख खुदे मिले हैं। ऐसी खुदी हुई एक हज़ार से अधिक मूर्तियाँ स्व० श्री गौरीशकर हीराचन्द्र ओझा को देखने को मिली थीं जिन पर ७वीं से १६वीं शती तक के लेख हैं।

कई मन्दिरों में काँसा के घण्टों पर इनके दान करने वालों का नाम खुदा हुआ मिला है। दिल्ली के कुतुबमीनार के पास लौह-स्तम्भ पर राजा चन्द्र का लेख खुदा है जो ५वीं शताब्दी का है। आबू के अचलेश्वर के मन्दिर में गड़े हुए लोहे के विशाल त्रिशूल पर सं० १४६८ वि० का खुदा लेख है। इस प्रकार हम देखते हैं कि धातुओं पर लिखने की प्रथा भी प्राचीन है।

काग़ज़

अपने देश में काग़ज़ का प्रयोग लिखने के लिए कब से होने लगा, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कहा जाता है कि चीन वालों ने १०५ ई० में पहले-पहल कागज बनाया। किन्तु उसके लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पहले एक ऐसा प्रमाण भी मिलता है जिससे साबित होता है कि भारतवासी रूई के चिथड़ों को कूटकर कागज बनाया करते थे। सिकन्दर के सेनापति निआर्कस ने लिखा है कि भारतवर्ष के लोग रूई के चिथड़ों को कूटकर लिखने की चीजे बनाते हैं। स्पष्ट ही यह चीज़ काग़ज़ रही होगी। मैक्समूलर तथा बूल्हर महोदय का भी ऐसा ही विचार है। किन्तु कतिपय योरोपीय विद्वानों की यह धारणा है कि वह वस्तु कागज़ नही, वरन् कपड़े की 'पट' जैसी कोई चीज़ होगी जो आज भी हिन्दुस्तान में कम नहीं बनती।

काग़ज़ अब तक उल्लिखित सभी सामग्रियों में सबसे कम टिकाऊ रहा है, अतः कागज पर लिखी कोई प्राचीन पोथी नहीं प्राप्त हुई है। काग़ज पर लिखी जो रचनाएँ या अभिलेख उपलब्ध हुए हैं उन्हें सामान्यतया १३वीं शताब्दी ईसवी के पूर्व नहीं रखा जा सकता। काशगर से कुछ ऐसे प्राचीन हस्तलेख मिले हैं जो खड़िया मिट्टी से पुते हुए एक विशिष्ट प्रकार के कागज पर लिखे हैं कुछ विद्वान उन्हें भारतीय उद्गम का मानते हैं किन्तु यह सन्देहास्पद है डॉ० हार्नले का मत है कि वे मध्य एशिया में लिखे गये वेवर को मध्य

एशिया के यारकन्द स्थान के पास कुशिगर में जमीन में गड़े भारतीय गुप्त लिपि में लि चार ग्रन्थों की प्राप्ति हुई थी जो कदाचित ५वीं शताब्दी के होंगे।[१८]

कागज की पाण्डुलिपियों के सम्बन्ध में वस्तुस्थिति यह है कि अभी तक इनके मूल या आधार तत्वों का विशेष अध्ययन नहीं हुआ है, क्योंकि ये विभिन्न केन्द्रों तथा कालों से होकर हमारे बीच सुरक्षित हैं। इस विषय पर अधिक कार्य किया जा सकता है और पाण्डुलिपियों के कागज के अध्ययन (रूप, रङ्ग, मिश्रण, आकार आदि) द्वारा उनका निर्माण-काल तथा साथ ही साथ लिपि एवं रचनाकाल सम्बन्धी अनेक बातें प्रकाश में लाई जा सकती हैं।

साधन-सामग्री

लेखनी

प्राचीन काल में 'लिखने के औजार' को सामान्यतया 'लेखनी' कहा जाता था। लेखनी के अन्तर्गत छेनी, पेंसिल, ब्रश, नरकुल या लकड़ी की कलमें आती हैं। पक्षियों के पङ्खों से भी लेखनी का काम लिया जाता था। स्याही से लिखने के काम में बाँस या नरकुल की कलमें काम में आती रही हैं। अजन्ता की गुफा में रङ्गों से लिखे गये लेख बालों की वर्तिका से लिखे गये होंगे। दक्षिण-शैली के ताड़पत्रों पर अक्षर उत्कीर्ण करने के लिये तीक्ष्ण मुँह के लोहे की शलाकाओं का प्रयोग किया जाता रहा है। पत्रों पर लिखने के लिए परकारों का भी प्रयोग किया जाता रहा है।

मसि या स्याही

मसि अथवा स्याही का प्रयोग भी अत्यन्त प्राचीन काल से ही होता रहा है। विद्वानों की धारणा है कि मोहनजोदड़ों से जो भेड़े के पृष्ठ भाग पर एक खोखले आकार का जार मिला है, वह दावात ही है। यूनान के निआर्कस तथा कटियस के कथनों से भी यह ज्ञात होता है कि भारतवर्ष में स्याही का प्रयोग सम्भवतः चौथी शताब्दी ईसा पूर्व होने लगा था। खोतान से प्राप्त खरोष्ठी अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि कम से कम पहली शताब्दी ईसवी मे स्याही से लिखने का पूर्ण प्रचलन हो गया था। स्याही से लिखने का सबसे प्राचीन प्रमाण अन्धेर के स्तूप के भग्नावशेष पर पाया गया है जो निश्चित रूप से दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व के बाद का नहीं हो सकता। अजन्ता की गुफाओं में भी बारीक लिखावटें पाई गयी है। जैनो ने बाद में लिखने के लिए रङ्गीन स्याहियों का भी प्रयोग किया। सुनहली या रुपहली स्याहियों का प्रयोग बहुधा चित्रकार और श्रेष्ठ जन ही करते थे। स्याही के बदले खड़िया, सिन्दूर या हिंगुल का भी प्रयोग किया जाता था।

चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में व्यवसायी लेखकों को 'लिपिकर' कहा जाता था। ७ वीं, ८ वीं शताब्दी में इन लेखकों के लिए 'दिविरपति' नाम मिलता है। ११वीं शताब्दी में इन लेखकों के लिए 'कायस्थ' शब्द का भी उल्लेख मिलता है, हालाँकि जाति रूप में 'कायस्थ' शब्द का उल्लेख सर्वप्रथम कस्व अभिलेख (७३८ ३९ ईसवी में पाया जाता है [११] अभिलेखों को लिखने वालों को करणिक' 'शासनिक' तथा 'धर्मलेखिन भी कहा जाता था

मीरज़ा रौशन ज़मीर 'नेही' और उनका काव्य

• शैलेश ज़ैदी

उपोद्घात

मीरज़ा रौशन ज़मीर 'नेही' सम्राट् औरंगजेब के समय के एक श्रेष्ठ हिंदी कवि थे। मीरज़ा की जन्मभूमि ईरान थी, किंतु ईरान से भारत आकर उन्होंने 'मसऊद इब्ने साद, अबू मग्नाशर फ़लकी और अबू रीहान अल्बेरूनी की परंपराओं को इतिहास के पृष्ठों में एक बार पुनः उजागर कर दिया। सम्राट् औरंगज़ेब ने जो स्वयं भी एक विद्वान् था तथा विद्वानों का आदर एवं सम्मान करना अपना परम कर्तव्य समझता था, मीरज़ा का स्वागत किया और उन्हे शाही मंसबदार नियुक्त किया। मीर गुलाम अली आजाद बिलग्रामी 'तज़्किरः यदे बैज़ा' मे लिखते हैं :—"ज़मीर इस्मश मीरज़ा रौशन ज़मीर बूदह् अज़ आली तबआने-ज़मानः व बलंद् फ़ितरताने-यगानः अस्त दर ओहदे-आलमगीर बादशाह अज़ विलायते ईरान बे हिंदोस्तान आमदः व दर सिल्के मंसबदाराने शाही इंतिज़ाम याफ़तः।"[1] अर्थात् ज़मीर नाम मीरज़ा रौशन ज़मीर का था जो अपने समय के उत्कृष्ट स्वभाव वाले व्यक्तियों में अद्वितीय थे। वे सम्राट् आलमगीर (औरंगजेब) के समय में ईरान देश से भारत आये और शाही मंसबदारों की कोटि में नियुक्त हुए।

औरंगजेब का आश्रय पाकर मीरज़ा रौशन ज़मीर की प्रतिभा और भी मुखरित हो उठी। मीरज़ा ने रुबाई छंद में सम्राट् की प्रशंसा में एक पद्य-बद्ध रचना लिखकर उसकी सेवा में प्रस्तुत की। औरंगज़ेब रुबाई पढ़कर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने पुरस्कार-स्वरूप सात हज़ार रुपये मीरज़ा को प्रदान किये।[2]

काव्य तथा संगीत के प्रति मीरज़ा 'नेही' का अनुराग

मीरज़ा ने संस्कृत तथा हिंदी काव्य-शास्त्र का भी गंभीर अध्ययन किया था। संगीत मे तो वे इतने प्रवीण थे कि उनके सामने बड़ा से बड़ा कलावंत भी तुच्छ दिखाई पड़ता था। श्री शेरखां लोदी 'मिरातुल खयाल' में लिखते हैं—"हिंदी के ज्ञान-क्षेत्र में इस विद्या के प्रामाणिक विद्वानों के मतानुसार भारत के विद्वान् प्रायः उनके सामने पीठ दिखा दिया करते थे और बड़ी आशाएँ लेकर उनके समक्ष आते थे संगीत के चौदह हज़ार रागों पर उन्हें

अधिकार था जिनमें बहुत से रागों का उल्लेख उन्होंने अपनी अरबी, फ़ारसी और हिंदी की कृतियों में किया है।"[३]

मीरज़ा ने संगीत-शास्त्र का केवल अध्ययन ही नहीं किया था, बल्कि अनेक ग्रंथों को फारसी में अनूदित भी किया था। मीरज़ा द्वारा किये गये अहोबल कृत 'संगीत परिजात' के फारसी अनुवाद का उल्लेख मीर आज़ाद बिलग्रामी ने इन शब्दों में किया है—"तरजुमा पारजातक दर फ़ने नग़माते हिंदी अज़ उस्त।"[४] अर्थात् हिंदी (भारतीय) संगीत के ग्रंथ 'पारिजात' का अनुवाद उनके (मीरज़ा) द्वारा हुआ।" मेरी दृष्टि से उक्त अनुवाद की तीन प्रतियाँ गुज़री हैं जिनमें एक मौलाना आज़ाद लाइब्रेरी, मुस्लिम यूनिवर्सिटी अलीगढ़ मे है, दूसरी आसफ़िया: पुस्तकालय हैदराबाद, आंध्र-प्रदेश में और तीसरी रज़ा स्टेट लाइब्रेरी, रामपुर में। मीरज़ा ने प्रस्तुत अनुवाद में विभिन्न हिंदी रागों के उदाहरण-स्वरूप अपनी रचनाएँ उद्धृत की है।

हिंदी-कविता में मीरज़ा का उपनाम

फ़ारसी में मीरज़ा का तख़ल्लुस 'ज़मीर' था, किंतु हिंदी में उन्होंने 'नेही' के उपनाम से कविता की है। नस्तालीक़ लिपि में लिखे हुए 'नेही' शब्द को कतिपय उर्दू लेखक 'पंथी' पढ़ गये हैं। मीरज़ा के 'नेही' उपनाम का उल्लेख मीर आज़ाद बिलग्रामी ने किया है[५] और फिर संग्रह-ग्रंथों में मीरज़ा की जो रचनाएँ मिलती है, उनमें भी उनका उपनाम 'नेही' मिलता है। औरंगज़ेब के समय में 'पंथी' उपनाम के एक अन्य मुसलमान कवि हुए हैं जो पेमी बिलग्रामी के भक्तों में थे और जिनका उल्लेख मीर हज़रत ने अपने फ़ारसी ग्रथ 'काशिफ़ुल्अस्तार' में किया है।[६] मीरज़ा का उपनाम 'पंथी' नहीं था।

मीरज़ा 'नेही' के काव्य-ग्रन्थ

मीरज़ा 'नेही' यदि एक ओर एक सफल शृंगारी कवि थे तो दूसरी ओर एक भक्त भी थे। मौलाना आज़ाद लाइब्रेरी मुस्लिम यूनिवर्सिटी अलीगढ़ में उनके काव्य-ग्रंथ की दो दुर्लभ प्रतियाँ उपलब्ध हैं। दुर्भाग्य से ये दोनों प्रतियाँ अपूर्ण हैं। किसी भी प्रति पर ग्रथ के नाम का उल्लेख नहीं है। छंदों के क्रम को देखकर इतना सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि कवि ने संपूर्ण-ग्रंथ रचा होगा। स्वयं 'नेही' ने भी उक्त ग्रंथ के एक छंद में इस ओर संकेत किया है। छन्द इस प्रकार है :—

नख सिख बरनि बनायो है ग्रन्थ यह, सुख उपजावन सिंगार रस भीनो है।
कोमल मधुर सुधे आखरन मध 'नेही,' है प्रसाद गुन फुन अरथ नवीनो है।
तापर लखन लिख कियो है महा कठिन, नयी रचना है रचिबे को चित दीनो है।
गूढ़हि सुगम लोग करत हैं टीका कर, मैं बक्र टीका कर सुगम ही गूढ़ कीनो है।

उपर्युक्त छंद के प्रकाश में कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं

१ संपूर्ण ग्रथ शृंगार रस से युक्त और सुखदायक है

२ कोमल और मधुर शब्दों का चयन किया गया है जिसके कारण रचना में प्रसाद गुण पाया जाता है। भावों में नवीनता और मौलिकता है।

(३) ग्रंथ में आचार्यत्व प्रदर्शन का प्रयत्न है और चूँकि पहला प्रयास है, इसलिए बड़ी लगन के साथ लिखा गया है।

(४) वक्रोक्ति और उक्ति-वैचित्र्य की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है।

प्रस्तुत ग्रंथ के सम्बन्ध में कवि का एक और छंद भी द्रष्टव्य है—

टीकन सहित या ग्रन्थ के कबित्तन को, कहत जथारथहूँ होत है बड़ाइये।
आखर सुढार मोती तिन्ह में अरथ जोती, सगरी अबेध कौन कौन गुन गाइये।
अद्भुत सीढ़ी जाको चढ़िबो उतरिबो है, उतरत 'नेही' चढ़िबे को फल पाइये।
बीना की सी सारीं सब पंकति रही हैं बल, धुन ऊँची होत जात ज्यों ज्यों नीचे आइये॥

उक्त छंद से कवि के संगीत-प्रेम तथा काव्य शास्त्र में उनकी गहरी पैठ का पता चलता है।

'नेही' के प्रस्तुत ग्रंथ की दोनों उपलब्ध प्रतियाँ नस्तालीक़ लिपि में हैं। इनमे से एक प्रति उनके समय की ही लिखी हुई जान पड़ती है। इस प्रति के अंत में रूह खा खानःदार आलमगीर शाह की मुहर लगी हुई है। 'नेही' के स्फुट कवित्त भी अनेक संग्रह-ग्रंथों में मिलते हैं। ये स्फुट कवित्त अधिकतर वे ही हैं जो इस ग्रंथ में मौजूद हैं। कुछेक ऐसे छंद भी मिले हैं जो ग्रंथ में नहीं पाये जाते। लेखक ने नस्तालीक़ लिपि में लिखी हुई 'नेही' जी की उक्त रचनाओं का नागरीलिपि में संकलन एवं संपादन किया है जिसे लेख के अन्त में दे दिया गया है। प्रस्तुत संकलन में कुल छंदों की संख्या ८५ है। कवि के शब्दो मे उसका यह ग्रंथ आद्योपान्त शृङ्गार रस का ग्रंथ है। 'नेही' जी जैसे प्रकाण्ड विद्वान्, कवि तथा संगीताचार्य पर अभी शोध की पर्याप्त गुञ्जाइश है।

'नेही' की धार्मिक सहिष्णुता

'नेही' जी मुसलमान होने के बावजूद भी भारतीय देवी-देवताओं के प्रति अपार श्रद्धा रखते थे। उन्होंने सम्भवतः वेदों और पुराणों का भी अध्ययन किया था। वेदों और पुराणों का उल्लेख उनकी रचनाओं में पाया जाता है। परमेश्वर की स्तुति में उनका एक छद देखिए—

अलख अमूरत निरंजन है निराकार, ताकों नाहिं जानौं कौन भाँति लहियत है।
असन बसन भौन तज कीजियत गौन, साधियत पौन अंत मौन गहियत है।
लह्यो तिन्ह कह्यो नाँहि, कह्यो तिन्ह लह्यो नाँहि, बेदन पुरानन में 'नेही' कहियत है।
ऐसें सुन बातें कैसें ध्यान कियो जाय ताहें, लेख लेख नांव देख देख रहियत है।

उस परमेश्वर को मुसलमान, हिन्दू, तुर्क और बौद्ध सभी देखने और प्राप्त करने के लिए लालायित हैं किन्तु 'नेही' जी की दृष्टि में उसको न तो अलख कहने वाले ही लख सके और न अलह अल्लाह कहने वाले ही लह लब्ध प्राप्त सके

नाना मत जान के मुसलमान उनमान, आन आन मन आनि आनि के थकत हैं।
हिन्दुवौ बिचार कर हारे वाह रे बिचारे, न्यारे न्यारे करके तुरक तरकत हैं।
बुद्ध ही बतावै कौन भेदें गहौ मौन, बाद जे करत ते ते बाद ही बिकत हैं।
अलख जे कहत तेउ लखि न सकत 'नेही', अलह जे कहत तेऊ लहि न सकत हैं।

'नेही' जी भारतीय संस्कृति के सच्चे प्रेमी थे। सम्राट औरंगजेब के दान की प्रशंसा करते समय वे फ़ारसी परम्पराओं का पालन नहीं करते। उनकी दृष्टि 'भारतीय' चरणों पर जाकर ठहर जाती है और वे कह उठते हैं—

"दानसिन्धु तूं तरंग दीबो है तरंग तेरे,
लच्छमी ने तो तै जग में सरीर पायो है।"

उक्त चरण के प्रकाश में 'नेही' जी का स्वच्छ हृदय देखा जा सकता है।

'नेही' और भारतीय काव्य-परम्परा

फ़ारसी काव्य-परम्परा से सम्बद्ध अनेक हिंदी कवियों ने नखशिख वर्णन के स्थान पर 'शिखनख' (सरापा) वर्णन किया है। शिखनख-वर्णन को हम भारतीय परम्परा के अन्तर्गत नहीं रख सकते। शिखनख-वर्णन में राधा और कृष्ण को लेकर भक्ति भावना की तलाश करना एक बड़ी भूल है। सामान्यतया शिखनख वर्णन का कृष्ण कोई भी नायक और राधा कोई भी नायिका हुआ करती है। किन्तु यदि कोई कवि शिखनख का वर्णन न कर 'नखशिख' वर्णन करता है तो हमें उसके हृदय की ओट में छिपी हुई भक्ति भावना को ढूँढ़ निकालने में विलम्ब भी नहीं करना चाहिए। श्रद्धा से सनी हुई भक्त की आँखें पहले देवी विशेष के चरणों पर ही पड़ेंगी। 'नेही' जी ने इसी कारण नखशिख-वर्णन में पहले पग-वर्णन किया है जो भारतीय परम्परा के अनुकूल है।

'नेही' की भाषा

'नेही' जी जिनकी मातृभाषा फ़ारसी थी और जिन्होंने पहले फ़ारसी काव्य-शास्त्र का अध्ययन किया था, अपनी हिंदी रचनाओं में फ़ारसी के तत्सम शब्दों की बात तो जाने दीजिए, तद्भव शब्दों का प्रयोग करते हुए भी हिचकते हैं। फिर भी उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं पर जो कतिपय फ़ारसी शब्द मिलते हैं, वे व्रजभाषा की अपनी संपत्ति जान पड़ते हैं, जैसे—खुमार, चिक, गुमान, हुका (हुक्का), राजी, रंगरेज, बखियाँ, बाजी, बरफ, साह, सक इत्यादि। फ़ारसी की तत्सम शब्दावली का प्रयोग 'नेही' के निकट संभवतः हिन्दी काव्य-रचना के प्रयोजन का गला घोंटना था। शायद इसीलिए 'नेही' जी ने अपनी भाषा को मुहावरों और लोकोक्तियों से अलंकृत किया है। हाथों हाथ बिकाना, लौन छिड़कना, लाले पड़ना गाँठ बाँधना दूर के ढोल सुहावने त्रासन मरना पाँव पड़ना अधरों पर उँगली धरना नखों से भूमि कुरेदना हाथ पर ठोढ़ी दे रहना दाँतों से जीभ दाबना छक-छक

पड़ना, पीछे लगना, सिर चढ़ना इत्यादि मुहावरों के प्रयोग 'नेही' के काव्य में प्रायः मि जायँगे। 'नेही' कृत एक कवित्त यहाँ उद्धृत किया जाता है जिसमें कवि ने मुहावरों की झड़ी सी लगा दी है :—

डाहन मरत बैठीं झूरिबो करत सौतीं, तन क्षीण होत मन के सो जानै मनहीं।
आँगुरिन निरख अधर आँगुरी धरत है, नखन निरख भूमि छोलत नखनहीं।
एड़ीन तक कर पै ठोढ़ीन दै रहत, तरवन लख जीभ दाबत दसनहीं।
'नेहीं' फूली आँगन मै डोलत हैं बोलत हैं, देखि प्रान पावत हैं पगन लें पनहीं।

मुहावरों का इतना सहज और स्वाभाविक प्रयोग हिन्दी कवियों के यहाँ कठिनाई से मिलेगा।

'नेही' जी की मृत्यु

शेर खाँ लोदी ने 'मिरातुल खयाल' में 'नेही' जी की मृत्यु संवत् सन् १०६७ हि० (१६५६ ई०) उद्धृत किया है,[७] किन्तु डॉ० अमीर हसन आबिदी ने उनकी मृत्यु तिथि १०७७ हिजरी (१६६६ ई०) बतायी है।[८] डॉ० आबिदी ने अपने मूल स्रोत का उल्लेख नहीं किया है। बहुत संभव है कि वह सन् १०६७ हि० को ही भूल से १०७७ हि० लिख गये हों। हम 'मिरातुल खयाल' की तिथि को ही प्रामाणिक स्वीकार करते हैं।

शोधार्थियों के लिए हम 'नेही' रचित पदों का पाठ नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं :—

'नेही' रचित पद[९]

मंगलाचरन

अलख अमूरत निरंजन है निराकार, ताकों नांहि जानों कौन भांति लहियत है।
असन बसन भौन तज कीजियत गौन, साधियत पौन अंत मौन गहियत है।
लह्यो तिन्ह कह्यो नांहि कह्यो तिन्ह लह्यो नांहि, बेदन पुरानन में 'नेही' कहियत है।
ऐसें सुन बातें कैसे ध्यान कियो जाय तातें, लेख लेख नांव देख देख रहियत है॥१॥

फुन मंगलाचरन[१०]

नाना मत ठान के मुसलमान उन्मान, आन आन मन आनि आनि कै थकत हैं।
हिंदुओ बिचार कर हारे बाहरे बिचार, न्यारे न्यारे करके तुरक तरकत हैं।
गुप्त हो बतावे कोन मेवै गहौ मौन बाद जे करत ते तो बाद ही बकत हैं
[illegible] जे कहत तेऊ लखि न सकत 'नेही' अलह जे कहत तेउ लहि न सकत हैं।२।

त्याग तेगबली औरंगजेब बलबंड दानी, खरग तेरैं गर आइ आइ के कहायो है।
चेरी चेरो वाँको देत खाइबो मसूर याको, डोरिया को अरनि जनेऊ पहिरायो है

खरग बरनन

अनल के सिखा की है किधौं जम की है बाँह, मूठ में लपेटी किधौं पतिया है जीत की।
क्रोध की घटा है कि तड़ित की प्रताप, सूरता की है किरन कि धजा है राजनीत की।
रुद्र के समुद्र की है लहर कि है कराचोली, महाबली औरंगजेब जस जीत की।
ताकी फुन धार डोर मुंडमाल की है किधौं, काल हार मान लीक खैंची है प्रतीत की।।

प्रताप बरनन

औरंगजेब साहु सहजै चढ़त प्रताप तेरैं, सोच सोच लोग त्रियलोक के डरत है।
लेत हैं सरन बन घरन को छाड़ तोऊ, त्रियन सहित सत्रु त्रासन भरत है।
पियन के कर पर काँपे कर तिय के, कियों हौं कर 'नेही' पग डग जो भरत है।
ठाढ़ी ह्वै रहत हैं नितंब भार हार हार, तातें बार-बार बार पायन परत है।।

रूप बरनन

नैन कौन 'बहुजीभ'[११] बरनी के बारन ज्यों, कहा कोउ तिय रूप बरनि बो ठानि है।
जीभ तो निबाहैं नैन बकिबो करत बैन, दरस्यो हैं नहिन बिचारी कहा जानि है।
अस्तुति कै को चलावै कही नाँहि जात जात, जो सुकबि है सुबात यहै मन अनि है।
सीसहि बिधाता जैसें चच्छु श्रवा 'कीनो'[१२] 'नेही', तैसे जीभ चच्छु करैं तू भले बखानि है।।

नख-सिख बरनन

पग बरनन

डाहन मरत बैठी झूरिबो करत सौतीं, तन छीन होत मन के सो जानै सनही।
आँगुरीन निरख अधर आँगुरी 'धरत हैं',[१३] नखन निरख भूमि छोलत नखनहीं।
एड़ीन तक कर पर ठोढ़ी दै 'रहत'[१४] थक, तरवन लख जीभ दाबत दसनहीं।
'नेही' फूली आँगन मैं डोलत हैं बोलत हैं, देख प्रान पावत है पगन तें पनहीं।।

जंघा बरनन

कदली बिचारो दिल पाँखन फरक 'हार्‌यो',[१५] कूद-कूद थके सूँड गज मूँड पर तें।
'हंस लगें गुन भरे रस रूप भरे जंघा,[१६] 'सभन'[१७] तें आगें भये डग एक भर तें।
कबिन के हाथ एक करभ लग्यो है 'नेही', सोऊ सोभा पावत है याके पटतर तें।
यह उपमा बिचार रति समै आवै 'जीअ',[१८] करभ ज्यों कियों हौं न्यारी कीजिये न कर तें

कटि बरनन

सुनियत कटि 'सोहे'[१९] सुछम निपट 'नेही', प्रकट दरस कहाँ सपने न पेखिए।
पच हारे हैं बिचारे चतुर चितेरे 'सब',[२०] वाको यहै चित्र अहै जो कछू न लेखिए।
कहा सो संदेह नाँहि बेह में सवेह नाँहि, कर साते मन अवरेखिए।
मठी गहि के बनाइ गहि रह्यो बिधि ही न देख्यो[२१] बाद कौन बिधि देखिए

कुच बरनन

देख काहू के न कछु करत सकुच कुच, सरबस लेत 'नेही' देखतै चुराइए
कान्ह लो लकुकरी लगावै इहैं हाथ कौन, कपटी कठोर हैं उनन के सुभाइए
बित थोरी है बहुत ओछे 'कोऊ जान तौ न',[२२] जोबन अमूल नग सहजै ही पाइए
गाँठ बाँध कस आइ छाती भूम में निकस, भये बद पार कैसे 'होंहिं'[२३] न कहाइए।

बाँह बरनन

गोरी गोरी गोल गोल भामिनी की वाँह 'नेही', रूप रस दोऊ सान बिधनाँ बनाइ है।
चलत हिलत कोटि कोटि प्रान दान देत, सुधा की लहर पटतर तातैं पाई है
कान्ह काम पूरत के काँधे पर जब 'होइ',[२४] तब कहीं पुहुप कमान ही चढ़ाई है
ताको उपमा न कीनी है कबिन मेरे जान, याही तें मृनाल नारि लाजन्त निचाई है।

हाथ बरनन

सिंधु मथ ससि ससि मथ नख वाके 'नेही', काढ़े है सुरनि कहीं कबि पतियाइहौ
चीर के कलपतरु को पैं आँगुरो निकारैं, मान हू ले जो (पै) मन चितै फल पाइहौ
'कमला के हृदय'[२५] कुंज दल के हथेरी कीने, तापर भँवर भये 'भाँवरे'[२६] कहाइहौ
हो तू त्रिभुवन नाथ देखिहौं पै कैसे तुम्ह, हाथ निरखत तिय हाथन बिकाइहौ।

ग्रीवाँ बरनन

देखै मन चाहे इंद्र पैं सहस नैन माँग, दै दै गाँठ डोरिन कँवल माल कोहिये
'जोध गहि कियौं'[२७] रेखा गुन ही सों 'पूतरी को',[२८] रहैं नित कंठ ऐसो पूत छरा पोहिये
ढाकत है जेतो तेतो दूखन लगावत है, मोतिन को हार सो न भूखन ह्वै सोहिये
'नेही' संख कहौगे कहत हौं निसंख रीझें, नेह खेल के खिलार तिय नाहिं जोहिये।

फुन ग्रीवाँ बरनन[२९]

देखै देखि दूजो नैन गहिहै पतंग गति, जौ लौं नाहिं देखी तौ ही लौं कुसल क्षेम है
बेनी आगे दियें नित रावत लहत दुति, दियें नाग बैर (ऐसे) रसन मैं पेम है
नेह भरी जोत भरी सोभित जगमगाति, कहाँ लौं बरनौं निकाइ कियौं नेम है
वाहि कियो जारौं हिय देखत सिंगार रस, ग्रीवाँ नाहिं 'नेही' रूप दीपक के टेम है।

चिबुक बरनन

अधर बरनन

सावन की साँझ जैसे फूल हैं हँसत तक्कि, आनन में अधर के दीरत ललाई है।
उपज बिकार तासों नाम मध शाह 'नेही', विद्रुम बंधूक बिंब दीनी अरुनाई है।
जाने ये न लाल के रंगे हैं मैन कौन बिधि, अधर न 'होइ'[३२] मेरे मन यह आई है।
जोबन अबीर लै मदन के भरी है फेंट, बिधि रंगरेज रूप रैनी कै चढ़ाई है ॥१६॥

दसन बरनन

भामिनी के हँसत दसन आगे मोतिन के, सीप ही में रहैं जोति ठहर रहत है।
हीरन को रावत है खान ही महत मान, मत कोऊ काढ़ै 'नेही' मत यों कहत है।
दामिनि के ढोल तो सुहावने हैं दूर ही के, घन में दुरे हैं उपमा नहीं गहत है।
दारिम टिकस के हँसावत है आयुन पौ, जानत न बँधै मूठी लाखन लहत है ॥१७॥

नासिका बरनन

करत डंडवत भौंहैं देखिय टेढ़ी 'नेही', सेंदुर लियो है तातें ओठन ललाई है।
कर डिढ़ आसन जुगल गाल बैठ ढिग, भरक-भपक पल दृगन लौं लाई है।
आस-पास पूजा ध्यान जप होत रहै नित, निरख-निरख मेरे मन यह आई है।
कामिनी के बदन सदन ताहि करतार, नाक नाम थाप रूप प्रतिमा बनाई है ॥१८॥

नैन बरनन

बडे रिझवार रूप पानिप अपार भरे, दुहूँ अलि कुंज के प्रकृति मानो लीनी है।
रीझ बस परत रिझाई बस करत हैं, फुन इन चंचलन मीन छबि छीनी है।
करता बनाइ ये चपल चख छक 'नेही', बची है निकाई कछू सोऊ सब दीनी है।
और कहाँ देखिहै न देखिहैं परस्पर जो, मेरे जान यह सोच नासा ओर कीनी है ॥१९॥

भौंह बरनन

चढ़त बिना पुंज कौतुक निहारो बल, ऐसे और कहाँ चतुर उन लेखिय हैं।
तान तान राखे हैं अनेक अनियारे थाल, आरा जिमि याही तें कटीली पेखियत हैं।
सर सूधे छूटिबे को ठीक लग फूटिबे को, 'नेही' पिय सूधे तें फिरी बिसेखियत हैं।
काम बाँह कामिनी की नासा है कमान भौह मूँठ मैं गही हैं मूठ नाँह देखियत है ॥२०॥

स्रवन बरनन

ललाट बरनन

भर चुरो सुधा लै सँवार्यो है ललाट तिय, न्याइ लोग चाहिबे के चाहन मरत है ।
घटत कि बढ़त हैं घटत हैं बूहन बिधि, जिहँ कला सम होइ ससि न धरत है ।
कोन निरखै उघाइ बेर बेर देखो जाइ, निकसत नाहिं प्रतिबिंब जो परत है ।
'नेही' हम कहा कम या अनूप दर्पन को, नासा मूठ मूठ गहि देखिबो करत हैं ।।२२

तिलक माँग जुत बरनन[३४]

पंचसर सुर को है भाल लाल रुहिर तें, भाल को तिलक जो हरत सुधि स्याम की ।
इत उत भये बेधिबे ही को सकच्च कच, ताकों मांग कहत हैं तिय अभिराम की ।
ऊँचे करतार नेक नेकिन निहार 'नेही', अंजन के पंच है कमान्त भौंह बाम की ।
मूठ मैं गही है तातें मूठ देखियत नाहिं, गाँठ कुहनी है नासिका है बाँह काम की ।।२३

माँग बरनन

बारन में माँग सोहै उपमा कहै सो को है, तातें एक में हीं पच्च कै बिचार कीनो है ।
बदन सरोवर में गाल के कडोरी सोत, नित रूप जल बढ़ै जोबन नवीनो है ।
तिन्ह जल भर के सरोवर उछर जुग, कान कुंड औ छिबुक/कूप पूर लीनो है ।
बहि प्रवाह उपट जो चल्यो मैन माली ताहि, 'नेही' लै सिंगार बारी माँहि काट दीनो है ।।२४

बेनी बरनन

पोच पोच बदन रोमावली तें बढ़ 'चली',[३५] परसत पाइ अब और कहा बढ़िहै ।
लाज 'पाछें'[३६] परी को परी है तुम्हैं तातें, यासों करत हो नेह कौन मंत्र पढ़िहै ।
बनितानहूँ के मान बढ़िबे को तोऊ बेनी, लटन तें 'साँकरी'[३७] गढ़ी है और गढ़िहै ।
बार बार जूड़ो दै चढ़ावत हो सिर याहि, काल्ह सुनिहो जो कोऊ याके सिर चढ़िहै ।।२५

फुन बेनी बरनन

जूरो दैं पूरो रूप 'गहत'[३८] है कुंडरी को, गारी दै गयी जो औचकान निरख डरी
बादुर तो सच्छक समुझि मोर भक्ख जान, 'सोर करके'[३९] सताइ 'नेही' 'सुध'[४०] हरी
कुच गेंद 'के'[४१] खिलैया 'कारे नाग'[४२] भ्रम भूलि 'कहा, कीजै दैया'[४३] गहिबे की पेच करी
आवत है पाछें लग्यो लोग कहैं पाछें पर्यो कान्ह कहा पाछें परे बेनी पीछे परी है[४४] । २.

सगध बरनन

(ग्रन्थ-वर्णन)

नख-सिख बरनि बनायो हैं ग्रंथ यह, सुख उपजावन सिंगार रस भीनो है
कोमल मधुर सूधे आखर मध 'नेही', है प्रसाद गुन फुन अरथ नवीनो है
तापर लखन लिख कियो है महा कठिन, नई रचना है रचिबे को चित्तदीनो है
गूढ़ ही सुगम लोग करत हैं टीका कर, मैं बक्र टीका सुगम ही गूढ़ कीनो है

(पुनः ग्रन्थ-वर्णन)

टीकन सहित या ग्रन्थ के कबित्तन को, कहत जथारथ हूँ होत है बड़ाइए
आखर सुढार मोती तिन्ह में अरथ जोति, सिगरी प्रबोध कौन कौन गुन गाइए
अदभुत सीढ़ी जाको चढ़िबो उतरिबो है, उतरत 'नेही' चढ़िबो को फल पाइए
बीना की सी सारीं सब पंकति रहीं हैं बन, धुन ऊँची होत जात ज्यों ज्यों नीचे आइए

जाती को नख-सिख बरनन ताके नाक बरनन नायिका का बाक

मदन दुबहियाँ चलावत कटाच्छ कासें, भुव धनुक तान तान कै दुहूँ करन तें
त्रिभुवननाथ कान्ह देख तें निरख 'नेही', करत निसाने काढ़ काढ़ के घरन तें
छोड़िबो करत दिन प्रति निघटीन क्यों हूँ, ठौर ठौर गोप बधू बेधे हैं सरन तें
बान भरे नैन बरुनीन तें यों जाने जात, जाने जात हैं भरे तुनीर ज्यों परन तें

नायिका बाक

आज चंद्रमा को साँझ भोर की दिखाई है हौ, लालन फुरझरी लागो झलकन को
ताहि भेंटिबे कों देख द्वार भुज खोल रह्यो, पाय लग्यो चाहै मन भऱ्यो अलकन को
सखी हकबकी भई कौन को बखान करौं, चाहन को लासान कूको ललकनको
आवत हैं 'नेही' बर बान बरुनी के कर, पलका बनाउ क्यों हूँ मेरी पलकन को

नायिका बाक

कपट भरें वे चितवन नाहिं देखियत, पीयत न त्योरी कहौं आज और त्यौर है
साझ भई आइके रहन हों कहत मेरें, तेरें रहैं प्यारे प्रान सौतिन को जोर है
दुहू कहैं आइवे को दुहू कहूँ आवत है, पिय मोहि जानत हौं चित जिहँ ठौर है
एक पिय 'नेही' यातें मेरी सी करत है तौं मेरो मन तोमें तेरो मन कहीं और है

सखी बाक

नायिका बाक

रीझिबो न बूझत रिझाइ नेकी जानत हो, 'नेही' प्रभु कहूँ तो अपुन पौउ दीजिये ।
त्रिया जन हैं कँवल भानु भये कौन फल, हूजे बल अल बिस ह्वै के रस पीजिये ।
रूप के गुमान जिन रूठो रूठे बुरो कियो, प्रकट न जानें चूक परी क्रिया कीजिये ।
मैं तो मन मान ठान फिर पचताइ तुम्ह, मन लियो मान लियो मानिबोउ लीजिये ।

नायिका बाक अपने मन मों

प्रथम रिझायो पुन बाद ही रुठायो मोहि, मैं जो कह्यो पीत को बढ़ाइबो बिपारिहे ।
पाछें पचताइ मान लै मिल्यो पिया सों, उनहूँ न जान्यो बट पार बट पारिहे ।
अब अकुलाइ उत वै दुखित हौंत रूसो, इत हौं मोसों अंत पीतहि बिकारिहै ।
ताते कहा कीजे आपही कों दोस दीजे 'नेही', मैं न मन मारचो मन मोहि क्यों न मारिहै

दूती बाक नायक सों

पानन के लाली लाल देखे अधर 'नेही', जावक के रंग रंगी एड़ो यों निहारिए ।
काजर के देहें कजरारे नैन निरखिए, सूँघिए सुबासन बसाइ देह सारिए ।
भूखन तें बनी बनिता हैं ठाढ़ीं आस पास, सभन को सुख दीजे गरें बांह डारिए ।
खेलिए खिलाइए हूँ हँसिए हँसाइए हूँ, रीझिए रिझाइए हूँ जौ लौं ल्याउ प्यारिए

बैंदिह बरनन

चपल न थिर पग नैन भाँवती के 'नेही', चलन चितौन में अनोखी अवरेखिहै
दूरबे में लाज सूधे देखिबे में चंचलता, तातें ठहरत नांहि कछु जिह पेखिहैं
जोबन न बालापन पहिले कहत बनीं, सिधु कहौं कैसें और कौतुक बिसेखिहैं
हेरे भरमावें हाथ लायें तें उठावें न, मदन चितेरे उभरे सकुच लेखिहै ।

दूती बाक नायक सों

देखि मांग बिथुरी चढ़ाइयत है जुगत्पूरी, टीको मिट्यो देखि भुव जग मरोरियत है ।
रात के उनीदे देखि नैन डबराइयत, रद छित देखि अधरा बिदोरियत है ।
दर्पन सौत को बदन दिष्टि पर्यो मानो, मोहू सों अनख 'नेही' मुंह मोरियत है ।
एक हूँ न रीझे आज तो क्या तिहारी प्यारी कौन, पिय जिन लह्यो तिन कह्यो तोरियत है

दुती बाक सखी सो

दूती बाक सखी सों लघु मान

सावन के निसि बरखत घोर अंधकार, दंपति है पौढ़ी सखी दोऊ अंक भरके
याही में पपीहा पीउ पीउ कर टेरो 'नेही', सुन धुन कान धर्‌यो नेक ऊब हरके
बाल भ्रम भूली कहि रूठी लाल कह्यो बैरी, ऊतर भयो ऊ कोऊ गयो हिया धरके
साँस लेन कें बिलम में मनाय लई तिय, पिय पान खाइबे के बास दूत करके

लघु मान

प्यारी तो रुठाइ तोहि रूठत है आपहू सों, 'नेही' हम सखियन की कहा चलाइए
सीकर करत सोइ जामें जिय दुख पावै, भली कीनी सुधि लीनी पिय बेग आइए
हम सों अनख भुव जुग जोर रही सोर, जागत सकुच निकरी है ये जगाइए
लगत बरौनी कुंजी भौंह तारो खुल जैहै, जब दोल्यो मुख तेरे मान कहाँ पाइए

लघु मान

वाको तो उधार है तिहारोई पियार प्यारे, जब तौं न लावै मुँह बैरा उनखात है
पेच पर पेच पार्‌यो चाहत हैं धर घालीं, बाधे हीं गहत है जो प्यारी अनखात है
लघु मान ही सों तुव नाम ही सुनत छूट्‌यो, अब सखियन में लजात पछतात है
होठन तें हाँसी भौंह भौहन तें त्योरी होंठ, लई है छिनाइ 'नेही' तातें मुस्कात है

मद्ध्य मान

कौन बात कौन गहि बैठी ऐंठी जात काहे, तेरो कह्यो हूँ है ऐरी मेरी हूँ जू मान री
मन ज्यों पतीजै आदि ऐंच खैंच कीजै अंत, आपुन पौ दीजै जैसें उत्तम कमान री
तोही सिख देत सक लागै मोहि 'नेही' प्यारे, कोउ न विचित्र तिय तेरे है समान री
तोहि भावै मान हौं हूँ कहत हौं मान मान, मन बिन आन जो कहौं सो तौंन मान री

मद्ध्य मान

आनन की जोत जो न ज्यों बिराजै अंगन में, कोरो गहैं बैठी रहिबो करो न डोलिए
ऊतर न दीबो पुन ऊतर ही 'नेही' प्यारे, कौन है कहत तोसों मौन तजि बोलिए
पीतम के पीत कै सुनत है जो घट बढ़, सोऊ सोध सोध के स्रवन पला तोलिए
भौंहन मरोर मान गाँठ बाँधिबे में साथ मोहन को मन पै बंध्यो है ताहि खोलिए

मद्ध्य मान

मदष मान

आवै हियो भर मौन रहै नित ऐसें खिजाइए नाँहि गुसाईं।
'नेही' न ऊतर दै सकै काहू को जो तुक बूझत बात लुगाईं।
मैं कह्यो बोलो कहौ जिय की कछु पाय परैं फिर सौंहि दिवाईं।
टूट परे दृग तें अँसुवा मुँह खोलत है पुन चोरे को माईं ॥४६

गुरु मान

'नेही' प्यारे जो तिहारी प्यारी मैं निहारो आज, कर धरे ठोढ़ी भूमि छोलत है नख सो
गहैं मुख मौन तातें जाने ये न कौन कौन, औगुन गनत डार डार आँसू चख सों
हितु आइ कै उपाइ कर पिय काहू तन, ऊतर न देत औ न चितवै कनख सो
काजर कों आँख भर देख न सकत फुन, बानिन को मुँह न लगावत अनख सो

गुरु मान

बात मुँह चाब चाब अधर दसन दाब, चितवत कहा ऐसें भौंहैं तान तान कै
मन को निकार काँटो नासिका कली फुलाइ, कौन फल पैहै सुख कर सिख मान कै
'नेही' कों लगी है तलबेली तौं अकेली अलि, बेली ज्यों न ऐंठो अलबेली नाँव जान कै
आइ लघु मत गुरु गूँगे को बिचार जिन, कहा गूंगे होइ रहि है मान ठान कै

गुरु मान

जे जे हैं सयानी नारि ते ते तेरें चटसारि, पोथी 'नेही' कहत पढ़त हैं सयान की
सीखत हैं प्रेम पूर पच्छ के प्रकार लो पैं, बूझत हिये लो पुनि विधि समाधान की
बावन अच्छ उच्चरन काज तुव मुख जीभ, रूप प्रगटी है यह सकलि बखान की
समय के बिसार सब घूघट निकार अब, प्यारी तौं बिद्यारथी भई है गुरु मान की

गुरु मान

पिय अकुलाइ अब करिए कहा उपाइ, तैं पसार पाईं जान्यो नाक के सिकोर तें
सुन सिख बैन ऊँचे कर नैन 'नेही' प्यारे, थकहारी हौं निहारि निहुर निहोर तें
थोरी बात के बिचारि मन न मलीन कीजे, नीर गदरात बल खादर हिलोर तें
निस दिन रिस कर भौंह न मरोर तेरीं, सखी सुखी होत मातराई के मरोर तें

कूबरी बरनन गोपी बाक

जोग बरनन

गोकुल में जाइ मोहे रट लागी हाय हाय, जोग बिसराय रह्यो जाइ मृग भूला ज्यों।
कासों कहौं बैन मृगनैनी कोऊ सुधि मै न, डबराइ नैन 'नेही' लागत बबूला ज्यो।
हिये कामसूल सोइ पावक है तन तूल, तेल गयो भूल सरफूल भयो घूला ज्यों।
तजें द्रुम छाँह एक एक न्यारे बन माँह, भसम चढ़ाइ अंग फिरत बघूला ज्यो॥

जोग बरनन

जोग गहैं न कहैं कछु भोग के खप्पर मेखली नाद समेटैं।
एक ही आसन बैठी रहैं कबहूँ उठ ठाढ़ी न होंहि न लेटैं।
कान छिदाइ भभूत चढ़ाइ लटैं छिटकाइ जटा कैं चपेटैं।
ऊधो सिधारिए आग अँगार ज्यों आज ते राख ही राख लपेटैं॥२३॥

जोग बरनन

निधरक आव मन में न कछु ल्याव ऊधो, कान्ह जो कह्यो है जोग हम कों सिखाइए।
सोचत हैं कहा अब 'नेही' हम गोपी सब, बिनती करत इछा उनकी पुजाइए।
अगिनि हमारी हम बिन और कों न जारे, डारिए न बल फुनि जिन उकताइए।
कागद जरे के चिनगारी को बिलम कहा, लै भसम भसम हमारे सों मिलाइए॥२

गोपी बरनन

गोपिन की बिथा करो गान कान्ह मोपै कछू, कही नहीं जात बात जिह भाँति लहै हैं।
कुंजन मैं तुम्ह संग खेलत हैं जहँ जहँ, ठाढ़ी हकबकी सी थकी सी रत तहँ हैं।
जरगै काम जार डारी तातैं न्यारी न्यारी, मुरझाइ सूख 'नेही' ह्वै अचित रहै हैं।
बेली द्रुमडार गहैं अलबेली जानिए न, द्रुमडार गहैं हैं कि द्रुमडार गहैं हैं॥२

गोपी बरनन

गरज ढिंढोरो दै गगन तोरयो नींद तारो, पलक के पाट खोल डारे नैन धाम के।
चंद्रमा रुपैया तारे कौड़ी को चलन गयो, जाम भये पल के बरस भये जाम के।
फूल के कली ने लीनी चूनां की कली कै रीति, देखि के अनीति जो न छीने गुन धाम के।
'नेही' है कहत बेग सुधि लेहु ब्रज नाँह, तोपन चलाइ स्याम काम दाम जाम के॥२

गोपी बरनन

गोपी बरनन

मंदिर न भावै ज्यों ज्यों सुंदर बजावै धन, तलफ तलफ तातें दामिनि ज्यों नाचिए।
बिन बरवस नेह पवन दहत देह, कब लौ यों आवन पी बिरह आँच आँचिए।
कबहूँ पथिक पाती ल्यावै तब मन आवै, पातिक कटैगो अब पढ़ै झूठो साँचिए।
खोलत पै 'नेही' आँसू आखर लै गाँठ बाँधै, रहै कोरो कागद सो ताको कहा बाँचिए।

पाती बरनन

लेखत हीं पाती छाती फाट गई लेखनि की, देखन के भई हौं कहीं न पतियाइहौ।
रह्यो नाहिं मास कहूँ कहूँ निकसत साँस, कहाँ लग आँकौं बाँच बाँच उकताइहौ।
नाक जीव रह्यो आइ बेग सुधि लेहु धाइ, याते हौं कहत फिर पाछे पछताइहौ।
तेरी ही सौं 'नेही' मोहै मरिबे को दुख, नाहिं दुख है यहै जो तुम्ह सुन दुख पाइहौ।

पाती बरनन

धूम मय दूरी आग बरत है याकै मुख, जग जीभ धरत सी नाहने हलत है।
नाथ कारे नाग नाथ्यो ताते हाथ गहत हौं, ना तो यह दूर ही ते प्रान निकलत है।
कारे बिसहारे मारे कोंडरी सँपेरिया ज्यों, डारत अनेक जब जब जो चलत है।
नागिन है किधौं नाँह जानियत पै, लेखनि तिहारी 'नेही' बिष उगलत है।

पाती बरनन

महाराज तें बिछुर झूरिबो करत जीय, बिछुरन पीर मरिबेऊ तें बिसेखिए।
रहत उदास तातें दूसरो न भावै कछू, रावरे निरख अब और कहा पेखिए।
बाँच साँच मानहू कि नाह कहा लेखौं 'नेही', जो जो कछू बीतत है आप आइ देखिए।
चेरी भली निघटी न निघटी कथा हमारी, द्रोपदी के चीर पै जो पीय मेरी लेखिए।

पाती बाक

लाल मिलिबे की हौं बधाई देत तोहिं माई, सुखदाई सुख सोत्र मन धीरियत है।
आज काल्ह परौं की परे री पिय आइ जान, काहे कौं बिरह पीर प्यारी पीरियत है।
मो में सब भाग है बियोग ऊ जो होइ तोउ, लाइ लाइ पाती ताती छाती सीरियत है।
आवत है 'नेही' बीर तूँब मोह जिन चीर, और चेरी आवन कौं चेरी चीरियत है।

आगम बरनन

समीप बरनन

दीनौं होल कुंजन की 'नेही' मनरंजन कें, संग कौन कीनो हौ सो मो मन बिचार है।
तरुवर काहे रहत तोहि बिरही कहत, दाहत है देह बिधि नाहन अंगार है।
जर जाहुँ नैन जिनकें न तू सुहाइ देख्यो, मेरो आज है न तोसों सदा को पियार है।
आवन पिया को अब कहू कैसे सुन पायो, कित हो कहाँ ते आयो चंद्रमा बुहार है ॥६४॥

समीप बरनन नायिका बाक

और के न और जिय आन जिय दान देहु, तेरे उठ चले ते परम सुख पाइहौं।
'नेही' यें पयाग कर मेरे मत पाछे पर, नाय कुल जाहु जर कुतिऐ कहाइहौं।
डाहु तब कै के और अब बसी ठाई कै, माइ न चलाव तेरी लेत रे बलाइहौं।
पिय के समीप भये आपु ही समुझिहै तौ, कहिबे के नाँह बल कैसे हूँ बताइहौं ॥६५॥

फुन नायिका बाक

सुंदर सरूप जाको बरन्यों न जाय रूप, जैसो वाके तन तैसो कहाँ है असल मैं।
प्रानन के प्रान प्रानप्यारी के सनेह ताते, प्रान जिमि देह रम रह्यो है सभन मैं।
कीने हैं अनेक बस प्यारी ही के अनुकूल, लच्छन है स्वच्छ यह दच्छन कहन मैं।
एक एक कही तास साँच कही एक पीय, बसत हौं मैं ही एक 'नेही' पिय मन मैं ॥६६॥

चौपर बरनन

केलि खेल ठानिबे को खेलत हैं चौपर आइ, खेल देख्यो है बहुत ताते डरियत है।
सार जुग होत हैं बिसार लाज को बिचार, आइ बाँह गरे डार गिरा परियत है।
चपला की कौंध हू कहा है देखें लागी चौंध, इनकी चपलता तें दगन उघात है।
हाथ गह्यो पाँसा चित्त गहियत हाथ 'नेही', आँगुरी पकर पहुँचा पकरियत है ॥६७॥

चौपर बरनन

प्यारी कर परस सरस भये गुन रूप, जासों पटतर दीजे तासों सरसात हैं।
कैसे कै समर कीजे सुधा की लहर कैसे, ठहरत नाँह कहूँ एतो ठहरात हैं।
जीतें होत अनबन कहा कीजे बाजी मन, बद और कहु और राजी करियत है।
चहुँ ओर 'नेही' मेरे जान बिदुकान होंहि पासन के संग लगी नैन ढरी जात हैं ॥६८॥

नृत्त बरनन

सनेया बरनन

..............? को जड़ दहो अति जाके डर, निकसे न बिनकर ऐसी सिथराई है
तारी काँपें न्यारी-न्यारी तातें मनमथ हूँ, घट बिरहिनि को गरम ठाँव पाई है
और ठौर ठौर जित कित जल जम गयो, ताकी 'नेही' पिय उक्ति मति इमि आई है
चलत समीर लाग्यो काँपन महा जो नीर, दया की तुसार मानो चादर चढ़ाई है

तमाकू बरनन

'नेही' सुरा कै तमाकू के डाहन काढ़ के देखि हिये के फफोला।
दोऊ मैं है गुर पी कहा कीजिए लोग गहैं रस छाड़ अमोला।
नै अधरा मध पीये खुमार नहीं मुँह प्याले जंभाई के खोला।
क्यों न सुराही रुई करै कान मैं देत है बोल हुका बड़ बोला ॥७१

गिरि बरनन

गरज गरज घननाद पूर पूजा करै, सिव सोभा निरखत पीर पुनजाल की
झरना झरत सोइ बहत है गंगधार, सघन द्रुमहि सो जटा है चंद भाल की
दीखत बरफ सो लगी है पै भभूत आग, ठौर ठौर बेली फुन देत छबि ब्याल की
लोगन की पाँति पिया निरख कराँत कहीं, बाट तो भई है 'नेही' डोर मुंडमाल की

गिरधारी बचन

डगर बगर घर गोपिन को डर रहै, कंस जो दहातो जसुधा न डरियत है
धेनु लै जो जैहै तो कहै है चोर माखन के, मोहि दहौं बतो इन्ह मों क्यों भरियत है
घाट गई बाट पार जित कित ते कहत, गारी सहि सहि दिन प्रति लरियत है
बाँसुरी बजाइबे को करत है चाव 'नेही', गोकुल में फूंकि फूंकि पाँव धरियत है

बाँसुरी बरनन

आग जिमि राग है भर्‌यो जो बाँसुरी मैं ताकी, सिखा सम तानें लगैं गोपिका तपत है
गान मध तूल दै है जैसे बातो बरैं नेह, मोहन उपाइ कछू बाद ही पचत है
बन के पखेरू उड़ पाँखन परवा करत, गोकुल की कुलबधू कंसे के बचत है
जर गई अति ताते ताते तक 'नेही' कान्ह, फूंक फूंक गहै तोऊ आँगुरी नचत है

बाँसुरी बरनन

बाँसुरी वरनन

'नेही' हौं कहत टेरें बाँसुरी पपीहा मेरें, परे हैं अकसद्र निरूस कत जाइए।
दुख देत हैं घनेरो पहुँचै न हाथ मेरो, दोउ घनस्याम ढिग बैर क्या जनाइए।
चैन है न दिन रैन दुहुन के सुन बैन, रुमन ते भये नैन पलको न लाइए।
सुर सरगहि कैसें होत हैं सबद बेधे, इन्ह छिदे कंठन कों भेद नाँहि पाइए ॥७६॥

स्फुट कवित्त[४६]

कोइ कहै जाइ कान्ह आइ है बसंत रितु, कोइल के कूकन की ब्रज मैं बखानी है।
हिय सुलगत आग ऊभो दई भुवंग आइ, भनत न बनत जरि बचन बखानी है।
एते परखै कमान काम कमनीय रूप, गोपिन की 'नेही' हग मार का निसानी है।
खुले अधखुले अनखुले नाँहि लै पुहुप, आइ बाल मारी एक छूइ एक तानी है ॥७७॥
आँखिन के आगे सरसों सी फूलिबो करत, आनै न परत कौन बीज यह ब्वै गयो।
बिरह अगिनि ज्वाला निकसै न साँस संग, सोचन सकोचन सों 'नेही' तन तै गयो।
निस दिन जागत है लागत न नैन नेक, मन कों अनेक भाँति लैउ देक दै गयो।
कैसे अब प्रगट दिखाइहै दरस मोहि, सपनें न देखौं तातें नींद हरि लै गयो ॥७८॥
जाव नातें 'नेही' पिय तुम बेधो तिय हिय, मारि मारि कोर हग पंछी विसाल की।
फुनि वहै छेद सेंध कर मन चोर लीन्हो, ताव नातें कछू औरे भई गति बाल की।
बोह हिरदै को बल आँसुन को सैल भयो, सो पै न बनत है भनत वाके हाल की।
छाती भर-भर नैन भर-भर उमडै यौं बूड़ जात, घरी में घरी ज्यों घरियाल की ॥७९॥
किधौं लाज भार तें निहार न सकत ऊँचे, नीचे नार रहत कुमार है कलीन के।
किधौं 'नेही' जैसें नाल नलिन कली के तैसें, सहि न सकत है चिहू कुंज पीन के।
किधौं आप हीन तें चलत नै तिय तन माँह, जान निहचै के प्रकीरति प्रबीन के।
गुन प्रान कहौं कान्ह कौन कौन देस जान, कूबरी न होय बेटी होय मन मीन के ॥८०॥
निपट चपल मन छावें जो भरस तन, तोउ ध्यान धर ताहि अचल करत है।
'नेही' कहै तेरो रूप प्यारे चित मंदिर मैं, चित्र लखे पूतरी ज्यों नाहन तरत है।
रावरी के बैन सुन होत हैं त्रिपति कान्ह, आन बैन सुनिबे की रुचि ना धरत है।
पूतरी न देखियत देखियत सब कछू, तेरे बिन देखे कछू देख्यो न परत है ॥८१॥
नाँहि यह जोन्ह ज्वाल जरी तातें बाँचै कौन, यासो जरै जौन ताको गुन गुनियत है।
नेवर न होंहि तोल गुरु फल हैं रे आली, 'नेही' पिय की सौं देख सिर धुनियत है।
बूझ न परत सुन ये जुगुनू न होंहि, ठौर ठौर सखी री अंगार चुनियत है।
झींगुरन हू को सोर नाँहि य चहूँ ओर, आवत है नीर ताको सोर सुनियत है ॥८२॥
कबहूँ गै पौर कबहू दौरि आँगन मैं, कान्ह चक दौरि कैसें भाँवरीं भरत है।
'नेही' है छिपावत दौराबत सुन रस तातें, नीलकंठ देह दावान से जरत है।
कतर सो बेधत बरवाधि उर अंतर निरंतर की बात जब अंतर परत है
गुरु जान श्याम आली मोतिन किलो मिब कों साँवरे की आँखिन कों रुगति धरत है ८३

सखी स्याम रंग मोहि घात किस्सु कौंचियत चौन बूद बान मारैं पीन सहि लहि के।
कोइल करत कुल गान कहा कहत है, कुहुक कुहुक कूहू कूहू कहि कहि के।
एते पर अब यह सुन कुन कैसें जीजे, मोहि 'नेही' बिन देखे दुख सहि सहि के।
हियो भरि आयो रुक रुक जाल कंथ ताते, कहत पपीहा पीउ पीउ रहि रहि के ।।८४।।
भामिनि स्रवन पग भूलेहूँ न धरियत वह, निस दिन मग देखिबो करत है।
जानत हौं 'नेही' तुम वाही मारे चाहत हौ, मारे वहै मरिबे को होसन मरत है।
कैसें के कहौं व्यथा बरत जिय मेरो जैसें, तैसें जो कहत अति रसना बरत है।
पलक झपक पंखा नैन आध परे कोइला, आंसू हीं चिंगारियन जारत जरत है ।।८५।।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) मीर गुलाम अली आजाद बिलग्रामी : तज्किर. यदे बैजा (२) शेर खां लोदी : तज्किर : मिरातुल ख़याल, सन् १८३१ ई०, पृ० २२६ (३) वही, पृष्ठ २२८ (४) मीर गुलाम अली आज़ाद बिलग्रामी : यदे बैज़ा क़लमी (५) वही (६) मीर हजमा : काशिफुल् अस्तार, क़लमी (७) शेर ख़ाँ लोदी : मिरातुल ख़याल, पृ० २२८ (८) डॉ० अमीर हसन आबिदी : उहदे शाहजहानी का एक क़ाबिले तवज्जोह शाएर यानी सईद क़ुरैशी; फ़िक्रो नज़र से : माही; शुमार : जनवरी सन् १९६२ ई०, अलीगढ़ मु० यू०, अलीगढ़, पृ० ६६ (९) मौलाना आजाद लाइब्रेरी, मु० यू०, अलीगढ़, की पाण्डुलिपि, सं० अब्दुस्सलाम ९०३/२५ से यह छंद उद्धृत हैं। (१०) प्रस्तुत छंद उक्त प्रति में नहीं है। यह अब्दुस्सलाम संग्रहालय के ही एक दूसरे संग्रह ग्रंथ मखतूतात ९०४/२६ से लिया गया है। यह छंद, छंद संख्या १ के साथ ही प्रस्तुत पाण्डुलिपि में एक पृष्ठ पर लिखा हुआ है। प्रस्तुत पाँडुलिपि छंद सं० ६ से प्रारम्भ होती है। पाद-टिप्पणी में जो पाठ-भेद दिया गया है वह इसी पाण्डुलिपि संख्या ९०४/२६ का है (११) भर जीभ (१२) कीने (१३) धरत चक (१४) रहत थक (१५) हारे (१६) हंस गये गुन रूप भरे जंघा लोयन तें (१७) दुहुन (१८) जीह (१९) सो तो (२०) सारे (२१) देखी (२२) कौन जानै इन्हें (२३) होयँ (२४ होत (२५) कमला हृदय (२६) भावरनि (२७) जीव गहि कीनों (२८) गुन सों पूलरीन कों (२९) यह छंद प्रतिसंख्या ९०४/२६ में नहीं है (३०) लाल्यो (३१) सो (३२) होयँ (३३) लाल्यो (३४) प्रस्तुत छंद पांडुलिपि सं० ९०३/२५ में नहीं है, यह ९०४/२६ से लिया गया है (३५) गई (३६) पाछे (३७) साँकर (३८) गहियत (३९) सोर के (४०) सुध-बुध (४१) को (४२) काली नाग (४३) हैया अबहीं कन्हैया (४४) पांडुलिपि सं० ९०४/२६ यहीं पर समाप्त हो जाती है (४५) दीमक लग जाने के कारण पढ़ा नहीं जा सका (४६) मौलाना आज़ाद पुस्तकालय मुस्लिम यूनिवर्सिटी अलीगढ़ : पांडुलिपि सं० ज़ख़ीरए अहसन'''/१० मुतफ़र्रिक़ात।

रसखान के वृत्त पर पुनर्विचार

• कृष्णचन्द्र वर्मा

रसखान के जीवनवृत्त पर सर्वप्रथम प्रकाश डालने का श्रेय श्री किशोरीलाल गोस्वामी को है। वे रसखान की रचनाओं के अनन्य भक्त थे तथा बड़े श्रम से उन्होंने रसखान के काव्य और जीवनवृत्त से हिन्दी के साहित्यानुरागियों को सन् १८९१ में 'सुजान रसखान' नामक ग्रंथ द्वारा परिचित कराया। लगभग ५० वर्ष तक हिंदी के विद्वानों को रसखान के सम्बन्ध में उससे अधिक जानकारी न थी। सच तो यह है कि रसखान के जीवन का प्रामाणिक वृत्त उपस्थित कर सकना सरल नहीं, क्योंकि इस सम्बन्ध में प्रामाणिक एवं उपयोगी सामग्री का अभाव है। इसी कारण विद्वान् लोग इधर-उधर के कुछ सूत्रों को पकड़ कर आगे बढ़े हैं। रसखान की समस्त रचनाएँ भी अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। जो उपलब्ध हैं, उन्हीं के आधार पर कुछ कहा जा सकता है।

रसखान का समय

रसखान के समय के सम्बन्ध में एक ही तिथि निश्चित है और वह यह कि सं० १६७१ वि० में उन्होंने 'प्रेमवाटिका' लिखी। यह अंतस्साक्ष्य पर आधारित तिथि होने के कारण प्रामाणिक है—

> १ ७ ६ १
> बिधु सागर रस इंदु सुभ बरस सरस रसखानि।
> प्रेम बाटिका रचि रुचिर चिर हिय हरख बखानि॥

अन्य बातें जो उनके समय के सम्बन्ध में कही जाती है, वे अनुमान पर आश्रित हैं। अनेक अनुमान तो इसी सं० १६७१ वि० को केन्द्र मानकर लगाए गए हैं। श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने उक्त दोहे के आधार पर ही यह अनुमान करते हुए कि यह रचना कम से कम २५ वर्ष की आयु में लिखी गई होगी, रसखान का जन्म सं० १६४६ के आसपास माना।[1] बाबू अमीरसिंह ने रसखान का जन्म 'प्रेमवाटिका' की रचना के ३० या ४० वर्ष पूर्व अनुमित किया है अर्थात् सं० १६३१ या १६४१ के आसपास।[2] मिश्रबंधुओं ने 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के आधार पर रसखान को गो० बिट्ठलनाथ जी का शिष्य स्वीकार किया है। बिट्ठलेश की मृत्यु स० १६४३ में हुई उन्होंने अनुमान किया है कि सं० १६४० के लगभग

रसखान उनके शिष्य हुए होंगे। यदि ये २५ वर्ष की आयु में भी विरक्त हुए होंगे तो इनका जन्म सं० १६१५ माना जा सकता है और इनकी अवस्था अनुमान से ७० वर्ष की मानकर मिश्रबंधुओं ने सं० १६८५ इनका मरणकाल ठहराया है। मिश्रबंधुओं ने यह भी लिखा है कि "रसखान ने अपना समय अनुचित व्योहारों में भी व्यय किया था, अतः इनकी कविता का आदिकाल भी २५ वर्ष की अवस्था से पहले अनुमानित नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में सं० १६४० के आसपास उन्होंने काव्य-रचना प्रारम्भ की होगी।"[३] आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मत मिश्रबंधुओं के मत के निकट ही है। वे भी गोसाईं विट्ठलनाथ जी के गोलोकवास (सं० १६४३) की तिथि के आधार पर रसखान का रचनाकाल सं० १६४० के उपरान्त ही मानते है। 'प्रेमवाटिका' का रचनाकाल सं० १६७१ है ही।[४] पं० रामनरेश त्रिपाठी ने किसी प्रचलित मत के आधार पर रसखान का जन्म सं० १६४० और मरण सं० १६८५ के लगभग लिखा है।[५] डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'प्रेमवाटिका' के रचनाकाल को ही रसखान का कविता-काल कहा है।[६] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'प्रेमवाटिका' के रचनाकाल के आधार पर सं० १६१७ के लगभग रसखान का जन्म माना है।[७] श्री चन्द्रशेखर पाँडे ने रसखान का जन्म सं० १६१५ के आसपास माना है। उनका कहना है कि रसखान ने युवावस्था में गो० बिट्ठलनाथजी से दीक्षा ली होगी, वृद्धावस्था में नहीं, क्योंकि इनके जीवन-चरित्र से सिद्ध है कि जिस समय ये एक वणिकपुत्र पर आसक्त थे, उस समय कुछ वैष्णवों के उपदेश से या अन्य किसी कारण से ये वृन्दावन गए और वहाँ दीक्षित हुए। ऐसी दशा में दीक्षा के समय उनकी अवस्था २५ वर्ष की मानना संगत ही है।[८] रसखान की मृत्यु वृद्धावस्था में हुई होगी लगभग ६० वर्ष की आयु में, ऐसा अनुमान करते हुए पाँडे जी उनकी मृत्यु (सं १६१५ + ६०) सं० १६७५ ठहराते हैं। दीक्षित होने के अनन्तर ही सं० १६४० के आसपास पाँडे जी रसखान का काव्य-सृजन-काल मानते है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र रसखान के जन्म-मृत्यु काल के निर्णय के फेर में नहीं पड़े हैं, किन्तु रसखान का जन्मकाल और दीक्षाकाल तथा 'प्रेमवाटिका' का रचनाकाल उन्हें भी वही मान्य प्रतीत होता है जो किंकर जी और पाँडे जी ने स्वीकार किया है। मृत्यु-संवत के संबंध में वे पूर्णतः मौन है। कारण, निश्चित आधारो का अभाव। मिश्र जी ने एक तो रसखान के शिष्यत्व-काल का अनुमान किया है—वार्ता के अनुसार रसखान गो० बिट्ठलनाथ के शिष्य हुए। बिट्ठल स्वामी का गोलोकवास सं० १६४३ मे माना गया है, फलतः रसखान इससे पहले ही उनके शिष्य हुए होंगे। परन्तु प्रश्न उठता है इससे पहले किस समय? बिट्ठलनाथ जी सं० १५९९ में गद्दी पर बैठे थे, उस समय उनकी आयु २७ वर्ष की थी। किसी मुसलमान को वैष्णव धर्म में दीक्षित करने की दृढ़ता प्रौढ़ावस्था मे ही सम्भव है। इसलिए ५०-६० वर्ष की वय में ही इनके द्वारा रसखान को दीक्षा देना संभव है। इस प्रकार सं० १६२२ के आसपास रसखान गोस्वामी बिट्ठलनाथ के शिष्य हुए होंगे। दूसरे, मिश्र जी का कहना है कि 'प्रेमवाटिका' (रचनाकाल सं० १६७१) रसखान के जीवन के उत्तर-काल की रचना है; इसे आरंभिक काल की रचना मानने की भूल न करनी चाहिए, क्योंकि उसकी प्रौढता स्पष्ट सूचित करती है कि वह रसखान के उत्तरवर्ती

की रचना है

इस प्रकार हम देखते है कि पुष्ट तथ्यों के अभाव में रसखान के समय के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं, फिर भी मोटे तौर से कुछ बातें लोगों को मान्य हैं जैसे—(१) रसखान का जन्म सं० १६१५ या १६१७ के आसपास (२) रसखान सं० १६४० के आसपास गो० विट्ठलनाथ के शिष्य हुए (३) उनका काव्य-रचनाकाल सं० १६४० से सं० १६७५ तक है (४) 'प्रेमवाटिका' उन्होंने सं० १६७१ में रची और (५) उनकी मृत्यु सं० १६७५ के आसपास या उसके बाद सं० १६८५ के पहले कभी हुई।

डॉ० भवानीशंकर याज्ञिक 'पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ' में प्रकाशित अपने लेख में 'देखि ग़दर हित साहिबी' वाले सूत्र को पकड़कर भिन्न निष्कर्षों पर पहुँचे हैं जो इस प्रकार है—(१) सं० १५९० के लगभग जन्म (२) सं० १६१२ के आसपास दिल्ली छोड़कर ब्रज आना (३) सं० १६२७ के बाद वैष्णव धर्म की दीक्षा (४) सं० १६३४-३७ तीन वर्षों तक मानस की कथा का श्रवण (५) सं० १६७१ में 'प्रेमवाटिका' की रचना तथा (६) लगभग ८५ वर्ष की आयु में सं० १६७५ के आसपास मृत्यु। ये निष्कर्ष अन्य विद्वानों के पूर्वोल्लिखित निष्कर्षों से भिन्न हैं तथा उनके तर्कों और प्रमाणों को देखते हुए अधिक विश्वसनीय भी जान पड़ते है।

सैयद इब्राहीम पिहानीवाले और रसखान

रसखान के नाम की छाप तीन रूपों में उनकी रचनाओं में देखने को मिलती है—'रसखानि,' 'रसखान' और 'रसखाँ'। 'शिवसिंह सरोज' में इन्हें 'सैयद इब्राहीम पिहानीवाले' बतलाया गया है। कुछ अन्य विद्वानों ने भी इसी आधार पर रसखान का असली नाम सैयद इब्राहीम और इन्हें पिहानी का निवासी कहा है। किन्तु अधिकांश विद्वान् रसखान को पिहानी (जिला हरदोई) का रहने वाला नहीं मानते, वरन् राजवंशी पठान या बादशाहवंश का बतलाते हैं और इन्हें दिल्ली का निवासी स्वीकार करते हैं।[९] रसखान के पठान और दिल्ली निवासी तथा गो० विट्ठलनाथ के शिष्य होने की बात 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के आधार पर ही विद्वानों द्वारा गृहीत हुई है। इनके दिल्ली निवासी होने की बात 'देखि गदर हित साहिबी' वाले दोहे में भी आई है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने पिहानी के सैयद इब्राहीम और रसखान को एक ही व्यक्ति सिद्ध करने की चेष्टा की है[१०], किन्तु डॉ० भवानी शंकर याज्ञिक ऐसा नहीं मानते।[११]

रसखान का प्रारम्भिक जीवन

चूँकि रसखान बादशाह वंश में पैदा हुए थे, इसलिए अनुमान किया जा सकता है कि इनका प्रारम्भिक जीवन बड़े सुख से व्यतीत हुआ होगा। सांसारिक दृष्टि से वह जीवन पूर्ण सुख-समृद्धि और ठसक का रहा होगा। इनकी शिक्षा-दीक्षा भी अच्छी तरह हुई होगी। लगभग २५ वर्ष की आयु तक इनका जीवन निर्द्वन्द्व रहा होगा। यह तो कहा ही जाता है कि श्रीमद्भागवत का ये फ़ारसी अनुवाद पढ़ा करते थे। इससे जाहिर है कि फ़ारसी का इन्हें अच्छा ज्ञान रहा होगा।

'देखि ग़दर हित साहिबी

उपर्युक्त दोहांश से स्पष्ट है कि दिल्ली में साहिबी (राजगद्दी) के लिए कोई विप्लव या ग़दर हुआ, जिसमें भीषण रक्तपात हुआ। उसने रसखान की मनोभूमि में बीजरूप से स्थित विरक्ति के भाव को अंकुरित कर दिया और ये शाही ठसक छोड़कर मथुरा-वृन्दावन चले आए। ये घटना रसखान के जीवन में एक नया मोड़ ले आनेवाली सबसे महत्वपूर्ण घटना है जिसके न घटने पर रसखान 'रसखान' न होते और हम इस महान् प्रेमी और भक्त कवि की काव्य-संपदा से वंचित रह जाते। यह घटना भी रसखान के जीवन और उनकी वृत्ति पर सम्यक् प्रकाश डालने वाली है। एक प्रश्न जिस पर प्रारम्भ में विद्वानों ने प्रायः विचार नही किया था, वह यह है कि रसखान ने दिल्ली कब छोड़ी और उनमें विरक्ति जगा देने वाला ग़दर कब हुआ। रसखान के जीवन से सम्बन्धित उस महत्वपूर्ण घटना के काल की भी छानबीन की जानी चाहिए जिसका बहुत स्पष्ट संकेत उन्होंने स्वतः अपनी 'प्रेमवाटिका' मे किया है—

देखि ग़दर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा बंस की ठसक छाँड़ि रसखान॥

इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य यह है कि वह घटना कौन सी है और कब हुई जिसमें दिल्ली नगर श्मशान के रूप में परिणत हो गया था और जिसने रसखान को सुख-समृद्धि पूर्ण जीवन से वैराग्य लेने को बाध्य कर दिया, उन्होंने बादशाही खानदान में उत्पन्न होने की ठसक छोड़ दी और श्रीबन में गोबर्धनधाम में आकर बस गए जहाँ राधा-कृष्ण के ललाम स्वरूप में उन्हें परम शान्ति प्राप्त हुई—

प्रेम निकेतन श्रीबनहिं, आइ गोबर्धन धाम।
लह्यौ सरन चित चाहि कै, जुगल-सरूप ललाम॥

इस सम्बन्ध में, जहाँ तक हमारी जानकारी है, सर्वप्रथम 'रसखान रत्नावली' के सम्पादक किंकर जी ने विचार किया था। किंकर जी का कहना है कि सं० १६४० वि० के लगभग रसखान ने दिल्ली में होने वाले ग़दर के बाद विरक्त हो गो० विट्ठलनाथ के पास आकर दीक्षा ली होगी। यह समय दिल्ली के सिंहासन पर अकबर के राज्य करने का है। इस समय इतिहास में ऐसी किसी राज्यक्रान्ति का उल्लेख नहीं मिलता जिसमें दिल्ली नगर श्मशान हो गया हो। संभवतः किसी छोटी-मोटी घटना को रसखान ने बड़ी भारी राज्य-क्रान्ति का नाम दे दिया है। किंकर जी ने लिखा है—"यह अशान्ति अकबर के सौतेले भाई मिर्जा मुहम्मद हकीम के असन्तोष के कारण हुई थी, जो काबुल के शासक होते हुए भी दिल्ली के सिंहासन पर अपना दाँत लगाए हुए थे। इनके दरबारी भी अकबर के विरुद्ध इन्हें भड़काते रहते थे। फलतः सं० १६३८ में अकबर ने अफगानिस्तान पर आक्रमण करके अपने अधिकार मे कर लिया और सं० १६४२ में मिर्जा हकीम की मृत्यु के अनंतर उसे दिल्ली राज्य का सूबा बना लिया इसी अशान्ति को ने कहा है [१२] यह भी एक

प्रकार का इतिहास-विषयक अनुमान ही है। किंकर जी जिस युद्ध या विप्लव को रसखान द्वारा संकेतित क्रान्ति ठहरा रहे है, उसमें दिल्ली में किसी घटना के होने का जिक्र नहीं है। युद्ध हुआ या रक्तपात हुआ—वह तो अफगानिस्तान में। दिल्ली में क्या विप्लव मचा ? क्या खून-खराबी हुई ? अतएव यह अनुमान भी शिथिल जान पड़ता है। किंकर जी द्वारा सर्व-प्रथम अनुमित इस ऐतिहासिक कारण को ही लेकर श्री चन्द्रशेखर पांडे और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र आगे बढ़े हैं। इन लोगों के अनुसार वह घटना जिससे रसखान द्वारा वर्णित ग़दर का सम्बन्ध हो सकता है, इस प्रकार है। अकबर का सौतेला भाई मिर्ज़ा मुहम्मद हकीम काबुल का शासक था। वह दिल्ली के सिंहासन पर स्वयं बैठना चाहता था। इसी उद्देश्य से उसने थोड़ा बहुत उपद्रव किया था। मुहम्मद हकीम का साथ दिल्ली के कई अमीर भी गुप्त रूप से दे रहे थे जिनमें स्वयं अकबर का मंत्री शाह मंसूर अग्रणी था। उसके कई पत्र पहले भी पकड़े गए थे, किन्तु अकबर ने समझा कि यह सब शाह मंसूर से ईर्ष्या रखने वालों की कारस्तानी है। अकबर जिस समय बंगाल में था, मिर्ज़ा मुहम्मद हकीम ने पंजाब पर हमला कर दिया। अकबर शीघ्र ही लौटकर दिल्ली आया और वहाँ से हकीम को दबाने के लिए चल पड़ा। अकबर के साथ मे शाह मंसूर भी था। अकबर को इसी समय यह बात निश्चित रूप से ज्ञात हुई कि हकीम के विद्रोह में शाह मंसूर का भी हाथ है, क्योंकि उसके कुछ पत्र और भी पकड़े गए। उसने तुरन्त शाह मंसूर को बबूल के पेड़ में लटकाकर मार डाला गया। संभव है हकीम और शाह मंसूर के और साथी दिल्ली ही में मारे गए हों। संभव है कुछ पठानों को भी विद्रोह और षड्यंत्र में सम्मिलित होने के कारण मृत्यु-दण्ड मिला हो। ये पठान, हो सकता है, रसखान के निकट सम्बन्धी रहे हों। यह बात ध्यान रखने की है कि शाह मंसूर को दिल्ली से कुछ ही कोसों की दूरी पर फाँसी दी गई थी। अन्य दरबारी जो उक्त षड्यन्त्र में शाह मंसूर के साथ थे, संभवतः दिल्ली में ही मारे गए। वैसे किसी भीषण विप्लव और मारकाट का, जो अकबर के समय में दिल्ली में हुआ हो, कोई उल्लेख मिश्र जी के मतानुसार अकबरनामा, तबकाते अकबरी, आईने-अकबरी आदि में नहीं है, परन्तु शाह मंसूर की फाँसी इतिहास-प्रसिद्ध घटना है। रसखान ने यह भी स्पष्ट तौर से लिखा है कि उपद्रव (ग़दर) साहबी या राज्यप्राप्ति के लिये हुआ था, अतः बहुत सम्भावना इसी बात की है कि शाह मंसूर और उसके साथियों, दरबारियों एवं पठानों को मृत्युदण्ड मिला होगा और उसी को रसखान ने ग़दर का नाम दिया और उसी ने उनके मन में विरक्ति पैदा की। भावुक और सरल हृदय रसखान, धन और राज्यलिप्सा की ऐसी परिणति देखकर ही संसार से विरक्त हुए होंगे। शाह मंसूर को फाँसी सन् १५८५ (सं० १६४२) में दी गई। समय की दृष्टि से भी इस घटना की संगति रसखान के वैराग्य और वृन्दावन में जाकर दीक्षा ग्रहण करने से बैठ जाती है। यहाँ भी संगति बिठाने और एक अनुमान को कुछ और तर्कों द्वारा पुष्ट करने का ही प्रयत्न है। इस सम्बन्ध में डॉ० भवानीशंकर याज्ञिक ने अच्छी खोजबीन की है और उन्होंने एक भिन्न मत सामने रक्खा है जो अधिक विश्वसनीय है। उन्होने बताया है कि रसखान ने जिस गदर की चर्चा अपने दोहे में की है, वह सं० १६१२ का ग़दर या विप्लव है। उन्होंने ऐतिहासिक आधारों पर बताया है कि यह गदर पठानों के द्वारा ही मचाया गया था मुसलमानों के द्वार

नहीं रसखान को अपनी ही जातिवालों के पारस्परिक विग्रह से विरक्ति हुई थी। यह विग्रह, फूट, पारस्परिक मारकाट और ग़दर हुआ भी उत्तराधिकार (माहवी) के लिए। शेरशाह सूरी के उत्तराधिकारी और सम्बन्धी राज्य-प्राप्ति के लिये एक दूसरे के खून के प्यासे हो रहे थे। स० १६०२ में इस कलह का बीजारोपण तब हुआ, जब शेरशाह के छोटे पुत्र सलीमशाह ने अपने बड़े भाई आदिल खाँ का राज्य हड़प लिया। वह आमोद-प्रमोद में लिप्त रहने वाला एक व्यसनी व्यक्ति था। उसकी ओर से राज्याधिकार प्राप्त करने का कोई भी उद्योग न हुआ, फिर भी सलीमशाह उसकी हत्या की ताक में लगा हुआ था। उसके स्वेच्छाचारों और अन्यायों के कारण ईर्ष्या, द्वेष, हत्या और दमन की भीषण अग्नि खूब भड़की और स० १६११-१२ में भयंकर रूप से फैल गई, जिसके कारण पठानों का सर्वनाश हो गया। दो वर्षों के अनवरत युद्ध और कलह के कारण दिल्ली नगर श्मशान में परिणत हो गया था। इसी वर्ष स० १६१२ में जनता भी भीषण अकाल से पीड़ित हुई और सर्वत्र घोर अराजकता का साम्राज्य छा गया था। इस दुर्भिक्ष और हाहाकार का, इतिहासकार बदायूँनी ने अत्यन्त हृदयविदारक विवरण दिया है। नरहरि कवि ने भी अपने आश्रयदाता सलीमशाह की मृत्यु के बाद देश की इसी दुरवस्था का चित्रण अपने एक छप्पय में इस प्रकार किया है—

उदक बनिज सुखि गयेउ अयेउ नहिं पुहुमि अन्न फल।
प्रजा दुखित दलमलित गयेउ फटि फुटि पठाँन दल॥
दत्त सत्त गरुबत्त रहेउ धन धरम किति नति।
मँडन सोर चहुँ ओर बहुरि सँवरेउ मुगुलपति॥
जगदीश दिखावहि दिखिवए, कहिं 'नरहरि' लिख दिह धुरक।
सूरन बिन साह सलेम बिन, अकल विकल हिंदू तुरक॥

इस प्रकार सं० १६१२ विक्रमी की इन्हीं घटनाओं से संत्रस्त होकर अपनी प्राणरक्षा के लिए या संसार से विरक्त होकर रसखान ने दिल्ली छोड़ दी। याज्ञिक जी ने लिखा है कि पठान-वंश के ग़दर से ही उन्हें घृणा हो सकती थी। मुग़लवंश का गृह-कलह उनके वैराग्य का कारण नहीं हो सकता था।[१३]

रसखान ने शाही वेशभूषा और ठसक छोड़ दी तथा मानवती प्रेमिका को भी तिलांजलि दे दी। सं० १६१२ में वे दिल्ली से ब्रज भाग आए और छद्मवेश में हिन्दू साधु या भक्त के रूप में ब्रजप्रदेश में ही रहे और धीरे-धीरे हिन्दू से ही हो गए। उस समय मुगल सैनिक शाहीवंश के पठानों के दमन में तत्पर थे, फलस्वरूप रसखान को अपना नाम, गाँव आदि गुप्त रखकर जीवनयापन करना पड़ा। अपनी रक्षा के लिए उन्होंने अपना वासस्थान, असली नाम, माता-पिता का नाम किसी को न बताया होगा, इसी में उनका हित था। समय बीतने पर उन्होंने वृद्धावस्था में 'प्रेमवाटिका' में अपना सांकेतिक परिचय देकर जीवन के इतने बड़े रहस्य का उद्घाटन किया है। वे हज्ज-यात्रा के लिए भी आत्मरक्षा के कारणों से ही न गए होंगे[१४]

साहूकार के बेटे के प्रति रसखान की आसक्ति

रसखान के जीवन की एक प्रमुख घटना की ओर सभी ने ध्यान आकृष्ट किया है और वह यह कि इनका प्रारम्भिक जीवन अत्यंत लौकिक प्रेम में फँसा हुआ था। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में उल्लिखित किसी साहूकार के सुन्दर लड़के के प्रति इनकी आसक्ति की चर्चा इस प्रकार की गई है—"अब श्री गोस्वामी जी के सेवक रसखान पठान जो दिल्ली में रहते थे उनकी वार्ता सुनिये। दिल्ली में एक साहूकार रहता था, उसके एक बहुत सुन्दर बेटा था। उस छोरे से रसखान का मन बहुत लग गया, वे उसी के पीछे फिरा करते थे और उसका जूठा खाते और आठों पहर उसी की गुलामी करते थे। पगार कुछ लेते नहीं थे, रात दिन उसी में आसक्त रहते थे। दूसरी बड़ी जात वाले मुसलमान रसखान की बहुत निन्दा करते थे, पर रसखान किसी की सुनते नहीं थे और आठों पहर उनका चित्त उसी साहूकार के बेटे में लगा रहता था। एक दिन चार वैष्णव मिलकर भगवद्वार्ता कर रहे थे, करते-करते ऐसी बात निकली कि प्रभु में ऐसा चित्त लगाया जाय जैसा रसखान का चित्त साहूकार के बेटे मे लगा है। इसी बीच रसखान उस रास्ते से निकले, उन्होंने ये बातें सुनी। रसखान ने कहा—ये तुम लोग मेरी बात क्यों कर रहे हो, तब वैष्णवों ने जो बात थी सो कही। तब रसखान बोले—प्रभु का स्वरूप जब दिखाई दे तब तो चित्त लगाया जाय। तब उस वैष्णव ने उन्हें श्रीनाथ जी का चित्र दिखाया। उसे देखते ही रसखान ने वह चित्र ले लिया और मन में ऐसा संकल्प किया कि जब ऐसा रूप देखूँगा तभी अन्न ग्रहण करूँगा। लौकिक संबंधो से वितृष्णा होते ही रसखान घोड़े पर सवार हो रातों रात दिल्ली से वृन्दावन पहुँचे और वेश बदल कर सभी मंदिरों में दर्शन करते फिरे, किन्तु जैसी छबि उनके पास थी और आँखो मे बसी हुई थी वैसी छबि कहीं न दिखाई पड़ी। अंत में वे गोपालपुर पहुँचे और वहाँ श्रीनाथ जी के मंदिर में जब प्रवेश करने लगे तो भगवद्प्रेरणा से सिंहपौर के प्रहरी ने उन्हे मुसलमान समझ जाने से रोका और धक्के मारकर बाहर कर दिया। परिणामस्वरूप ये तीन दिन तक बिना खाए-पिए गोविन्द कुंड पर पड़े रहे। इनके सच्चे प्रेम से प्रसन्न होकर श्रीनाथ जी ने स्वयं इन्हें दर्शन दिया और भगवद्प्रेरणा से गो० बिट्ठलनाथ ने इन्हें अपने भक्ति-संप्रदाय में दीक्षित किया। श्रीनाथ जी के स्वरूप में आसक्त हो ये ज्यों-ज्यों आत्मविभोर होते गये, वे इन्हें अपने स्वरूप और लीलाओं का दर्शन और साक्षात्कार कराते गये। रसखान ने धीरे-धीरे श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन और कीर्तन करना शुरू किया। इस प्रकार उनकी गलत ढंग की प्रेम-वासना चार महात्माओं के संसर्ग से भगवद्भक्ति में परिणत हो गई। लौकिक विषय-वासना और सांसारिक लिप्सा की यह प्रतिक्रिया इतनी तीव्र हुई कि वे सच्चे भगवद्प्रेमी होकर ही रहे। यही कारण है कि गो० बिट्ठलनाथ ने उन्हें अपने भक्तो की मडली में स्थान दिया। ये उनसे दीक्षित हो श्रीकृष्ण के परमप्रेमी भक्त हो गये तथा व्रजभूमि की महिमा का साक्षात्कार करते हुए ये उसी की महत्ता के गीत गाने लगे और अपने छंदो मे कृष्ण-प्रेम और लीलाओं का आख्यान करने लगे। इनका कृष्णानुराग इस प्रकार भौतिक प्रेम की प्रतिक्रिया स्वरूप था।"[1] 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के आधार पर दी गई उक्त घटना से एक बात विदित हुए बिना नहीं रहती और वह यह कि प्रेम भक्ति, धर्म ऐसी

सद्वृत्तियों के बीज उनमें प्रारंभ से ही निहित थे। ये जाति के पठान थे तथा इन्हें भारतवासी हिन्दुओं के प्रति विशेष सद्भाव था। पठान भारत के पुराने शासक थे और वे मुगलों को विदेशी तथा अपने को देशी समझते थे। भारत के प्राचीन हिन्दू निवासियों के प्रति उनका अच्छा व्यवहार था और वे भारत को अपनी देशी भूमि समझते थे। यही कारण है कि ये लोग मुगलों से बराबर षड्यंत्र और विद्रोह करते रहे।[१५]

दीक्षा के बाद

दीक्षा लेने के बाद रसखान पूर्ण कृष्णभक्त हो गये होंगे तथा कृष्णभक्ति में लीन होकर कृष्ण-चरित्र का कवित्त-सवैयों में गान करते रहे होंगे। वैष्णवों के बीच इनका अच्छा सम्मान रहा होगा। भगवद्-प्रसाद इनका भोजन रहा होगा और साधु-संगति जीवन। गो० बिट्ठलनाथ जी के शिष्य होकर ये भक्तिपूर्वक कृष्ण की गोचारण, वेणुवादन, दधिदान, रास आदि विविध लीलाओं का जिस रूप में दर्शन करते, उसी रूप में उन्हें अंकित करते चलते। यह बात इनकी रचनाओं से भी स्पष्ट है। प्रतिदिन गोपीकृष्ण संबंधी होने वाली घटनाओं या क्रीड़ाओं का जीता-जागता चित्र इनकी रचनाओं में देखा जा सकता है। 'वार्ता' में वैष्णव भक्तों द्वारा दिखाये गये चित्र को देख रसखान में कृष्णानुराग की लालसा जगी, यह बात 'प्रेमवाटिका' की इस पंक्ति से भी प्रमाणित होती है—"प्रेमदेव की छबिहिं लखि भये मियाँ रसखान।" यह कहा गया है कि रसखान ने श्रीमद्भागवत का फ़ारसी अनुवाद पढ़ा था तथा ये भक्त होकर पंडितों के संसर्ग में रहे जिसके कारण इन्हें संस्कृत का भी ज्ञान हुआ। ब्रज-प्रदेश में बहुत समय तक रहने के कारण भाषा-काव्यग्रन्थों का भी इन्होंने पर्याप्त अध्ययन किया। इसी कारण भाषा, शब्दावली और व्यंजना का वैसा ही सरस, मधुर स्वाभाविक रूप उनकी रचनाओं में गोचर होता है जैसा बड़े से बड़े ब्रजभाषा कवि में देखा जाता है। भाषा के पारखियों ने तो रसखान को भाषा की दृष्टि से ब्रजभाषा के उत्तमोत्तम कवियों में परिगणित किया है। जैसी ब्रजभाषा इन्होंने लिखी है, उससे यही सिद्ध होता है कि ये ब्रज-प्रदेश में काफी समय तक रहे थे तथा ब्रज-साहित्य का इन्होंने पर्याप्त आस्वादन किया था।

रसखान का रामायण पाठ सुनना

बाबा वेणीमाधव दास रचित 'मूल गुसांई चरित' को एक अप्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, फिर भी डॉ० याज्ञिक ने उसमें दिये गये रसखान संबंधी विवरण को मान्य ठहराया है। 'मूल गोसाईं चरित' में कहा गया है कि संडीले (जिला हरदोई) के स्वामी दयालदास से तीन वर्ष (सं० १६३४ से १६३७) तक रसखान ने रामचरित-मानस की कथा सुनी। डॉ० याज्ञिक का कथन है कि जिन रसखान ने शिव, गंगा आदि पर भक्ति, प्रेम और निष्ठा-पूर्ण रचनाएँ की हों, वे यदि रामभक्त और मानस-प्रेमी भी रहे हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अतएव असंभव नहीं कि रसखान ने काफी समय तक रामायण-पाठ किया या सुना हो। इस स्वीकृति के विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि यदि रसखान ने तीन वर्षों तक मानस का परायण किया अथवा सुना तो उन्होंने रामभक्ति या रामचरित्र का करने वाले

छंद क्यों नहीं लिखे ? किन्तु यह भी संभव है कि उनके तत्संबंधी छंद अंधकार के गर्त में अब भी छिपे पड़े हों। जो हो, 'गुसाईं चरित्र' वाला रसखान विषयक विवरण भी एक सूचना ही है जो उनसे संबंधित जानकारी की आंशिक वृद्धि करता है।

कंठीमाला-धारण प्रसंग

नाभादास रचित 'भक्तमाल' में रसखान का नाम नहीं आया है, क्योंकि उसमे सं० १६४३ तक के भक्तों का ही विवरण है और उस समय तक रसखान की विशेष ख्याति न रही होगी। कालांतर में मूल 'भक्तमाल' में नये-नये भक्तों का विवरण जुड़ता रहा। प्रियादास जी ने भी रसखान का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु सं० १८४४ में लिखित अपने 'भक्तमाल प्रसंग' में वैष्णवदास जी ने रसखान का विवरण इस प्रकार किया है—''बादशाह ने देखा कि तुर्क भी कंठीमाला (काठ की माला गले में) पहनने लगे, तब उन्होंने रसखान को बुलवाया। देखा कि रसखान के गले में कंठी पड़ी हुई है। उन्होंने पूछा—रसखान ! कंठी क्यों पहनते हो ? रसखान ने कहा—हज़रत ! काठ की नाव पर सवार हो पत्थर भी तर जाता है, इसी से मैंने भी काठ की माला पहन रखी है। ये काठ हैं, मै पत्थर हूँ, इसीलिये इसे कंठ में रखता हूँ। तब शाह ने कहा—अच्छा ये तो बताओ कि यहाँ तो कितने हिन्दू भी कंठी नहीं धारण करते ? इस पर रसखान ने कहा कि वे हल्के हैं, मैं भारी पत्थर हूँ।'' इस परम प्रवीण उत्तर से रसखान की निष्ठा और बुद्धिमत्ता का पता चलता है और यह भी पता चलता है कि रसखान के समसामयिक बादशाह ने 'कंठीमाला धारण' न करने की राजाज्ञा प्रचारित कर रक्खी थी।[१२]

आगे चलकर अंबाला के तुलसीराम जी ने 'भक्तमाल' और उसकी टीका का सं० १९१३ में फारसी-उर्दू रूपांतर 'भक्तमाल प्रदीपन' नाम से किया और संवत् १९२३ में उसी का हिन्दी रूपांतर 'भक्त कल्पद्रुम' नाम से हुआ। इन दोनों ग्रंथों में भी उक्त विवरण मिलता है। साथ ही यह भी कहा गया है कि रसखान मुसलमान थे तथा अपने किसी पीर के साथ वृन्दावन पहुँचे और श्रीकृष्ण का दर्शन पाकर वहीं रहने लगे। अपने पीर के बहुत कहने पर भी उन्होंने ब्रजभूमि नहीं छोड़ी। ब्रजभूमि के प्रति अनन्य आसक्ति विषयक कितनी ही रचनाएँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं।

डॉ० भवानीशंकर याज्ञिक के मतानुसार कंठी-माला-धारण-निषेधाज्ञा के संबंध मे इतिहास मौन है। किन्तु वल्लभ-संप्रदाय के इतिहास में 'माला-प्रसंग' नाम से इस राजाज्ञा का विवरण उपलब्ध है। उसके अनुसार सम्राट जहाँगीर ने किसी चिद्रूप नामक संन्यासी के कहने से कंठीमाला-धारण के विरोध में एक आदेश निकाला था। वैष्णव भक्तों के बीच इसका तीव्र विरोध हुआ। गोकुलनाथ जी ७० वर्ष की वृद्धावस्था में जहाँगीर से मिलने काश्मीर गये और इस आज्ञा का उन्होंने विरोध किया तथा उसे हटवाने में सफल रहे। कंठीमाला-धारण के पक्ष में गो० गोकुलनाथ का सफल प्रयास उनके जीवन की एक प्रधान घटना कही जाती है। इसके फलस्वरूप संप्रदाय में गोकुलनाथ जी की विशेष प्रतिष्ठा हुई। इससे 'भक्तमाला प्रसंग' के सबंधी वृत्त की पुष्टि होती है डॉ० याज्ञिक ने लिखा है कि चिद्रूप सन्यासी से

जहाँगीर की भेंट सं० १६७३ तथा सं० १६७६ में हुई थी। इधर 'प्रेमवाटिका' रसखान ने सं० १६७१ में लिखी। इस कारण माला-प्रसंग के समय का रसखान के समय से मेल बैठ जाता है। गो० गोकुलनाथ जी की काश्मीर यात्रा और कंठीमाला-धारण-निषेध की आज्ञा वापस लेने का समय भी सं० १६८४ (जहाँगीर के मृत्यु-काल) के पूर्व होना चाहिये।[१*]

उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि रसखान दिल्ली के निवासी थे, पठान बादशाहों के वंश के थे और राजनैतिक षड्यंत्रों तथा दिल्ली के रक्तपात आदि के बीभत्स दृश्यों से विरक्त हो उन्होंने शाही ठाठबाट छोड़ दिया था, साथ ही अपने लौकिक प्रिया का भी त्याग कर वृन्दावन में आकर बस गये थे। श्रीकृष्ण का चित्र देखकर इन्हे भगवद्-दर्शन की उत्कट इच्छा हुई। गो० विट्ठलनाथ ने इनकी अनन्य निष्ठा देख अपने भक्तो में स्थान दिया और वे कंठी-माला धारण कर हिन्दू-भक्तों के समान जीवनयापन करने लगे। तीन वर्ष (सं० १६३४-३७) तक इन्होंने मानस की कथा सुनी तथा सं० १६७१ में 'प्रेमवाटिका' की रचना की।

किंवदंतियाँ

रसखान के जीवन से संबंधित अनेक किंवदंतियाँ भी प्रचलित हैं। इनसे भी उनके जीवन पर अंशतः प्रकाश पड़ता है। पहली किंवदंती तो किसी साहूकार के बेटे पर रसखान की आसक्ति से संबंधित है जिसका विवरण 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में आया है और जो पहले दिया भी जा चुका है। दूसरी किंवदंती यह है कि रसखान किसी स्त्री पर आसक्त थे जो बड़ी मानवती और अभिमानिनी थी। ये उससे बड़ा लगाव रखते थे, पर वह इनका अनादर और तिरस्कार किया करती थी। एक दिन ये श्रीमद्भागवत का फ़ारसी अनुवाद पढ़ रहे थे। उसमें वर्णित गोपियों का विरह देख इन्हें अपनी प्रिया के प्रति घृणा का भाव जागृत हुआ और श्रीकृष्ण के प्रति आसक्ति का। उन्होंने सोचा कि जिस कृष्ण पर हजारो गोपियाँ जान देती थीं, उसी से क्यों न इश्क किया जाय। इसी भाव से भावित हो वे वृन्दावन चले आये। उनका निम्नलिखित दोहा इसी घटना की ओर संकेत करने वाला बतलाया जाता है—

> **तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहनी मान।**
> **प्रेमदेव की छविहिं लखि, भये मियाँ रसखान।।**

तीसरी किंवदन्ती यह है कि इनकी एक प्रेमिका ने इन्हें ताना दिया कि जितना तुम हमें चाहते हो, उतना यदि उसे चाहते जिसे लाखों गोपियाँ चाहती हैं तो तुम कितने पागल हो जाते ? इस बात की चोट खा वे सब कुछ छोड़ वृन्दावन चले आये। चौथी किंवदंती यह है कि कहीं पर श्रीमद्भागवत की कथा होती थी। वहीं पर श्रीकृष्ण का सुन्दर चित्र रक्खा देखकर ये मुग्ध हो गये। रसखान ने व्यास जी से उस 'साँवली सूरत वाले' का नाम और वासस्थान पूछा। व्यास ने इन्हें भगवान का नाम 'रसखान' और वासस्थान 'वृन्दावन' बताया ये वृन्दावन चले आये परन्तु वहाँ इन्हें किसी ने मंदिरों में न जाने दिया तब

यमुना-पुलिन की रेत में बैठ कर भगवान का नाम पुकारने लगे। लोग इन्हें पागल समझ कर तंग करने लगे। वस्तुतः ये पागल हो चुके थे। इन्हें भक्तवत्सल भगवान ने तीसरे दिन अनुग्रह-पूर्वक दर्शन किया। तब से नित्य इन्हें गोपी, ग्वाल और कृष्ण के दर्शन होते। कहा जाता है कि इनकी अन्त्येष्टि क्रिया भगवान ने ही की। संभव है रेत में बैठ कर 'रसखान-रसखान' पुकारने के कारण ही पागल समझ लोगों ने इनका नाम 'रसखान' रख दिया हो और वही प्रचलित हो गया हो। तीसरी किंवदंती दूसरी से मिलती-जुलती है और चौथी किंवदंती का एक अंश 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' की कथा के एक अंश से मिलता है जिसमें ईश्वर-दर्शन के लिये यमुना-पुलिन या देवालय के समक्ष बिना खाये-पिये तीन दिनों तक रसखान के पड़े रहने की बात कही गई है। इन किंवदंतियों का उल्लेख श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने 'सुजान रसखान' नामक संकलन में किया है और उसी आधार पर रसखान के काव्य के समस्त परवर्ती संकलनों में आया है। उक्त सभी किंवदंतियों से ऐसा पता चलता है कि रसखान का युवाकालीन जीवन असंयत और कुत्सित था। पता नहीं वे किसी मानिनी स्त्री के प्रति आसक्त थे या किसी साहूकार के छोरे पर अथवा जैसा मिश्र जी ने अनुमान किया है किसी साहूकार की छोरी पर[१८]। जो हो, ईश्वरीय आधार पाते ही लौकिक आधार छूट गया और रसखान की प्रणय-भावना पवित्र ईश्वरीय प्रेम की मंदाकिनी में स्नान कर पवित्र हो उठी। रसखान के संबंध में प्रचलित उपर्युक्त समस्त जनश्रुतियों का संबंध रसखान के जीवन की एक ही घटना से है—लौकिक प्रिय से वैराग्य तथा अलौकिक प्रिय से अनुराग। वास्तव में ये विभिन्न किंवदंतियाँ एक ही घटना के विभिन्न संस्करण हैं। "नामूला तु जनश्रुतिः" के अनुसार इन किंवदन्तियों के घटाटोप के बीच से एक सत्य झलक रहा है और वह यह कि किसी समय रसखान लौकिक प्रेम में असाधारण रूप से लिप्त थे तथा उनके जीवन में अवश्य ही कोई ऐसी घटना घटी जिसने उनके मन की धारा को बदल दिया। वे कृष्णभक्त हो वृन्दावन में रहने लगे, श्रीकृष्ण का उन्हें साक्षात्कार हुआ उनके लीलाओं के प्रति अनुरक्ति हुई। संसार की संपदा और शक्ति को उन्होंने जिलांजलि दे दी, ब्रज-रज के समक्ष बादशाहत की ठसक छूँछी नजर आई। वे परमभक्तों और ईश्वर-प्रेमियों की कोटि में पहुँच गये। उनके संबंध में एक किंवदन्ती और है जिसका विवरण परवर्ती संकलनों में मिलता है। किसी समय ये अपनी रियासत के कई मुसलमानों के साथ मक्का-मदीना हज्ज करने जा रहे थे। बीच में ब्रज में ठहरे। वहाँ किसी प्रकार से इनको कृष्ण से इश्क हो गया। तब इन्होंने साथियों को यह कहकर कि मैं तो अब यहीं रहूँगा, और लोग हज्ज को तशरीफ ले जायँ, विदा किया और आप वहीं रह गये। यह समाचार बादशाह तक पहुँचा और किसी ने रसखान से भी आकर कह दिया कि बादशाह से किसी ने चुगली खाई कि वह तो 'काफिर' हो गया, इसलिये आप सम्हल जाइए। यह सुन आपने यह दोहा पढ़ा—

कहा करै रसखान को, कोऊ चुगुल लबार।
जो पै राखनहार है, माखन-चाखन हार॥

और उसी तरह ब्रज में बने रहे, कुछ भी परवाह न की। इस संबंध में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि उस समय मियाँ लोग मक्के बहुत जाते थे जाते भी थे

भेजे भी जाते थे। बादशाह अकबर जिनसे अप्रसन्न हो जाता था उन्हें मक्के भेज देता था। हो सकता है कि इन्हें अपने परिवार वालों सहित बादशाह ने मक्के जाने की आज्ञा दी हो, पर ये मक्का न जाकर वृन्दावन चले आये और कृष्ण-भक्त हो गए। किसी ने इनके काफिर हो जाने की चुगली की होगी जिसका पता 'चुगुल लबार' वाला दोहा दे रहा है। हो सकता है कि अकबर ने इनसे 'दीनइलाही' में सम्मिलित हो जाने को कहा हो, पर ये उसमें शामिल न होकर कृष्ण-भक्त हो गए। यह भी बादशाह की नराजगी का कारण हो सकता है। पर धर्म के मामले में उसकी नीति उदार थी, इसलिये उसने रसखान का कोई प्रत्यक्ष अहित न किया होगा।

रसखान की कृतियाँ

रसखान की लिखी दो कृतियों की चर्चा प्रायः इतिहास-ग्रंथों में मिलती है—१ सुजान रसखान २. प्रेमवाटिका। 'सुजान रसखान' में सामान्यतया १२६ छंदों के होने का उल्लेख पुराने विवरणों में मिलता है जिनमें १० दोहे और सोरठे तथा शेष कवित्त और सवैया छंद बताये गये हैं। 'प्रेमवाटिका' दोहों में लिखी गई है और इसमें ५२ दोहों का होना बताया गया है। इसमें कुछ सोरठे भी हैं। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में रसखान के कीर्तनों का भी उल्लेख है। रसखान का लिखा एक पद ऐसा मिलता है जिससे 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के कथन की सत्यता अंशतः प्रमाणित हो जाती है। किन्तु अन्य पदो की उपलब्धि अभी तक नहीं हो सकी है। रसखान की रचनाओं के अनेक संग्रह समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। उत्तरवर्ती संग्रहों में रसखान-विरचित छंदों की संख्या उत्तरोत्तर अधिक होती गई है। 'प्रेमवाटिका' के दोहों की संख्या में तो कोई वृद्धि नहीं हुई है, किन्तु 'सुजान रसखान' के कवित्त-सवैयों की संख्या अवश्य बढ़ी है। 'सुजान रसखान' के नवीनतम सस्करण मे छंदों की संख्या १२६ से बढ़कर २१४ तक जा पहुँची है। डॉ० भवानीशंकर याज्ञिक के पास रसखान की रचनाओं का जो संग्रह है, उसमें कुछ ऐसे भी छंद हैं जो अद्यावधि प्रकाश में नहीं आ सके हैं। उन्होंने बड़े परिश्रम से देश के विविध भागों से छानबीन करके रसखान के अधिकाधिक छंदों को उपलब्ध करने की चेष्टा की है। अब तो पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'रसखानि ग्रन्थावली' के प्रकाशन से रसखान के कुल २८१ छंद प्रकाश में आ गये हैं। डॉ० याज्ञिक के संग्रह में प्राप्त रसखान के कुल छंदों की संख्या ३१० है। डॉ० याज्ञिक का कहना है कि अब इससे अधिक सामग्री के प्राप्त होने की आशा नहीं है। रसखान की रचनाओं के जो विविध उल्लेखनीय सस्करण समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं उनका संक्षिप्त विवरण देना यहाँ अनुचित न होगा :—

(१) आधुनिक काल के प्रारंभ में ही इस दिशा में सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मित्र और अनन्य साहित्यानुरागी श्री किशोरीलाल जी गोस्वामी ने बड़े मनोयोग और परिश्रम के साथ रसखान की रचनाओं का संकलन और प्रकाशन किया। रसखान की कृतियों से हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने का सबसे अधिक श्रेय उन्हीं को है। वे रसखान की रचनाओं के अनन्य प्रेमी थे उन्होंने कानपुर, दिल्ली, वृन्दावन पटना इत्यादि नगरों में अपने

मित्रों के पास पत्र भेजा, किन्तु उन्हें उनसे एक-एक, दो-दो छन्द ही मिल सके। रसखान की कृतियों के रसिक भारतेन्दु जी से भी उन्हें इस संबंध में कोई सामग्री प्राप्त न हो सकी। किन्तु उन्होंने अनेक लोगों की सहायता से धीरे-धीरे रसखान की १०५ कविताएँ संग्रहीत कर ली और उन्हें 'रसखान शतक' नाम से खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित करायी। यह संग्रह उन्होंने भारतेन्दुजी को समर्पित किया, क्योंकि वे भी रसखान की रचनाओं के अनन्य प्रेमी थे। किन्तु अब वह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इसके बाद रसखान के बनाये हुए दो ग्रथ १ सुजान रसखान २. प्रेम-वाटिका गोस्वामी जी को अपने दो मित्रों—पं० जगन्नाथ त्रिपाठी और कविवर पं० अंबाशंकर व्यास—की सहायता से प्राप्त हुए। 'सुजान रसखान' नामक ग्रंथ सन् १८९१ (सं० १९४८) में भारत जीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ मे कवित्त, सवैया, सोरठा और दोहा लेकर कुल १२८ छंद हैं। दूसरी बार यह ग्रंथ संवत १९७६ में छपा। कुछ समय पश्चात रसखान के दोहों का संग्रह 'प्रेमवाटिका' किशोरी लाल गोस्वामी ने पहले तो हरिप्रकाश यंत्रालय से प्रकाशित कराया, फिर हितचिंतक यंत्रालय से (सं० १९६३ में)।

(२) सं० १९८६ (सन् १९२९) में श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी ने 'रसखान-पदावली' नाम से एक संग्रह हिन्दी मंदिर, प्रयाग द्वारा प्रकाशित कराया जिसमें 'सुजान रसखान' के १२२ छंदों के अतिरिक्त भी १२ छंद संग्रहीत हुए हैं जिन्हें संपादक ने 'रागरत्नाकर' से ढूँढ़ कर संकलित किया था।

(३) इसके पश्चात् नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के अनुरोध पर श्री अमीर सिंह ने 'रसखान और धनानंद' नाम से एक संग्रह प्रस्तुत किया जो सं० १९८६ में प्रकाशित हुआ। इसमें किशोरीलाल गोस्वामी के संग्रहों में प्राप्त छंदो के अतिरिक्त भी कुछ सवैये रखे गये। इसमें 'प्रेम-वाटिका' शीर्षक से ५३ दोहे और 'सुजान रसखान' शीर्षक से १३३ छ्न्द संकलित है जिनमें कवित्त-सवैयों के अलावा कुछ दोहे और सोरठे तथा एक पद भी सम्मिलित है।

(४) इसके बाद जालंधर के लाला भक्तराम ने व्यंकटेश्वर प्रेस, बंबई से प्रकाशित 'राग रत्नाकर' में रसखान के १०९ छंद प्रकाशित किये।

(५) लखनऊ निवासी लाला केदारनाथ ने 'रसखान के कवित्त सवैया' नाम से १०५ छंदों का संकलन दो बार प्रकाशित किया। दूसरी बार यह प्रकाशन सं० १९७१ में हुआ।

(६) सन् १९३९ में हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि श्री रूपनारायण पांडेय द्वारा प्रस्तुत 'रसखान-कवितावली' नामक संग्रह नवल किशोर प्रेस, लखनऊ ने प्रकाशित किया। इसमे ९६ छंद, 'प्रेमवाटिका' के ५७ दोहे और रसखान का परिचय देने वाले ५ और दोहे संकलित हैं।

(७) सन् १९४१ में आलोक पुस्तक माला के प्रथम पुष्प के रूप में कवि किंकर द्वारा संपादित 'रसखान रत्नावली' भारतवासी प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई। इसमें १२० कवित्त-सवैये और ६४ दोहे संकलित हैं। इसकी विशेषता यह है कि छन्दों का वर्गीकरण f किया गया है

(८) सं० १९९९ (सन् १९४२) में पं० चंद्रशेखर पांडे द्वारा लिखित 'रसखान और उनका काव्य' शीर्षक ग्रंथ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित हुआ जिसमें रसखान के काव्य की विशद आलोचना सहित उनकी समस्त उपलब्ध रचनाएँ प्रकाशित की गई है। इसमें कवित्त-सवैये शीर्षक से १३५ छन्द, प्रेमवाटिका के ५० दोहे तथा परिशिष्ट के अन्तर्गत १७ दोहे और १ पद संकलित हैं।

(९) अहमदाबाद से भक्तिग्रंथ माला में 'महानुभाव रसखान' नाम से एक ग्रंथ प्रकाशित हुआ।

(१०) सं० २०१० (सन् १९५३) में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने वाणी वितान, ब्रह्मनाल, काशी से 'रसखानि ग्रंथावली' नाम से एक ग्रंथ प्रकाशित किया जिसमें हस्तलिखित और मुद्रित ग्रन्थों के आधार पर रसखान के काव्य का विधिवत सम्पादन किया गया है। इसमें 'दानलीला' नामक एक नई रचना का भी समावेश रसखान के नाम से किया गया है जिसमें ११ कवित्त-सवैये हैं। 'सुजान रसखान' में २१४ छन्द और 'प्रेमवाटिका' के अन्तर्गत ५३ दोहे संकलित हैं। रसखान के नाम से प्राप्य एक मात्र पद प्रकीर्णक शीर्षक से रक्खा गया है। ग्रन्थावली की प्रस्तावना में मध्यकालीन स्वच्छन्द काव्यधारा का संक्षिप्त विवेचन और मियाँ रसखान का जीवन परिचय दिया गया है।

रसखान की रचनाओं के उल्लेखनीय संस्करण ये ही है। संभव है उनकी कविताओं के कुछ अन्य संस्करण भी हों या कुछ अन्य संग्रह भी यत्र-तत्र प्रकाशित हुए हों, परन्तु प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को वे संग्रह देखने को नहीं मिले।

संदर्भ-संकेत

(१) श्री किशोरीलाल गोस्वामी : सुजान रसखान में 'श्री श्री रसखान जी का जीवन चरित्र' (२) बाबू अमीरसिंह : रसखान और घनानन्द, पृ० ३ (३) मिश्रबंधु-विनोद, पृ० ३८० (४) हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १७७ (५) कविताकौमुदी (भाग १), पृ० ३३० (६) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ८४२ (७) हिन्दी साहित्य, पृ० २०६-७ (८) रसखान और उनका काव्य का 'संक्षिप्त परिचय' (९) हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य, पृ० २०६; रामनरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी, पहला भाग, पृ० ३३०; हंसराज अग्रवाल . हिंदी साहित्य की परम्परा, पृ० २३३; रामबहोरी शुक्ल : हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास, पृ० १६६; मिश्रबन्धु विनोद, पृ० ३८०; रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १७६ (१०) रसखानि ग्रंथावली, प्रस्तावना पृ० २४-२५ (११) पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ३१४ (१२) कवि किंकर : रसखान रत्नावली (१३) 'पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ' में डॉ० भवानीशंकर याज्ञिक का 'रसखान' शीर्षक लेख, पृ० ३१२-३१४ (१४) वही (१५) पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र; रसखानि ग्रन्थावली, प्रस्तावना, पृ० २५ (१६) देखिये 'पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ' में डॉ० याज्ञिक का 'रसखान' शीर्षक लेख (१७) पोद्दार अभिनन्दन ग्रथ, पृ० ३०७-८ (१८) रसखानि ग्रंथावली पृ० २८।

अवधी भाषा की उत्पत्ति और विकास

• ज्ञानशंकर पाण्डेय

सन् १००० ई० के आस-पास का समय राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिवर्तनों के साथ-साथ भाषाओं के लिए भी एक क्रान्ति का युग रहा है। ९वीं से १२वीं शती तक भारत में आने वाली विभिन्न जातियों ने अपनी शक्ति में वृद्धि करके देश भर में अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित किए। जातिगत राज्यों की इन विभिन्न इकाइयों तथा अन्य कारणों से भाषा की विभिन्न इकाइयाँ अस्तित्व में आईं। इसी समय अनेक धर्म और संप्रदाय जनता के बीच से उठ रहे थे। इन्होंने जनता को प्रभावित करने के निमित्त जनभाषा में अपनी 'बानियाँ' कहीं। इस प्रकार विद्यापति ने मैथिली को, सिद्धों ने मगही को, ग्वालियर के चतुरों ने ग्वालियरी को, अमीर खुसरो ने खड़ीबोली को, मीरा ने मारवाड़ी को और सूफियों ने अवधी को बढ़ावा दिया। वस्तुतः यह उपरिकथित भाषाओं के अभ्युदय का युग था। इसी समय से अर्वाचीन युग तक हमें अवधी भाषा की अक्षुण्ण परम्परा के दर्शन होते हैं।

अवधी भाषा की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। इस मतवैभिन्न का एकमात्र कारण उद्भवकालीन सामग्री का अभाव है। आचार्य शुक्ल के मत से अवधी का उद्गमस्थल नागर अपभ्रंश है,[1] जबकि जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के मतानुसार अवधी शौरसेनी से विकसित हुई है और अवध-प्रदेश या कोशल-प्रान्त शौरसेनी के ही अन्तर्गत सम्मिलित है।[2] डॉ० बाबूराम सक्सेना ने पूर्वी हिन्दी का पालि से साम्य दिखाकर अवधी को प्राचीन अर्धमागधी से विकसित होने का अनुमान लगाया है।[3] परन्तु ३०० ई० पू० की किसी साहित्यिक भाषा से १२वीं शताब्दी में किसी जनबोली का विकसित होना प्रायः असंभव है। अवधी के प्रारंभिक बीजरूपों एवं उसकी विकास-प्रक्रिया को संलक्ष्य कर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस भाषा का उद्भव उत्तरवर्ती अर्धमागधी अपभ्रंश से हुआ है। भौगोलिक दृष्टि से भी इसकी पूर्ववर्ती भाषा शौरसेनी अपभ्रंश और मागधी अपभ्रंश के मध्य में बोली जाने वाली अर्धमागधी अपभ्रंश ही थी जिसकी प्रवृत्ति शौरसेनी की अपेक्षा मागधी की ओर अधिक रही होगी

...मिक ...कास

बहुलता संयुक्त क्रियाओं का प्रारम्भ आदि अपभ्रंश की ध्वनि तथा पद-सम्बन्धी विशेषताओं ने विकसित होकर अवधी आदि आधुनिक आर्यभाषाओं का स्वरूप निर्माण किया। उपलब्ध सामग्री के आधार पर अवधी की विकासमान अक्षुण्ण परंपरा को तीन काल-खंडों में विभक्त करके अध्ययन किया जा सकता है :—

(१) आदियुग (१००० ई० से १५०० ई०)
(२) मध्ययुग (१५०० ई० से १८५० ई०)
(३) आधुनिक युग (१८५० ई० से अब तक)

आदियुग (१००० ई० १५०० ई०)

यह अवधी की शैशवावस्था का युग था। वह अपभ्रंश के प्रभावों से मुक्त हो अपने को निखारने एवं सँवारने के लिए प्रयत्नशील थी। अतः इस काल में अवधी के साथ अपभ्रंश के मिश्रित रूप का मिलना स्वाभाविक ही है। अपभ्रंश काव्य में पूर्वी हिंदी के शब्द अपने मूलरूप में विद्यमान थे। 'संकट पाआ,' 'केण मिटाआ', 'लगणहिजल'—वाक्यांशों में पाआ (पावा), मिटाआ (मिटावा), लग (लगे-निकट) पूर्वी प्रयोग हैं। चंद की भाषा तो 'षड्भाषा' थी ही, उसमें पूर्वी प्रयोगों का विद्यमान होना स्वाभाविक ही था।[४] कबीर ने पर्याप्त पूर्वी प्रयोग किए हैं। इनकी साखियों में खड़ीबोली, सबदियों में ब्रजभाषा तथा रमैनियों में अवधी या पूर्वी उपभाषाओं की स्पष्ट प्रवृत्ति मिलती है। रमैनियों में पूर्वी रूप बराबर दिखाई देते हैं, जैसे—कोई-कोई या कोऊ-कोऊ के स्थान पर केऊ-केऊ।[५] अवधी के प्रथम कवि मुल्ला दाऊद की रचना 'चंदायन' में अवधी के ठेठ शब्द प्रचुर मात्रा में व्यवहृत हुए हैं।[६] इस आदिकालीन अवधी-रूप के परिचय के प्रमुख स्रोत इस प्रकार हैं :—(१) अपभ्रंश काव्य, (२) तद्युगीन हिन्दू शासकों की दरबारी कविता, (३) औक्तिक काव्य, (४) नाथसिद्धों का सांप्रदायिक साहित्य, (५) निर्गुणपंथी सन्त-काव्य, (६) सूफी-काव्य 'चन्दायन'।

अस्तु, यहाँ अवधी के बीजरूपों के अन्वेषण में हेमचन्द्र के व्याकरण, 'संदेशरासक,' 'कीर्तिलता', 'वर्णरत्नाकर,' 'प्राकृतपैंगलम्', 'कुमारपालप्रतिबोध', 'प्रबन्ध चिन्तामणि' आदि अपभ्रंश-ग्रंथों तथा 'पृथ्वीराज रासो' आदि दरबारी-काव्यों, सिद्धों के चर्यागीतों, 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' और कबीर की रमैनियों एवं साखियों तथा मुल्ला दाऊद की 'चन्दायन' आदि सूफी ग्रंथों के आलोडन का प्रयास किया जायगा।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'बुद्धचरित' की भूमिका में विक्रम की १२वीं, १३वीं और १४वीं शताब्दी एवं इनसे भी पूर्व मुंज और भोज के समय (सं० १०३६) के ग्रंथों से कुछ ऐसे दृष्टान्त दिए हैं जिनमें अवधी के ह्रस्वीकृत शब्द-रूपों की स्पष्ट झलक मिलती है, यथा—

> दिन्न हत्थु नियगुण कडप्पह जगुज्झंपियो अवजसिण।
> भुवणि वसंत पयट्ठु।
> मह सग्गयस्स बि पिट्ठि लग्ग।
> कसकरु रे पुत्तकलत्त धी, कसकरु रे करसण बाड़ी ?
> सइ, सउ संभरिहि प्रास्कइ बइसामर होमीइ।

उपर्युक्त दृष्टान्तों में, दिन्न = दिया (अवधी 'दीन' का पूर्व रूप); पयट्ठु = पैठा (अवधी 'पैठ'); लग्ग = लगा (अवधी 'लाग' का पूर्वरूप); संबंधकारक सर्वनाम 'कसकरु' = किसका (अवधी 'केहिकर'); कर्म-चिह्न 'प्राणकइ' = प्राण को (अवधी 'प्राण कै')।

इसी प्रकार पश्चिमी अवधी (बैसवाड़ी) के रूप भी उपलब्ध होते हैं।—

> विणास करू, गिरि हत्थ धरू।
> चल कमल णअणिआ।
> मण मज्झ बम्मह ताव, णहु कन्त अज्जु वि आव।
> आवै कंता, सहि कहिआ?
> सोउ जुहिट्ठिइ संकट पाआ, देवक लेखिअ केण मिटाआ।

करू, धरू = किया, धरा (तुलसी का कर, धर); चल = चलती है; ताव = तपाता है; बह = बहता है (उदा०—'उत्तरदिसि सरजू बह पावनि'—तुलसी); आव = आया; आवै = आये = आवेगा; पाआ, मिटाआ = पावा, मिटावा (= पाया, मिटाया)।[७]

अपभ्रंश में प्रायः तद्भव और देशज, इन दो प्रकार के शब्दों का आधिक्य है। यहाँ 'देशीनाममाला' में दिए गए कुछ ऐसे तद्भव तथा देशज शब्दों की सूची दी जा रही है जो आधुनिक अवधी शब्दों से साम्य रखती है।[८]

देशीनाममाला		अवधी	देशीनाममाला		अवधी
लट्ठी	१/२४०	लाठी	छिण्णाल	३/२६	छिनाल, छिनार
अग्घाण	१/४१६	अघान	दोरो	३/५८	डोरा
थूण	१/१२२	थूनी	पराई	४/३५०	पराई
गगरी	२/३६	गगरी	छइल्ल	४/४१२	छैल
घग्घरै	२/१०७	घंघरी	डाल	४/४५२	डार
			खाई	४/४२४	खाइ

आधुनिक बोलचाल की अवधी में इस प्रकार की शब्दावली बहु-प्रचलित है। आगे चलकर जायसी आदि सूफी कवियों ने इन ठेठ शब्दों का प्रयोग अधिकता से किया है। इस प्रकार आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के इस मत की पुष्टि हो जाती है कि "अर्धमागधी प्राकृत और अर्धमागधी अपभ्रंश में प्राकृत की जनप्रचलित शब्दों की, ठेठ शब्दों की प्रवृत्ति अधिक थी। यह परंपरा पूर्णतया सुरक्षित है। जैनों के अर्धमागधी अपभ्रंश या अवधी भाषा मे ठेठ का ग्रहण अधिक है।"[९]

ध्वनि-विशेषताएँ :—

(क) घाउ[१०] < घाव < घातः। ठाँउ[११] <ठाँव (स्थान)। पिउ[१२]

ख) उण्हउ[१३] < उष्ण

(ग) हम्हेहि, तुम्हेहि ।[१४]

(घ) उल्हुवइ ।[१५]

(च) भल्ला हुआ जु मारिआ बहिरिण म्हारा कंतु ।
लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु ।[१६]

(छ) गाऊं गाऊं अथवा कुकुर ।[१७]

(ज) जुआरय (वर्णरत्नाकर) < द्यूतकारक । मांजइ < मार्जति, ओअइ आदि ।

(झ) झीनि शब्द मुष नीसरइ धीर-धीर के राम ।

(ट) कंवल[१८] < कमल । भंवइ[१९] < भमइ < भ्रमति ।

रेखांकित शब्द अवधी की उच्चारण-प्रणाली के अत्यधिक निकट हैं। इससे हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं :—

(१) अवधी की उकार-बहुला प्रवृत्ति वाउ, ठाँउ, पिउ, कंतु, घरु, गाँउ-गाँउ (अवधी-गाँव-गाँव) आदि में स्पष्ट देखी जा सकती है।

(२) न्ह, म्ह, ल्ह आदि अवधी की नवीन ध्वनियों का परिचय भी अपभ्रंशकाल से ही मिलता है, यथा—उण्हउ, हम्हेहि, तुम्हेहि तथा उल्हुवइ आदि।

(३) अवधी उआ, अइ, इउ तथा ओअइ आदि स्वर-संयोग के रूपों को अपभ्रंशकालीन जुआरय (अवधी-जुआरी) मांजइ (अवधी-माँजै), पिउ (अवधी-पिउ), नीसरइ (अवधी-निसरइ), ओअइ आदि उदाहरणों में ढूंढ़ा जा सकता है।

(४) म > वँ अवधी की एक ध्वनि संबन्धी विशिष्ट प्रवृत्ति है, यथा—

कंवल न आछै आपनि बारी ।[२०]

साँवर कुअंर सखी सुठि लोना ।[२१]

कंवल,[२२] भंवइ[२३] आदि रेखांकित शब्द उक्त प्रवृत्ति के मूलस्रोत की ओर संकेत करते हैं।

(५) मूर्धन्य संघर्षी (ष) ध्वनि का उच्चारण प्रथम प्राकृतकाल में ही समाप्त हो गया था। अपभ्रंशकाल में 'मुष' के प्रयोग का यही अर्थ है कि आधुनिक अवधी के 'हरख' (हर्ष), भेख (वेष) की तरह यह 'ख' रूप में ही उच्चरित होता रहा होगा।

पद-विशेषताएँ :—

(१) अवधी संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा क्रियापदों की सबसे बड़ी प्रवृत्ति लघ्वन्त की है। इस प्रवृत्ति के आदि रूप हमें अपभ्रंश में दिखलाई पड़ते हैं; उदाहरणार्थ :—

अपन[२४] > अवधी- आपन ।

लाग[२५] > अवधी-लाग (मानक तिलक आनकां लाग[२६])

दूर हुन्ते आआ बड़बड़ राजा ।[२७] (अवधी—को बड़ छोट कहत अपराधू—तुलसी)

एन्हु माँझ कवन तोर माइ ।[२८] (अव०—मैं अरु मोर तोर तैं माया ।[२९])

जल कमल ण भणिया;[३०] मण मज्झ वम्मह भाव· एहु कंत मन्तु वि भाव[३१] ।

अपभ्रंश के संबंध और अधिकरण बहुवचन रूपों की यह वि
वाले उक्त विकारी रूपों के पश्चात् परसर्ग भी प्रयुक्त होते थे। यथा-

जुवतिन्हि क उत्कंठा[५३]—संबंध
युवराजन्हि मांझ पवित्र[५४]—अधिकरण

यह प्रवृत्ति मध्ययुगीन अवधी तक में पाई जाती है। यथा :—

धीरन्ह के मन विरति दृढ़ाई—तुलसी।
नृपन्ह केरि आसा निसि नासी—तुलसी।
रानिन्ह कर दारुन दुख दावा—तुलसी।

(५) मध्यकालीन अवधी में प्रयुक्त कुछ विशिष्ट परसर्गों के उद
रूप में मिल जाते हैं, परन्तु अर्वाचीन अवधी में अब इनका
चुका है।

करणकारक का 'सन', संप्रदान का 'लागि', अपादान का 'हुन्
'क', अधिकरण का 'मांझ' ११वीं शताब्दी से चल पड़ा था। यथा—

करण—(१) कायेसर सन राय—कीर्तिलता
(२) एहि सन हठ करिहौं पहिचानी—तुलसी

संप्रदान—(१) काहे लागी बब्बर बेलायसि मुझ—प्राकृतपैंगलम्
(२) ममहित लागी जन अनुरागी—तुलसी

अपादान—(१) दूर हुन्ते आ बड़ बड़ राम्रा—कीर्तिलता
(२) सिर हुंत बिसहर परे भुइं लाग—जायसी

संबन्ध—(१) जुवतिन्हिक उत्कंठा—वर्णरत्नाकर २० ख
(२) सब धरमक टीका—तुलसी

अधिकरण—(१) युवराजन्हि मांझ पवित्र—कीर्ति० १२
(२) तेन्हु मांझ—उक्ति व्यक्ति प्रकरण
(३) मंदिर मांझ भई नभवानी—तुलसी

(६) आधुनिक अवधी क्रियाओं के बीजरूप भी तत्कालीन अपभ्रं
निम्नलिखित विवेचन से यह बात स्पष्ट है :—

(अ) कर्मवाच्य में सामान्य वर्तमानकाल की क्रिया में—ईअ, –
योग हुए हैं; यथा—खेलिअ[५५], पढ़िअ[५६], जेंविअ[५७]।

आगे चलकर तुलसी आदि मध्यवर्ती अवधी कवियों में इस प्रवृत्ति

(१) संत संभु श्रीपति अपवादा। सुनिअ जहाँ तँह असि मरजादा[५८] ॥

(२) कहिअ काहु कहि जाइ न बाता...[५९]।

(ब) अवधी के—ब अन्तवाले भविष्यत् तथा वर्तमानकालीन—हिं रूपों का परिचय मिलने लगता है, यथा—वेद पढब, स्मृति अभ्यासबि, पुराण देखब, धर्म करब[६०], सहब[६१]; मल्ल जुज्झ ससि राहु करहिं[६२]।

(स) अवधी भूतकालिका—सि अन्तवाले रूपों के भी दर्शन हमें उस समय की अपभ्रंश में मिल जाते हैं; यथा—देखेसि[६३]; किएसि, पावेसि[६४]।

(द) तिङन्त भविष्यत् विभक्ति—इहिइ का प्रयोग हेमचन्द्र के समय से प्रारंभ हो चुका था, यथा—होहिइ[६५]।

(य) परवर्ती अपभ्रंश में वर्तमानकालिक 'अछ' के स्थान पर अवधी का 'अह' क्रिया-रूप प्रचलित हो गया था, यथा—करइते आहु[६६]।

(र) क्रिया-संयुक्तीकरण के बीज अपभ्रंशकाल से ही अंकुरित होने लगे थे। उस समय संयुक्त क्रियाओं की अपेक्षा संयुक्तकालों के निर्माण की प्रवृत्ति अधिक दृष्टिगोचर होती है। संयुक्तकालों के निर्माण में प्रमुख रूप से आछ, हो, अह तथा रह सहायक क्रियाएँ भाग लेती थीं, यथा—

होसइ करत म अच्छि[६७]; सूँघत आछ[६८]; करइते आहु[६९]।

आगे चलकर अवधी में उक्त क्रियाओं में से 'अह' तथा 'रह' रूप ही अवशिष्ट रह गये।

कुछ विशिष्ट सहायक क्रियाएँ, यथा-आ,-जा,-सक,-चाह आदि वर्तमानकालिक, भूतकालिक एवं पूर्वकालिक कृदन्तीय रूपों तथा क्रियार्थक संज्ञा के साथ संबद्ध होकर संयुक्तक्रिया पदत्व दिखला रही थीं जिनके दृष्टान्त इस प्रकार हैं :—

पहिउ रडन्तउ जाइ[७०]; जइ भग्गा घर एन्तु[७१]; ओहि सेच्चान सोहि सा[७२]; भागए चह[७३]।

पूर्वकालिक कृदन्तों एवं क्रियार्थक संज्ञा रूपों से निर्मित क्रिया के संयुक्तरूप अपेक्षाकृत अधिक पाए जाते थे जो संयुक्तक्रियाओं की शैशवावस्था के प्रतीक हैं।

सन् १३७९ ई० (७८१ हिजरी) के प्रथम अवधी कवि मुल्ला दाउद की 'चंदायन'[७४] में ठेठ अवधी शब्दावली की बहुलता है। इनकी भाव-शैली भी कुतबन, मंझन, जायसी, तुलसी आदि परवर्ती अवधी कवियों से साम्य रखती है। 'लोरकहा' (चंदायन) से एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है :—

बात संजोग बसीठ जो कहा। नाइ मूँड़ सुनि राजा रहा ॥
बसिठ बचन बिसमरे सुनावा। गजौ जनु ठग लाडू खावा ॥

सरग चाँद मकु पाइय नाहीं । बसिठहि गतर देउँ चलि जाहीं ॥
आज साँझ जो चाँद न पावउँ । बहुरि पलटि तुम्ह सरग जलावउँ ॥
जीयं दान जौ चाहहु, पठवहु चाँद दिवाइ ।
नत भोर उवत गढ़ तोरौं, कहहु महर पँह जाइ ॥[७५]

उपर्युक्त अंश जायसी आदि परवर्ती ठेठ अवधी कवियों की रचनाओं से साम्य रखता है । 'मूड़' शब्द ठेठ अवधी का है । प्रथम अर्द्धाली में 'जो' का 'ओ' ह्रस्वोच्चरित है जो अवधी उच्चारण-प्रणाली की महत्वपूर्ण विशेषता है । 'सुनावा' और 'पावा' में 'व' श्रुति का आगम भी अवधी की अपनी वस्तु है । 'गढ़ तोरौं' में उत्तम पुरुष, एक वचन के साथ तिङन्त का प्रयोग हुआ है जो अवधी का परिचायक है ।

यद्यपि कबीर की भाषा 'सधुक्कड़ी' होने के कारण मिली-जुली पंचरंगी खिचड़ी है, फिर भी उनकी रमैनी आदि में ठेठ अवधी शब्दों की स्पष्ट झलक मिलती है—यथा जहिया, तहिया, आउब, जाब आदि पूर्वी प्रयोग भरे पड़े हैं ।[७६] इस पूर्वी को कोई भोजपुरी भी कहे तो हमें आपत्ति नहीं ।

इस प्रकार १००० ई० से ही अवधी की शब्दावली, उसकी ध्वनि एवं व्याकरण संबन्धी विशिष्टताएं उपलब्ध होने लगती हैं । यद्यपि उस समय अवधी अपने को अपभ्रंश के प्रभावों से मुक्त नहीं कर पाई थी, फिर भी जैसा कि परवर्ती अपभ्रंश की रचनाओं से स्पष्ट होता है, वह अपने रूप को निखारने एवं सँवारने लगी थी । आगे चलकर सूफी-काव्य 'चंदायन' एवं कबीर आदि संतों की बानियों के रूप में वह लगभग अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त होकर १६वीं शती तक आते-आते अपने स्वर्णयुगीन वैभव को देखने का सौभाग्य प्राप्त कर सकी ।

मध्ययुग (१५०० ई० से १८५० ई०)

इस काल को अवधी का स्वर्णयुग कहा जा सकता है । कारण कि इसी युग में अवधी के अधिकांश ग्रंथों की सर्जना हुई । कुतबन की 'मृगावती',[७७] मंझन की 'मधुमालती', मलिक मुहम्मद जायसी की 'पद्मावत', 'अखरावट' एवं 'आखिरी कलाम', उसमान की 'चित्रावली', शेखनबी की 'ज्ञानदीप', कासिमशाह की 'हंसजवाहर', कवि नूरमुहम्मद की 'इन्द्रावत' और शेखनिसार की 'यूसुफ जुलेखा' आदि ठेठ अवधी की रचनाएँ इसी युग की देन हैं । रहीम के 'बरवै नायिका भेद' की भाषा ठेठ पूर्वी ही है । मुसलमान प्रेमाख्यानकारो के अतिरिक्त लगभग ३४ हिन्दू प्रेमाख्यानकारों में से ११ ने विशुद्ध अवधी में काव्य-ग्रन्थो की रचना इसी समय की थी ।[७८] अवधी ही नहीं, हिन्दी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट लोकप्रसिद्ध ग्रंथ 'रामचरितमानस' का प्रणयन इसी युग में हुआ । तुलसी के अतिरिक्त इस युग के अन्य अनेक संतों एवं रामभक्तों ने अपने काव्य का माध्यम इसी भाषा को बनाया ।

सूफी-काव्य में जायसी के 'पद्मावत' का स्थान सर्वोपरि है । इसकी भाषा पूर्वी (ठेठ) अवधी है शुद्ध अवधी के संज्ञा सर्वनाम, विशेषण क्रिया परसर्ग आदि की संपूर्ण विशेषताएँ उसकी भाषा में मिलती हैं कुछ विशिष्टताए इस प्रकार हैं

(१) पदों के लघ्वन्त रूप :—

(१) बैठ महाजन सिंघल द्विपी।

(२) रहा न जोबन आव बुढ़ापा।

(३) कटक सरह अस छूट।

(२) भूतकालिक सकर्मक क्रिया कर्त्ता के पुरुष और वचन के अनुकूल संस्कृत की तिङन्त क्रियाओं की भाँति परिवर्तित होती चलती हैं।[७९] यथा,

उत्तम पुरुष—(१) देखेउँ तोरे मंदिर घमोइ (पुं०, एक वचन) = मैं

(२) ढूँढ़िउँ बालनाथ कर टीला (स्त्री०, एक व०) = मैं

(३) औं हम देखा सखी सरेखा (पुं०, स्त्री०, बहु०) = हम

मध्यम पुरुष—(१) चाहेसि परा नरक के कूँआ (पुं०, स्त्री०, एक व०) = तू या तैं

(२) गुरू चीन्ह कै जोग विसेखेहु (पुं, बहु व०) = तुम

(३) पूजि मनाइउ बहुतै भाँती (स्त्री०, बहु०) = तुम

अन्य पुरुष —(१) रोइ हँकारेसि माझो सूआ (पुं०, स्त्री०, एक व०) = वह

(२) कहेन्हि न रोव बहुत तैं रोवा (पुं०, बहु० व०) = वे

इन प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि जायसी ने 'ने' परसर्ग का प्रयोग नहीं किया, साथ ही सर्वत्र कर्त्ता के द्वारा लिंग, वचन शासित हैं।

(३) अवधी में कारक चिह्न क्रियार्थक संज्ञा के मूल (—वा,—आ) रूप में न लग कर उसके विकारी—ऐ रूप में लगते हैं। यथा,

(१) दीन्हेसि स्रवन सुनै कहँ बचना।

(२) तपै लागि अब जेठ असाढ़ी।

(४) क्रियार्थक संज्ञा तथा भविष्यत् में—वकारान्त कृदन्त रूप मिलते हैं यथा,

(१) कौन उतर पाउब पौसारू (हम)

(२) गुन अवगुन विधि पूछब (प्रथम पु०, एक व०)

सूफी साधक अधिक पढ़े-लिखे न थे। उन्होंने पौराणिक आख्यानों के स्थान पर लोक-प्रचलित कथानकों का आश्रय लेकर ठेठ अवधी में जनता तक अपनी बात पहुँचाने का प्रयास किया। इन सूफी कवियों ने या तो भाषा-सरलता के कारण अवधी के शुद्ध बोलचाल के स्वरूप का प्रयोग किया है या प्रेमकथा को भाषा में कहकर उसे सर्वजनग्राह्य बनाने के उद्देश्य से प्रेरित होकर।[८०] किन्तु 'रामचरितमानस' की अवधी में साहित्यिक परम्पराओं एवं स्वरूप का पालन है। "तुलसीदासजी ने संस्कृत का, शौरसेनी या ब्रजी का मेल करके उसे सर्वसामान्य ब्रजभाषा की प्रतिद्वन्द्विता में खड़ा किया।"[८१] अतः लक्ष्यभेद से तुलसी और जायसी के शब्द-भण्डार के स्वरूप में अन्तर पाया जाना स्वाभाविक ही है।

जैसा कि पूर्व वर्णित है, अपभ्रंशकाल में पश्चिमी अवधी (बैसवाड़ी) के बीज प[ड़] चुके थे, परन्तु समर्थ कवि तुलसी का नेतृत्व पाकर इस समय अवधी स्पष्ट रूप से पश्चिम (बैसवाड़ी) एवं पूर्वी दो रूपों में विकसित हुई जो अक्षुण्ण रूप से अद्यावधि वर्तमान है आगे

चलकर पश्चिमी अवधी एवं ब्रज का इतना अधिक मिश्रण हो गया कि ब्रजी एवं अवधी के स्वरूपों के निर्धारण में कठिनाई पड़ने लगी। उदाहरणार्थ—गयउ, भयउ, दीन्हेउ, लीन्हेउ, कियउ आदि अवधी रूप नहीं है, पश्चिमी अपभ्रंश के पुराने रूप हैं जिनसे ब्रजभाषा के गयो, भयो, दीन्हों, लीन्हों, कियो इत्यादि रूप बने हैं।[८२] इसी प्रकार इस मिश्रण के कारण पुरुष, वचन एवं क्रिया के अनेकों रूपों में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। भूपति, बेनी एवं भिखारीदास आदि की रचनाओं को पढ़कर अवधी और ब्रज की सम्मिलित कल्पना की जा सकती है। पूर्वी (ठेठ) अवधी और पश्चिमी (बैसवाड़ी) अवधी के रूपों में अन्तर स्पष्टतया लक्षित किया जा सकता है। दोनों के कुछ प्रमुख भेदक लक्षण इस प्रकार हैं :—

(१) पूर्वी अवधी में संज्ञा शब्दों के साथ 'इया' एवं 'वा' प्रत्ययों का योग माधुर्य, लघुता एवं स्नेह प्रदर्शित करने के लिए होता है। इन प्रत्ययों के प्रयोग से पूर्व शब्दों की ध्वनि को, जिस पर बलाघात होता है, दीर्घ से ह्रस्व कर दिया जाता है। यह विशेषता पश्चिमी अवधी में नहीं है, यथा :—

पूर्वी अवधी	पश्चिमी अवधी	खड़ी बोली
हरवा	हार	हार
कनगुरिया	कनगुरी	कनगुरी
बरिनिया	बारिन	बारिन

कुछ उदाहरण लीजिए—

(अ) चम्पक हरवा अंग मिलि अधिक सोहाइ (तुलसी : बरवै)

(ब) कनगुरिया के मुंदरी कंगन होई (तुलसी)

(स) डहकु न है उजियरिया निसि नहि घाम।

(द) कटि कै छीन बरिनिया छाता पानिहि हो। (तुलसी: रामलला-नहछू)

पश्चिमी अवधी में ओकारान्त संज्ञाओं, क्रियाओं एवं विशेषणों की प्रधानता है, यथा—कियो, ऊँचो, दियो आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिमी अवधी, पूर्वी अवधी से दूर हटकर ब्रज से अधिक प्रभावित होती जा रही है।

(२) पूर्वी अवधी में आदि-स्थानीय व्यंजन-संयोगों की स्थिति नहीं है, जबकि पश्चिमी अवधी में ये य, व अर्द्धस्वरों के साथ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं—

पश्चिमी अवधी	पूर्वी अवधी
ख् + य = ख्यात	खेत
म् + व म्वाट	मोट (मोटा
छ् + व = छ्वाट	छोट छोटा

(३) कुछ सर्वनामों में भी भेद दृष्टिगोचर होता है :—

	पूर्वी अवधी	पश्चिमी अवधी	हिन्दी
प्रश्नवाचक—	के, जे, से या ते	को, जो, सो	कौन, जो, वह
दूरवर्ती —	ऊ	वहु	वह

(४) पूर्वी अवधी में साधारण क्रिया का रूप बकारान्त होता है जबकि पश्चिमी अवधी में ब्रज एवं खड़ीबोली की भाँति इसका रूप नान्त होता है, यथा :—

पूर्वी अवधी	पश्चिमी अवधी
आउब, जाब, करब	आवन, जान, करन

(५) पूर्वी अवधी के वर्तमानकालिक सहायक क्रिया में 'अहै' रूप का प्रयोग प्रचुरता से होता है, परन्तु पश्चिमी अवधी में यह प्रयोग अप्रचलित है, वहाँ हिन्दी की भाँति 'है' सहायक क्रिया का ही प्रयोग होता है, यथा :—

पूर्वी अवधी	पश्चिमी अवधी
ऊ जात अहै	वहु जाथै या जात्यै (त् + है)

(६) भविष्यत् कालिक मध्यमपुरुष क्रिया के रूप पूर्वी अवधी में — बै, — बो; — ब या — बा (ब्या) रूप वाले होते हैं जबकि पश्चिमी अवधी में — हकारान्त रूप ही उपलब्ध होते हैं, यथा :—

पूर्वी अवधी	पश्चिमी अवधी
तू जाबो (जाबा वा जाब्या)	तुम जइहौ

(७) पश्चिमी अवधी की साधारण क्रिया के आगे कोई कारक चिह्न या अन्य क्रिया लगने पर खड़ीबोली एवं ब्रज के समान उसका नान्त रूप बना रहता है, परन्तु इस स्थिति में पूर्वी अवधी की साधारण-क्रिया का बकारान्त रूप हटकर इकारान्त हो जाता है :—

पश्चिमी अवधी	पूर्वी अवधी
आवन कां (आवन कहं)	आवइ का
जान लाग	जाइ लाग
करन लाग	करइ लाग

संयुक्त क्रिया के प्रयोग में तुलसी में यह विशेषता है कि उन्होंने एकवचन में तो पूर्वी अवधी का रूप रखा है तथा बहुवचन में पश्चिमी अवधी का, जैसे :—

कहइ लाग—एक वचन—पूर्वी अवधी

कहन लागे—बहुवचन—पश्चिमी अवधी

(८) पश्चिमी अवधी में पूर्वी अवधी की अपेक्षा उकारान्त प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है यहाँ तक कि पश्चिमी अवधी में इसके कारण लिंग और वचन में भेद उत्पन्न हो जाता है, परन्तु पूर्वी अवधी में यह बात नहीं है

वचनभेदक स्थिति

पश्चिमी अवधी		पूर्वी अवधी
एक वचन	बहु वचन	
घरु	घर	घर } उभय वचनो में
रामु	राम	राम }

लिंगभेदक स्थिति :—

पश्चिमी अवधी		पूर्वी अवधी
पुंलिंग	स्त्री लिंग	
वहु	वह	ऊ (उभयलिंगों में)

इसी प्रकार अन्य भेद भी ढूंढे जा सकते हैं। यहाँ केवल कुछ स्थूल भेदक लक्षणों के आधार पर दोनों की पृथकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

निष्कर्षतः हम देखते हैं कि प्रथम युग में पड़े हुए अवधी के बीजरूपों का विकास इस युग में सम्यक्रूपेण हो चुका था। संयुक्तकालों और संयुक्तक्रियाओं का विकास अपनी पूर्णावस्था को स्पर्श करने लगा था। आधुनिक उठब (उठना), चाहब (= चाहना), जाब (जाना), देब (= देना), परब (= पड़ना), पाउब (पाना), रहब (= रहना), राखब (रखना), लागब (लगना), लेब (लेना), सकब (सकना), बैठब (बैठना) और आउब (आना) आदि लगभग सभी सहायक क्रियाएँ संयुक्तक्रिया के निर्माण में भाग लेने लगी थीं। पारब (= सकना) आदि आधुनिक युग की कुछ अप्रचलित अवधी क्रियाओं का भी प्रयोग उस समय होता था। रचनात्मक दृष्टि से संयुक्तक्रियाओं का विकास प्रायः दो अवयवों तक ही हो पाया था। आधुनिक अवधी की संयुक्तक्रियाओं में चतुर्थ स्थानीय अवयव तक उपलब्ध हो जाते हैं।

आधुनिक युग (१८५० ई० से अब तक)

मध्ययुग के अन्त के साथ अवधी भाषा एवं साहित्य के ह्रास का युग प्रारम्भ हो जाता है। जायसी एवं तुलसी जैसे समर्थ कवियों का समर्थन पाकर भी अवधी पल्लवित न हो सकी। कारण, 'पद्मावत' एवं 'मानस' जैसे लोकविश्रुत महाकाव्यों के प्रणेताओं का सर्वथा अभाव रहा। यद्यपि मध्ययुग में ब्रज एवं अवधी का समानान्तर विकास होता रहा, परन्तु जैसा कि पहले देख चुके है, तुलसी के समय से ही ब्रज ने अवधी को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया था और परिणामतः ब्रज प्रभावित अवधी की एक पश्चिमी धारा बह निकली। इसी समय ब्रज-वल्लभ की रूप-माधुरी से आकृष्ट होकर रीतिकालीन कवियों ने अपनी स्वरसाधना का माध्यम ब्रजभाषा को ही बनाया। इस समय सुरा एवं सुंदरी के आराधक नृपतियों की विलासिता को और अधिक जाग्रत करने वाले उनके उपजीवी राजकवियों ने राधा-माधव के चरित्र की मधुरिमा को वासना का परिवेश दे अपनी चाटुकारिता का पूर्ण परिचय दिया। साथ ही राजदरबारों की भाषा ब्रज ही थी। अवधी की दोहा-चौपाई शैली के स्थान पर घनाक्षरी एवं सवैया उनके प्रिय छंद थे। यह युग मुक्तक रचनाओं का था। ललित गेय मुक्तक पदों के उपयुक्त ही थी

भक्ति आन्दोलन ने ब्रजभाषा का बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब आदि प्रदेशों से भी परिचय कराया। यहाँ तक कि मैथिली को भी ब्रज ने प्रभावित कर लिया। ब्रज के समक्ष नवोत्थित खड़ीबोली भी नतमस्तक हो गई। इस समय अवधी में जो रचनाएं हुईं भी उन पर ब्रजभाषा का प्रभाव बिना पड़े न रहा। यहाँ तक कि बेनी, भिखारीदास एवं भूपति आदि की कविताओं में दोनों भाषाओं का पूर्ण सम्मेलन है। किसी नवीन दिशा एवं प्रेरणा के अभाव में अवधी की गति मंद पड़ गई। द्विवेदी-युग तक तो अवधी रचनाओं का एक प्रकार से अभाव सा रहा, केवल पश्चिमी अवधी के बैसवाड़ा क्षेत्र के कुछ छुटभैये कवि अवश्य थे जिन्होंने जलांजलि द्वारा इसकी धारा को अक्षुण्ण बनाए रखा।[८३] परन्तु राष्ट्रीय भावना के नवोन्मेष में द्विवेदी-युगीन कवियों ने खड़ी बोली के साथ ही अवधी में भी रचनाएँ प्रारंभ की। पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० शुकदेव मिश्र, ज्वालाप्रसाद एवं माधव प्रसाद आदि ने अवधी के पुनरुद्धार की भावना से अनुप्रेरित हो कुछ रचनाएँ कीं। परन्तु ये रचनाएँ प्रायः व्यंग्य एवं हास्य प्रधान ही होती थीं, इनमें जीवन की गहन अनुभूतियों एवं दार्शनिकता का सर्वथा अभाव था।

सन् १९४७ की भारतीय स्वाधीनता के अनन्तर 'गाँवों की ओर चलो' के नारे के साथ-साथ संस्कार एवं परिष्कारविहीन ग्रामीण बोली अवधी के उन्नायकों का एक उत्साही दल हमारे समक्ष आता है। स्व० पं० बलभद्र 'पढ़ीस' इस दल के संस्थापकों में से थे। पं०चंद्रभूषण त्रिवेदी 'रमई काका', पं० वंशीधर शुक्ल, लक्ष्मणप्रसाद मिश्र, पं० द्वारिका प्रसाद मिश्र एवं पारस 'भ्रमर' आदि अवधी के जाने माने कवि हैं। इन कवियों की प्रवृत्ति लोक-जीवन की ओर ही अधिक उन्मुख दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, पारस 'भ्रमर' के 'अरहर के ख्यातन माँ आइ गईं फलियाँ' तथा 'आयो रे फगुनवा बहुरि मोरे अंगना, गावै बरिनियाँ फाग री' आदि गीत लोकजीवन के अत्यन्त मधुर एवं सजीव चित्र उपस्थित करते हैं। वास्तव में पं० हरिकृष्ण अवस्थी के शब्दों में "जन-साहित्य का वर्ण्य-विषय अभिजात, सम्भ्रान्त और उच्च कुलोद्भव व्यक्ति, उनके मुख-सरोज, पद-पद्म, कर-कमल अथवा 'अनियारे दीरघ नयन' इत्यादि न होकर कारखाने या खेत का वह श्रमजीवी हो जिसके हाथ मशीन की कालिख से सने हुए अथवा धूल-धूसरित पैर बेवाइयों से फटे हुए हों, जिसका श्रम-श्लथ शरीर प्रस्वेद के लिए नायिका के दरस, परस की अपेक्षा नहीं करता, जो गुलगुले गिलमों गलीचों से सर्वथा अपरिचित वृक्षों की शीतल छमछैयाँ में एक अंगौछे के सहारे सुख-निंदिया का आनन्द प्राप्त करता है।"[८४] जन-साहित्य के प्रणयन में अवधी का योगदान साहित्य ही नही वरन् उक्त भाषा-विशेष के विकास में एक स्वस्थ कदम होगा।

इधर पं० द्वारिका प्रसाद मिश्र ने अवधी में 'कृष्णायन' महाकाव्य की सर्जना की है। इसकी भाषा 'मानस' से भी अधिक संस्कृतस्थ है। परन्तु इसमें वह माधुर्य, गति, सजीवता एव आकर्षण नहीं जो मानस में है। महाकवि निराला के शब्दों में 'कृष्णायन' आधुनिक हिन्दी काव्यकारों की तरह 'शरणवल' शैली में लिखी गई है।

मध्ययुग के पश्चात् अवधी में साहित्य-सृजन का दारिद्रय होने पर भी जनजीवन में इसकी धारा अक्षुण्ण बनी रही प्रवाह के कारण भाषा का विकास स्वाभाविक ही

था। कोई महत्वपूर्ण भेद न होते हुए भी आज की अवधी ठीक वही नहीं जो जायसी एवं तुलसी की अवधी थी, क्योंकि कालभेद से भाषागत अन्तर आ ही जाता है। अतः मध्ययुगीन एवं आधुनिक अवधी में कुछ प्रमुख भेदों को यहाँ स्पष्ट किया जाता है :—

(१) मध्ययुगीन अवधी के कुछ शब्द एवं उनके रूप आधुनिक अवधी में आकर बिल्कुल समाप्त ही हो गए, यथा—'पारब' क्रिया जो 'सकना' के अर्थ में प्रयुक्त हुई है अब अवधी-क्षेत्र से बिल्कुल विलुप्त हो चुकी है। जायसी एवं तुलसी के समय में इसका प्रयोग बराबर होता था :—

(१) तुम खेवहु जो खेवइ पारहु—पद्मावत
(२) तुम्हहि 'अछत' को बरनइ पारा—रामचरितमानस

उपर्युक्त 'अछत' रूप भी समाप्त हो गया। इसी प्रकार अन्य शब्दों का भी तिरोभाव हो गया है। उदाहरणार्थ—

(१) अहक मोरि पुरुषारथ देखहु—पद्मावत
(२) नौजि होइ घर पुरुष बिहूना—रामचरितमानस

उपर्युक्त 'अहक', 'नौजि' आदि शब्दों का व्यवहार आजकल प्रायः नहीं होता। साथ ही अन्य भारतीय आर्य भाषाओं की भाँति अवधी में भी विदेशी शब्द बहुत तेजी से भरते चले जा रहे हैं, यथा—रेल, टेसन, टिक्कस, लालटेन, परमिट, इसपिट्टर आदि।

(२) आदि एवं मध्यकालीन अवधी के सेंती, सन, कँह, माँझ, माँह, मैं, हुँत आदि कारकीय परसर्ग रूपों में परिवर्तन समुपस्थित हो गया है। सेंती, मै तथा हुँत तो बिल्कुल समाप्त ही हो गए। करणकारक परसर्ग 'सन' अवधी क्षेत्र में कहीं-कहीं सेनी या 'सेन' रूप में बोला जाता है। साथ ही 'माँह' और 'कँह' के हकार समाप्त होकर ये 'क' तथा 'माँ' रूप मे वर्तमान हैं।

(३) उत्तम पुरुष एक वचन 'मैं' का प्रयोग मध्ययुगीन अवधी में बराबर होता था, यथा :—

(१) मैं बैरी सुग्रीव पियारा—रामचरितमानस
(२) मैं तुम राज बहुत सुख देखा—पद्मावत

परन्तु अब इसका स्थान उसके बहुवचन रूप 'हम' ने ले लिया है तथा बहुवचन के लिए 'हम' के साथ पंच, सबही, सब जने, लोग आदि गणवाची शब्दों का व्यवहार होता है।

(४) उत्तम पुरुष एकवचन के समाप्त होने से भूतकाल में इसके साथ जो तिङन्तरूप आता था, वह भी लुप्त होता जा रहा है। अब 'मैं देखिउं' (या देखेउं) न कहकर 'हम देखिन' (या देखेन) कहा जाता है।

(५) सभी कारकों के साथ लगने वाली मध्ययुगीन 'हि' या 'हिं' विभक्ति आधुनिक अवधी में समाप्त हो गई है। केवल सर्वनामों को छोड़कर अन्य सर्वनामों में

परसर्गीय रूपों के साथ अवशिष्ट रह गई है, यथा—जेहिकै (या जेहिका), वहकै (या वहिका) आदि। संबंध कारक में इसका हकार लुप्त होकर एक और रूप भी मिलता है, यथा घरहि>घरइ>घरे।

(६) संयुक्त कालों और संयुक्त क्रियाओं का विकास अपनी पूर्णावस्था को पहुँच गया है। रचनात्मक दृष्टि से आधुनिक बोलचाल की अवधी में संयुक्त क्रियाओं के चतुर्थ अवयव तक उपलब्ध हो जाते हैं, यथा—लइ जाइ देवा करो (= ले जाने दिया करो); देखि भालि लेवा करौ (= देख भाल लिया करो) आदि।

आदियुगीन अर्धमागधी अपभ्रंश में अवधी के जो बीज पड़ चुके थे, उनका पूर्णविकास मध्ययुग में आकर हुआ। इस युग में जायसी एवं तुलसी जैसे लोकविश्रुत समर्थ कवियों के साहचर्य से वह बलवती बनी। परन्तु मध्ययुग के अन्त होते-होते उसकी निर्धनता का युग प्रारंभ होता है। इधर स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से नवजागरण के साथ-साथ इस भाषा में जन-साहित्य का सृजन होना प्रारंभ हो गया है जो इसके उज्ज्वल भविष्य का प्रतीक है।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'बुद्धचरित' की भूमिका (२) कोशोत्सव स्मारक ग्रंथ, पृ० ३८५-८६ (३) Dr. Babu Ram Saxena : Evolution of Awadhi, page 7 **(४) कोशोत्सव स्मारक संग्रह (५) पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र : हिन्दी साहित्य का अतीत (आदि, भक्तिकाल), पृ० १६२ (६) नवीनतम शोधों के अनुसार 'चंदायन' की रचना ७८१ हिजरी अथवा सन् १३७९ ई० में हुई थी। 'चंदायन' की निम्न पंक्तियाँ इस मत की पुष्टि करती हैं।**

दाउद कब चान्दा रानी। मालिक नयन सुन बोल हमारी।
बरस सात सै होवै एकासी, तेही कवी सरसिउ भासी।

—A unique Manuscript in Persian Script
by Prof. Syed Hasan, December 1955.

(७) आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल : 'बुद्धचरित' की भूमिका (८) हेमचन्द्र : देशीनाममाल (९) आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र : हिन्दी साहित्य का अतीत (आदिकाल, भक्तिकाल), पृ० ३७ (१०) हेम० ४/३४६ (११) वही ४/३५८ (१२) वही ४/४४२ (१३) वही ४/३४२ (१४) वही ४/३७१ (१५) वही ४/४१६ (१६) हेमचन्द्र (१७) उक्तिव्यक्ति-प्रकरण (१८) हेम० ४/३९७ (१९) वही, ४/४०१ (२०) पद्मावत (२१) रामचरित मानस, बालकाण्ड (२२) हेम० ४/३९७ (२३) वही, ४/४०१ (२४) कीर्तिलता २/४८ (२५) वही २/१०८ (२६) वही ३० (२७) वही (२८) उक्तिव्यक्तिप्रकरण ९/३० (२९) रामचरितमानस, आरण्यकाण्ड (३०), (३१) कुमारपाल० (३२) कीर्तिलता २/४८ (३३ वही (३४) हेम० ४/४०३ (३५) [illegible] ९/३४ (३६) हेम० ४/३३ (३७ वही ४/४२२ ३८) पद्मावत ३९ [illegible] (४०) पद्मावत

(४१) रामचरितमानस, किष्किंधाकाण्ड (४२), (४३), (४४) और (४५) पद्मावत (४६) रामचरितमानस, बालकाण्ड (४७) पद्मावत (४८) कीर्तिलता, पृ० १६ (४९) वर्णरत्नाकर २६ ख (५०), (५१), (५२) रामचरितमानस (५३) वर्णरत्नाकर ३० ख (५४) कीर्ति० १२ (५५) उक्तिव्यक्तिप्रकरण २०/५ (५६) वही २०/२६ (५७) वही २१/३१ (५५) वही २०/५ (५६) वही २०/२६ (५७) वही २१/३१ (५८) रामचरितमानस, बालकांड (५९) वही, दोहा ६५ (६०) उक्तिव्यक्ति प्रकरण १२/१६, १७. (६१) प्राकृतपैंगलम् २७०/४ (६२) हेम० ४/३८२ (६३) उक्तिव्यक्तिप्रकरण ६/१० (६४) वही २०/१० (६५) हेम० ४/३३८ (६६) वर्ण० ३७ ख (६७) हेम० ४/३८८ (६८) उक्तिव्यक्तिप्रकरण ६/१३ (६९) वर्ण० ३७ ख (७०) हेम० ४/४४५ (७१) हेम० ४/३५ (७२) कीर्ति० ६६ (७३) वही ३६ (७४) A unique Manuscript in Persian Script by Prof. Syed Hasan, Dec. 1955. (७५) डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित चंदायन (लोरकहा), पृ० ११, प्रथम संस्करण (७६) आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल : 'बुद्धचरित' की भूमिका, पृ० १४ (७७) रचना-काल सन् १५०३ ई० (हिजरी सन् ९०९) (७८) डॉ० हरिकान्त श्रीवास्तव : हिन्दी के हिन्दू प्रेमाख्यानकार (७९) आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रंथावली की भूमिका (८०) डॉ० सरला शुक्ल : जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य, पृ० २६१ (८१) पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : हिन्दी साहित्य का अतीत (आदि काल, भक्तिकाल) (८२) आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल : 'बुद्धचरित' की भूमिका (८३) कवियों के परिचय के लिये देखिए 'अवधी और उसका साहित्य'—लेखक डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित (८४) 'गाँव का सुरपुर देउ बनाइ' का प्राक्कथन (८५) पद्मावत (८६) रामचरितमानस, बालकाण्ड (८७) पद्मावत (८८) वही ।

काव्यगत दोष-निरूपण को महिमभट्ट की मौलिक देन—विधेयाविमर्श

● शान्देवी श्रीवास्तव

महिमभट्ट की प्रतिभा विलक्षण थी—ऐसी प्रतीति उनके एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' के अध्ययन से होती है। इस ग्रन्थ में आचार्य ने ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन किया है तथा ध्वनिवादियों के व्यंग्यार्थ को अनुमानगम्य बताया है। फलस्वरूप महिम को 'व्यक्तिविवेक' के जन्म से लेकर अद्यावधि समस्त संस्कृत साहित्याचार्यों एवं मूर्द्धन्य समीक्षकों की कटु आलोचना का पात्र बनना पड़ा। स्वयं उनके टीकाकार रुय्यक ने भी स्थान-स्थान पर उनके सिद्धान्त की छीछालेदर की है।[1] किन्तु आचार्य को अपने इस भविष्य का आभास न रहा हो, ऐसा नहीं था। वह ध्वनिसिद्धान्त की वैज्ञानिकता और ठोस आधारभूमि से सर्वथा परिचित थे[2] और इसीलिए ग्रन्थारम्भ में ही उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि उनका यह प्रयत्न यशःप्राप्ति के लिए है और इसमें वह निश्चित रूप से सफल भी होंगे, क्योंकि महान् जनों का परिचय ही गौरव का हेतु होता है।[3] इसीलिए अपने यशःप्राप्ति का हेतु वे आनन्द जैसे मूर्धन्य कवि एवं आलोचक के परिचय-संबंध को मानते हैं, अपनी सफलता को नहीं। सचमुच ही ध्वनिसिद्धान्त के प्रबल खण्डनकर्ता होने के नाते ही वे परवर्ती साहित्यशास्त्रियों तथा आलोचकों के लिये अनुपेक्षणीय होते हुए भी संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में अमर हैं। किन्तु महिमाचार्य के समस्त आलोचकों का यह वैशिष्ट्य रहा कि उन्होंने अपने को महिमकृत ध्वनिखण्डन तक ही सीमित रखा और उनके उस ठोस योगदान की सर्वथा उपेक्षा की जिसे (जैसा कि हम अभी देखेंगे) मम्मट जैसे सूक्ष्मबुद्धि एवं तत्वग्राही आचार्य ने स्वीकार कर अपने 'काव्यप्रकाश' जैसे आकर ग्रन्थ में स्थान दिया। आधुनिक आलोचकों एवं चिन्तकों में सर्वप्रथम डाक्टर वी० राघवन ने महिमभट्ट के महत्व को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया[4]। इसके पश्चात् डॉ० के० कृष्णमूर्ति ने १९४९ के Poona Orientalist vol. १४ में प्रकाशित अपने लेख A Novel View of Mahimabhatta on the place of metre in poetry में महिमभट्ट के छन्दविषयक विचार का विस्तृत विवेचन करते हुए उनकी वृत्तविषयक मौलिकता को स्वीकार किया।[5] पी० वी० काणे ने तो आचार्य के महत्व को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"His work is one of the master-pieces of Almkara literature and deserves to be saved from the unmerited obltvion into which fallen."[6] अतः प्रस्तुत लेख में केवल उस दोष

का यत्किञ्चित् विवेचन प्रस्तुत करना अभीष्ट है जिसके लिए परवर्ती संस्कृत-साहित्य-शास्त्र निश्चित रूप से महिमभट्ट का ऋणी है और जिसकी ओर डॉ० के० कृष्णमूर्ति ने अपने उपर्युक्त लेख में प्रसङ्गतः इङ्गित मात्र किया है।

काव्यशास्त्र-परम्परा के निरीक्षण से ऐसा ज्ञात होता है कि आरम्भ से ही आचार्यो द्वारा काव्यगत दोषों पर अधिक ध्यान दिया गया है। किसी भी काव्यखण्ड के काव्य होने का सबसे प्रथम तथा आवश्यक मापदण्ड उसका निर्दोषत्व माना गया है। दोषराहित्य अपने आप में ही एक महान गुण है—"महान् निर्दोषिता गुणः।" भामह ने दोष का प्रबल प्रतिवाद करते हुए यह प्रतिपादित किया कि कवि को एक भी दुष्ट पद का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि दुष्ट काव्य के कारण कवि उसी प्रकार निन्दा का पात्र बनता है जिस प्रकार कुपुत्र के कारण पिता। कविता न करना अधर्म व्याधि या दण्ड का हेतु नहीं है किन्तु कुकाव्य की रचना तो साक्षात् मृत्यु ही है।[७] उनके इस कथन का हृदय से समर्थन किया दण्डी ने। उसका कहना है कि अत्यल्प दोष भी काव्य में उपेक्षणीय नहीं है, क्योंकि सुन्दर शरीर भी कुष्ठ के एक चिह्न के कारण विरूप हो जाता है।[८]

आनन्दवर्धन ने भी दोष को रसभङ्ग का हेतु स्वीकार किया है।[९] भोज ने दोष-हानि को शब्दार्थ के चतुर्विध साहित्यों में प्रथम माना है[१०] और आचार्य मम्मट ने भी अपने काव्यलक्षण में 'तददोषौ' पद के सन्निवेश द्वारा काव्य के आवश्यक उपादानों में दोषभाव को प्रथम स्थान प्रदान किया है।[११] यद्यपि भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में काव्य के केवल दस दोषों का सोदाहरण उल्लेख मात्र किया था[१२] किन्तु परवर्ती आचार्यों ने उसका विशद विवेचन भी किया; साथ ही दोष-राहित्य का काव्य-लक्षण में स्थान भी सुनिश्चित कर डाला। अलङ्कारों की भाँति ही दोषों की संख्या में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही और मम्मट के समय तक दस से आरम्भ हुए ये दोष सत्तर तक पहुँच गए।[१३] इस प्रकार दोषों के विकास-क्रम में विभिन्न आचार्यों का योगदान रहा है, जिसमें महिमभट्ट का योग कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

जैसा कि पहले ही सङ्केत किया जा चुका है, काव्य-दोषों का इतिहास भरत मुनि से आरम्भ होता है। उन्होंने काव्य के अन्तर्गत गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत, विषम, विसन्धि एवं शब्दच्युत इन दस दोषों को हेय बताया है। परवर्ती आचार्य भामह, दण्डी, वामन तथा रुद्रट इस परम्परा को किञ्चित् परिवर्तन और परिवर्धन के साथ अपनाते हैं। किन्तु महिमभट्ट का मार्ग अपना अलग है। वे दोषों का उल्लेख भी दोष नाम से न करके 'अनौचित्य' नाम से करते हैं—"इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम्। अर्थविषयं शब्दविषयं चेति"[१४]। स्पष्टतः इसका भी एक कारण था। महिमभट्ट काव्यशास्त्र लिखने तो बैठे नहीं थे कि काव्य का लक्षण करते, हालांकि प्रसङ्गतः काव्यलक्षण भी उन्होंने दिया ही है[१५]। और फिर, 'गतानुगतिको लोकः' की भाँति उसके आवश्यक उपादानों—दोषहानि एवं गुणादि का निरूपण कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेना भी तो उन्हें अभीष्ट नहीं था उनको तो ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन करना तथा उसे बताना ही अभीष्ट था

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ।।[१६]

फलस्वरूप अपने 'व्यक्तिविवेक' के प्रथम विमर्श में वे प्रसिद्ध ध्वनिकारिका 'यत्रार्थः शब्दो वा' की जी भर आलोचना करते हैं और इतने पर भी जब उन्हें सन्तोष नहीं होता तो 'ध्वन्यालोक' के प्रथमोद्योत की प्रथम कारिका 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' में दोष-दर्शन के अभिप्राय से अपने द्वितीय विमर्श का आरम्भ ही वह दोष-निरूपण से करते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन का उनके अपने ही शब्दों द्वारा खण्डन के लोभ से वे 'दोष' शब्द को न अपनाकर 'अनौचित्य' को ही अपनाते हैं, क्योंकि आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा था—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।।

इस प्रकार 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' में जिन शब्दानौचित्यों के दर्शन महिम को हुए, उन्हीं को इङ्गित करने के लिए उन्होंने प्रासङ्गिक रूप से इन पाँच शब्द-दोषों—विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, वाच्यावचन तथा पौनरुक्त्य पर विचार किया।

दोषों के विकासक्रम पर दृष्टिपात करने तथा महिमभट्ट के द्वितीय विमर्श के परिशीलन से यह स्वाभाविक धारणा बनती है कि वामन के चतुर्विध दोष विवेचन में यद्यपि कुछ सौक्ष्म्य परिलक्षित होता है, तो भी पूर्ववर्ती आचार्यों के दोष-निरूपण में तर्क की वह गहराई, विचारों की वह सूक्ष्मता तो नहीं ही थी जिसके दर्शन 'व्यक्तिविवेक' के द्वितीय विमर्श मे होते हैं। सत्य तो यह है कि महिमभट्ट ने दोष-निरूपण को एक आलोचनात्मक मोड़ दिया। इसके पूर्व का दोष-निरूपण तो वर्णनात्मक कोटि का ही कहा जा सकता है। दृष्टि की यह सूक्ष्मता भी आनन्दवर्धन जैसे उच्चकोटि के आलोचक की आलोचना के कारण ही उन्हें प्राप्त हो सकी थी।

महिम द्वारा निरूपित पाँच दोषों में 'विधेयाविमर्श' दोष प्रथम है। यों तो काव्य में कवि के अभिप्रेतार्थ के प्रतिपादक उचित शब्द के प्रयोग के प्रति कवि एवं काव्यशास्त्रीजन काफी पहले से ही सावधान थे किन्तु आनन्दवर्धन ने इस तथ्य को स्पष्ट स्वीकार किया था कि कवि के अभिप्रेतार्थ की प्रतीति कराने की क्षमता किसी एक ही शब्द में होती है।[१७] राजानक कुन्तक ने भी भिन्न शब्दों में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए थे।[१८] अतः अन्य पर्यायों के होते हुए भी कवि को उन्हीं शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जो उसके अभीष्टार्थ की प्रतीति सम्यक रूप से करा सकें महिमभट्ट की उचित शब्द प्रयोग विषयक यहीं पर विश्रान्त नहीं होती उनका विचार है

अतएव च वैदर्भीरीतिरेकैव शस्यते ।
यतः समाससंस्पर्शस्तत्र नैवोपपद्यते ॥१६॥
सम्बन्धमात्रमर्थानां समासो ह्यवबोधयेत् ।
नोत्कर्षमपकर्षं वा वाक्यात्तु भयमव्ययः ॥१७॥[19]

अर्थात् विधेयार्थ के प्रतिपादक पद को समास में डालकर गुणीभूत न करने के अपने इस विचार की पुनरावृत्ति वे बार-बार करते हैं ।[20]

आचार्य का मत है कि विशेष्य में उत्कर्षापकर्ष का आधान करने के कारण विशेषण प्रधान अतएव विधेय बन जाता है। ऐसी दशा में उस विशेषण का उसके विशेष्य के साथ समास कर देने पर उसका प्राधान्य जाता रहता है। यहाँ पर शङ्का यह हो सकती है कि विशेषणत्व और प्राधान्य एक ही आश्रय में रहें, यह सम्भव नहीं। इस प्रकार जब विशेषण का प्राधान्य ही नहीं बनता तो उसके नष्ट होने का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है? इस प्रकार इस सिद्धान्त का तो आधार ही भ्रामक है। इस शङ्का का समाधान आचार्य के ही शब्दों में द्रष्टव्य है—

"विभक्त्यन्वयव्यतिरेकानुविधायिनी हि विशेषणानां विधेयतावगतिः । तत एव चैषां विशेष्ये प्रमाणान्तरसिद्धस्योत्कर्षविधायिनां शाब्दे गुणभावेऽप्यार्थं प्राधान्यं विशेष्याणां च शाब्दे प्राधान्ये आर्थो गुणभावोऽनूद्यमानत्वादिति उक्तम् । वक्ष्यते च ।"[21]

फलस्वरूप कुन्तक द्वारा सर्वथा निरवद्य घोषित किए गए निम्नलिखित पद्य में आचार्य तीन स्थलों पर दोष निकालते हैं—

संरम्भः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य यः,
सर्वस्यैव स जातिमात्रनियतो हेवाकलेशः किल ।
इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुघटाबन्धेऽप्यसंरब्धवान्
योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं यात्वम्बिकाकेसरी ॥[22]

सर्वप्रथम तो 'असंरब्धवान्' में नञ समास अनुपपन्न है, क्योंकि नञ का विषय पर्युदास होता है, प्रसज्यप्रतिषेध नहीं। आचार्यों की ऐसी मान्यता है कि ऐसे स्थल ही पर्युदास के विषय होते हैं, जहाँ पर विधि की प्रधानता तथा प्रतिषेध की अप्रधानता हो। अतः ऐसे ही स्थलों पर अप्रधान प्रतिषेध के द्योतक नञ् का उत्तर पद के साथ समास उचित है[23]। जैसे—

मेघे धर्ममनातुर २४

ही विवक्षित नहीं है, निषेधवाची नञ को समास में डालने पर उस प्राधान्य के आहत होने की शङ्का भी निर्मूल ही है। किन्तु जहाँ विधि का प्राधान्य न होकर निषेध की ही प्रधानता हो, वहाँ निषेधार्थ के प्रतिपादक 'न' को समास में डालना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि उत्तर पदार्थ-प्रधान नञ् समास में पड़कर 'न' अपना प्राधान्य खो बैठता है। ऐसे स्थल प्रसज्यप्रतिषेध के विषय बनते हैं और यहाँ 'न' का प्रयोग क्रियापद के साथ करते है।[२५]

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम्।[२६]

यहाँ पर दृप्तनिशाचर का प्रतिषेध प्रधान है, अदृप्तनिशाचर की विधि का नहीं। अतः 'न' पद का दृप्तनिशाचरः के साथ समास भी नहीं किया गया है। प्रकृतस्थल भी प्रसज्य-प्रतिषेध का है। यहाँ पर कवि को 'संरब्धवत्' का निषेध अभिष्ट है, असंरब्धवत् की विधि का नहीं। चूँकि विधेयत्व 'न संरब्धवान्' के 'न' द्वारा प्रतिपादित निषेधार्थ में है, अतः उस 'न' को समास में डालकर गौण बनाना उचित नहीं। क्योंकि तब वह विधेय का विमर्श करा नहीं पाता और इस प्रकार यहाँ विधेयाविमर्श दोष होता है।

आचार्य के इस वैदुष्यपूर्ण विवेचन की छाप मम्मट की इन पंक्तियों में भी दर्शनीय है—

आनन्दसिन्धुरतिचापलशालिचित्त—
सन्दाननैकसदनं क्षणमप्यमुक्ता।
..........................धिगस्मान्॥
अत्र न मुक्तेति निषेधो विधेयः। यथा—
नवजलधरसन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
..........................समोर्वशी॥
इत्यत्र, न त्वमुक्ततानुवादेनान्यदत्र किञ्चिद् विहितम्, यथा—
जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
.... अन्वभूत्॥
इत्यत्र अत्रस्तत्वाद्यनुवादेनात्मनो गोपनादि।[२७]

चतुर्थ पाद में 'योऽसौ' के द्वारा जिस अर्थ का उपक्रम किया गया है, 'तद्' के प्रयोग के अभाव में उसका उपसंहार न होने के कारण यहाँ भी विधेयाविमर्श दोष है। क्योंकि 'यत्' अनुवाद्यार्थ तथा 'तद्' विधेयार्थ के लिए प्रयुक्त होता है, अतः 'तद्' के अभाव में विधेय का विमर्श सम्भव नहीं।

"किञ्च योऽसावित्यत्र यदः केवलस्यैव प्रयोगोऽनुपपन्नः। यत्र यत्तदोरेकतरनिर्देशेनोप-
क्रम तत्र [illegible] न्याय्य [illegible] र्थत्वेनेष्टत्वात
तयोरस्य [illegible] नित्यत्वात् अतएवाद्य [illegible] म इति[२८]

किन्तु काव्य में ऐसे भी स्थल मिलते हैं जहाँ पर यत्तद् में से केवल एक का ही प्रयोग रहता है और ये स्थल दुष्ट भी नहीं समझे जाते, जैसे—'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां'। इसका समाधान महिम के अनुसार यह है कि 'यत्' एवं 'तद्' का उपक्रमोपसंहार दो प्रकार का होता है—शाब्द एवं आर्थ। जब दोनों का उपादान होता है तो शाब्द होता है—'यदुवाच न तन्मिथ्या यद् ददौ न जहार तत्' अथवा 'स दुर्मतिः श्रेयसि यस्य नादरः स पूज्यकर्मा सुहृदां शृणोतियः।' किन्तु जब दो में से एक का ही उपादान होता है तो आर्थ होता है, क्योंकि ऐसे स्थलों पर दूसरे का अर्थसामर्थ्य से आक्षेप कर लेते हैं। इनमें से केवल 'तद्' का उपादान होने पर जो आर्थ उपक्रमोपसंहार होता है, वह त्रिविध होता है। कारण कि वह (तद् शब्द) तीन प्रकार का होता है,—प्रसिद्धवस्तुविषयक, अनुभूतवस्तुविषयक तथा प्रक्रान्तवस्तुविषयक। यथा—

१—'द्वयं गतं सम्प्रतिशोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः'।

२—'तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा'।

३—कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापद चेष्टितम्।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः॥

इनके अतिरिक्त वह एक चतुर्थ प्रकार भी दिखाते हैं जहाँ 'यद्', 'तद्' दोनों का ही अर्थ सामर्थ्य से आक्षेप किया जाता है, यथा—

'ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ते किमपि तान् प्रतिनैष यत्नः उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा, कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥ अत्र स कोऽप्युत्पत्स्यते यं प्रति यत्नो मे सफलीभविष्यतीति उभयोरपि तयोरर्थादाक्षेपः।"

'यद्' का आर्थ उपक्रमोपसंहार द्विविध होता है। प्रथम तो वह जहाँ प्रकान्तवस्तु-विषयक अध्याहृत तद् के साथ उसका सम्बन्ध होता है, जैसे 'यं सर्वशैला परिकल्प्य वत्सं' में 'यं' का सम्बन्ध प्रक्रान्त 'स हिमालयोऽस्ति' के 'स' से है; द्वितीय, वह जहाँ ऐसे 'तद्' शब्द का प्रयोग न हो जिसके द्वारा ऐसे पदार्थ का परामर्श हो रहा हो जो 'यद्' शब्द द्वारा कर्म या करण आदि के रूप में कहा जा चुका हो, जैसे "आत्मा जानाति यत्पापं माता जानाति यत्पिता" इत्यादि में 'तदात्मा जानाति' इस प्रकार के अर्थ का आक्षेप हो जाता है। इसी प्रकार—

यत्तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः।
दीव्यताक्षैस्तदानेन नूनं तदपि हारितम्॥

में यद्यपि 'यत्' का प्रयोग एक बार एवं 'तद्' का प्रयोग दो बार हुआ है, तो भी वह दोष नहीं। कारण कि 'यत्' का सम्बन्ध 'तदपि' में आए 'तद्' से है तथा 'तदूर्जितं' का तद् तो प्रसिद्धि का परामर्शक है, उसका यत् के साथ सम्बन्ध आर्थ है।

यदि प्रतिपक्षी यह कहता है कि 'योऽसौ' में 'असौ', 'तद्' का पर्याय समझ लिया जाय तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि उस दशा में तो—

असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसरः प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणीः ।
वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितो वसन्तकालो हनुमानिवागतः ।।

पद्य में 'यत्' शब्द के परामर्श की अपेक्षा आ धमकेगी और निम्नलिखित पद्य में 'तत्' शब्द की पुनरुक्ति सिद्ध होगी—

यस्य प्रकोपशिखिना परिदीपितोऽभूदुत्फुल्लकिंशुकतरुप्रतिमो मनोभूः
योऽशौ जगत्त्रयलयस्थितिसर्गहेतुः पायात् स वः शशिकलाकलितावतंसः ।

इस प्रकार 'अदस्', 'इदम्' आदि के साथ 'तद्' अभिन्नार्थक तो हो ही नहीं सकता। इतने पर भी यदि—

योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीश निखिलं भवद्वपुः ।
स्वात्मपक्षपरिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिनो कुतोभयम् ।।

तथा "स्मृतिभूस्मर्विहितो येनासौ···" आदि प्रयोगों को देखते इदमादि तथा 'तद्' की अभिन्नार्थकता समझी जाती है तो वह वहीं पर समझी जाय, जहाँ 'अदस्' आदि पद 'यद्' आदि से दूरस्थ हों। समीपस्थ और अव्यवहित होने पर तो 'अदस्' आदि की 'तद्' से अभिन्नार्थकता तभी मानी जाय, जब वे 'यद्' से भिन्न विभक्ति में हों और ऐसा न होने पर (अर्थात् अव्यवहित तथा समान-विभक्तिक होने पर) उनको एक दूसरे के परामर्श की आकांक्षा और अधिक सामने आती है।[२९] जैसे—सोऽयं वटः श्याम इति प्रकाशस्त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः' इत्यादि में। इस प्रकार 'तद्' से रहित 'योऽसौ' के विषय में आचार्य अपना निष्कर्ष इस प्रकार देते हैं—

एवञ्च योऽयमिह 'योऽसावित्यत्र यदः केवलस्यैव प्रयोगः स केनाभिसम्बध्यताम्, न ह्यत्र मुक्तके तदभिसम्बन्धसहः प्रकान्तः कश्चिदर्थः सम्भवति यदभिसम्बन्धोऽयं परिकल्प्येत। न च प्रकंस्यमानाम्बिकाकेसरिविषयोपकल्पितेन तदाऽस्याभिसम्बन्धः सम्भवी तदुपादान एव तत्सम्बन्धप्रतीतिदर्शनात् ।···तस्मादपेतप्रक्रान्तसम्बन्धसहायस्यास्य यदोऽनुपपन्नप्रकंस्यमानवस्तुसमन्वयस्यैकाकिनः सार्थभ्रष्टस्येव तपस्विनः पथिकस्य सन्मार्गोपदेशिकं तच्छब्दाध्याहारमेवैक शरणमन्तरेण नापरोऽभिमतार्थसङ्गोपायः सम्भवति ।[३०]

आचार्य के 'योऽसौ' से सम्बद्ध इस विवेचन का काव्यप्रकाशकार द्वारा दिए गए विधेयाविमर्श के विवेचन से स्पष्ट ही अत्यधिक साम्य परिलक्षित होता है। निम्नलिखित स्थल विशेष उल्लेखनीय हैं—

"प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते। क्रमेणोदाहरणम्—
कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्, आदि

× ×

'क्व गतं सम्प्रति शोचनीयतां · कृपाखिन'

× ×

मम्मट द्वारा दिया गया अनुभूतार्थ विषयक उदाहरण महिम के उदाहरण से भिन्न है।

एक स्थल पर प्रतिपक्षी द्वारा उपस्थापित 'तद्' से रहित 'यद्' के प्रयोग के उदाहरण में महिम ने यह बताया था कि वस्तुत: वहाँ प्रक्रमभङ्ग दोष है और 'तद्' का तो वहाँ अर्थसामर्थ्य से आक्षेप हो जायगा। मम्मट ने महिम द्वारा सुधारे गए रूप में ही उसे उद्धृत किया है। वे कहते हैं—

''यच्छब्दस्तूत्तरवाक्यानुगतत्वेनोपात्त: सामर्थ्यात् पूर्ववाक्यानुगतस्य तच्छब्दस्योपादानं नापेक्षते यथा—

साधु चन्द्रमसि पुष्करै: कृतं मीलितं यदभिरामताधिके।''

इसी प्रकार 'यद्', 'तद्' दोनों का शब्दत: उपादान न होने पर दोनों का ही अर्थ-सामर्थ्य से आक्षेप मम्मट भी मानते है और वही उदाहरण उद्धृत करते हैं जो महिम ने दिया है।[31] 'अदस्' शब्द, 'तद्' शब्द के अर्थ का बोधक नहीं बन सकता, ऐसा मम्मट भी स्वीकार करते हैं और महिम द्वारा उद्धृत 'असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसर:' आदि श्लोक से अपने कथन की पुष्टि करते है।[32] 'अदस्' को 'तद्' शब्द के अर्थ का अभिधायक मम्मट भी स्वीकार करते है, किन्तु तभी जब कि वह 'अदस्', 'यत्' से दूरस्थ[33] हो तथा भिन्न-विभक्तिक हो। इस सम्बन्ध में भी मम्मट महिम का ही उदाहरण—योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं—देते हैं। साथ ही महिम की भाँति ही मम्मट भी यह स्वीकार करते हैं कि 'यत्' शब्द के निकट प्रयुक्त 'तद्', 'अदस्' आदि प्रसिद्धि के परामर्शक हो जाते हैं[34] और महिम द्वारा किञ्चित् भिन्न प्रसङ्ग में उद्धृत 'यत्तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपते:' आदि के द्वारा अपने इस कथन की पुष्टि करते हैं।

इन दो दोषों के अतिरिक्त 'अम्बिकाकेसरी' में षष्ठी तत्पुरुष समास भी विधेयाविमर्श दोष के कारण अनुपपन्न है। महिमाचार्य की ऐसी धारणा है कि प्रस्तुत उदाहरण में अम्बिका पद 'केसरी' में कुछ वैशिष्ट्यों के आधानार्थ उपन्यस्त है और इसीलिए चमत्काराधायक होने के कारण ही वह प्रधान भी है। किन्तु तत्पुरुष समास का अङ्ग बन जाने पर वह अपना प्राधान्य खो बैठता है और केवल सम्बन्ध मात्र का बोधक रह जाता है। पर कवि को सम्बन्ध-मात्र का ज्ञान कराना अभीष्ट नहीं है, अपितु वह तो इस विशेषण द्वारा यह दिखाना चाहता है कि अम्बिका का कृपापात्र होने के कारण ही वह केसरी अपनी जाति के अन्य सिंहों से विलक्षण है। प्रस्तुत स्थल पर यही विधेय है, किन्तु उसके प्रतिपादक पद 'अम्बिका' के समास में पड़ जाने से उस विधेय का विमर्श नहीं हो पाता। फलस्वरूप यहाँ विधेयाविमर्श दोष हुआ।

विशेषण का विधेयत्व होने पर समास न करने का यह नियम केवल उत्तरपदप्रधान तत्पुरुष के लिये ही विहित नहीं है, अपितु विधेयवाचक पद को तो किसी भी समास में नहीं डालना चाहिए। क्योंकि समास में डालने पर उन पदों की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचना अवश्यम्भावी है। अव्ययीभाव, द्वन्द्व बहुव्रीहि तथा द्विगु समासों में भी समस्त पद के अङ्गभूत

पद अपने पूरे-पूरे अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकते, अतः आवश्यक है कि पदविशेष से व्यक्त होने वाले संपूर्ण अर्थ को प्राप्त करने के लिए हम उन्हें समास का अङ्ग न बनाएँ। आचार्य ने यथास्थान ऐसे उदाहरण भी दिए हैं जहाँ उपर्युक्त समास सम्भव हो सकते थे, किन्तु कवियों ने समासरहित पदावली का प्रयोग किया है केवल इसलिये कि प्रत्येक शब्द अपने सम्पूर्ण अर्थ को दे सके, उसमें किसी प्रकार का व्याघात न उपस्थित हो। साथ ही महिम ने प्रत्युदाहरण तथा परिष्कार भी दिए हैं जिनमें 'स्रस्ताम्नितम्बादवलम्बमानां पुनः पुनः केसर-पुष्पकाञ्चीम्' श्लोक विशेष उल्लेखनीय है। मम्मट ने भी प्रत्युदाहरण के रूप में इस श्लोक को उद्धृत करते हुए उसी परिष्कृत रूप को स्वीकार किया है जिसका सुझाव महिम ने दिया है।

विशेषणविशेष्य भाव तथा विध्यनुवादभाव के स्थलों के अतिरिक्त समासाभाव के इस नियम का अतिदेश वे कृत्तद्धितवृत्तियों में भी मानते हैं, क्योंकि वहाँ भी प्राधान्याप्राधान्य की विवक्षा रहती ही है; पर कृत या तद्धित प्रत्ययान्त कर देने पर वह प्राधान्य आहत हो जाता है।[३५] अपने इस मत के समर्थन में वे पाणिनि का सूत्र उद्धृत करते हुए कहते हैं कि आचार्य का भी यह अभिमत था कि जहाँ विशेषण का प्राधान्य हो, वहाँ विशेष्यवाची पद के साथ उसका समास नहीं करना चाहिए। तभी तो 'वृषल्याः कामुको' तथा 'दास्याः पुत्र' इत्यादि में कामुकादि में आक्रोश-जनित अपकर्ष की प्रतीति के लिए ही समास होते हुए भी विभक्ति-लोप का निषेध किया है। आचार्य महिमभट्ट के इस विचार की मौलिक उद्भावना सुस्पष्ट है—"न चायमर्थः स्वमनीषिकयैवास्माभिरुपकल्पितः किन्तर्हि, आचार्यस्याप्यभिमत एव यदयं समासविधौ समर्थग्रहणं कृतवान्"[३६] इत्यादि।

जैसा कि स्थान-स्थान पर सङ्केत किया जा चुका है, मम्मट का दोष-निरूपण महिम के दोष-विवेचन से बहुत अधिक प्रभावित है। मम्मट ने सप्तम उल्लास में इस दोष का उल्लेख 'अविमृष्टविधेयांश' नाम से किया है। महिमाचार्य के अधिकतर विचार एवं उदाहरणों को मम्मट ने ज्यों का त्यों स्वीकार किया है। किन्तु इतना अधिक साम्य होने पर भी यह कहना बहुत उपयुक्त नहीं प्रतीत होता कि 'अविमृष्टविधेयांश' के अन्तर्गत मम्मट ने सब कुछ उदाहरण तथा समीक्षा महिमभट्ट से ही लिए हैं।[३७] क्योंकि 'अविमृष्टविधेयांश' के अन्तर्गत दो चार उदाहरण ऐसे भी हैं जो 'व्यक्तिविवेक' में नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त आचार्य का पूरा-पूरा अनुकरण करने के बाद भी शैली मम्मट की अपनी है। महिम से मम्मट का सर्वप्रथम भेद तो यही है कि मम्मट ने पद एवं वाक्य के आधार पर 'अविमृष्टविधेयांश' के दो भेद माने हैं। 'नञ्' की अनुपयुक्तता तथा समास के अनौचित्य का विवेचन वे पदगत दोष के अन्तर्गत करते हैं और 'योऽसौ' से सम्बद्ध विवेचन तथा एकाधिक अनुचित समस्त पदों वाले उदाहरणों का विवेचन वाक्यगत 'अविमृष्टविधेयांश' के अन्तर्गत करते हैं। महिम ने जहाँ प्रसज्यप्रतिषेध एवं पर्युदास का विशद विवेचन किया है, मम्मट इनका नामोल्लेख भी नहीं करते। जहाँ महिम पूर्वपक्ष उपन्यस्त करते हुए दीर्घ वाद-विवाद के पश्चात् अपने सिद्धान्त को स्थापित करते हैं तथा आचार्य पाणिनि के सूत्रों द्वारा अपने सिद्धान्त का समर्थन करते हैं, मम्मट अपनी सारग्राहिणी प्रवृत्ति एवं शैली के अनुरूप सूत्र रूप में उस सारे

विवेचन का सार ही देते हैं। सम्भव है, मम्मट को महिमकृत विवेचन इतना पुष्ट प्रतीत हुआ कि उन्होंने उस विवेचन को उपस्थापित करना अनावश्यक समझकर केवल उसका निष्कर्ष देना ही पर्याप्त समझा।

इस प्रकार दोषों के अध्याय में 'विधेयाविमर्श' नामक एक नया दोष जुड़ने के साथ-साथ एक नया परिवर्तन भी परवर्ती दोष-निरूपण में हमें दीखता है। वह है समासगत दोषनिरूपण की प्रथा का जन्म। पूर्ववर्ती आचार्यों ने पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ तथा उपमा के दोषों का निरूपण किया था, पर मम्मट ने समागत दोष का भी विवेचन किया है। इसकी प्रेरणा उन्हें सम्भवतः इस 'विधेयाविमर्श' से ही प्राप्त हुई जो कि समासगत दोष है। इस प्रकार स्पष्ट है कि महिम ने दोष के इतिहास को एक नयी दिशा दी।

संदर्भ-संकेत

(१) यदेतस्य विश्वमगणनीयं मन्यमानस्य स्वात्मनः सर्वोत्कर्षशालिताख्यापनमिति।' —व्यक्तिविवेक, पृष्ठ २६३ (२) ध्वनिवर्त्मन्यतिगहने स्खलितं वाण्याः पदे पदे सुलभम्—व्यक्तिविवेक ५/६ (३)………यन्महतां संस्तव एव गौरवाय।"—व्यक्तिविवेक १/३ (४) The next noteworthy contribution to Dos Prakarana comes from that great दोषज्ञ may we say पुरोभागी also महिमभट्ट—Bhoja's Sringara Prakas by Dr. V. Raghvan, p. 241. (५) Poona Orientalist Vol. XIV, 1949 (६) History of Sanskrit poetics by Mm. P. V. Kane, page 243 (७) भामह : काव्यालङ्कार १/११-१२ (८) दण्डी : काव्यादर्श १/७ (९) 'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।'—ध्वन्यालोक, तृतीयोद्योत (१०) Dr. V. Raghvan : Bhoja's Sringara Prakas, p. 235 (११) काव्यप्रकाश १/४ (१२) नाट्यशास्त्र १६/८८-९४ (१३) काव्यलङ्कारसूत्रवृत्ति की डॉ० नगेन्द्र कृत भूमिका, पृष्ठ ९० (१४) व्यक्तिविवेक, पृष्ठ १४९ (१५) वही, पृष्ठ ९५ (१६) वही, १/१ (१७) सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन—ध्वन्यालोक १/८ (१८) शब्दोविवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि—वक्रोक्तिजीवित १/९ (१९) व्यक्तिविवेक (काशी संस्कृत सीरीज) पृष्ठ २१८-१९, श्लोक संख्या २/१४-१७ (२०) व्यक्तिविवेक, २/११, २/१५, २/२६-२७ (२१) वही, पृष्ठ २०६-२०७ (२२) वही, पृष्ठ १५३-५४ (२३) वही, पृष्ठ १५५ (२४) वही, पृष्ठ १५५ (२५) वही, पृष्ठ १५५-५६ (२६) वही, पृष्ठ १५६ (२७) काव्यप्रकाश (चौखम्बा प्रकाशन) पृष्ठ १९०-९१ (२८) व्यक्तिविवेक, पृष्ठ १६३ (२९) वही, पृष्ठ १७४ (३०) वही, पृष्ठ १६९, १७५ (३१) काव्यप्रकाश, पृष्ठ २०१, (३२) वही, पृष्ठ २०२ (३३) वही, पृष्ठ २०३ (३४) वही, पृष्ठ २०३ (३५) 'प्रत्योत्पत्तौ पुनर्न्याभूतसर्वादिकमंभावः कषणादिषु कत्रंश एव उन्मग्नतया प्रकाशते न कमांशः तत्रैव प्रत्ययोत्पत्तेः।'—व्यक्तिविवेक, पृष्ठ २१२ (३६) व्यक्तिविवेक पृष्ठ २२८ (३७) Dr V Raghvan Baoja's Sringara Prakas Page 243

प्रतिपत्तिका

एक

'मैनासत' का एक अप्रकाशित पाठ

विश्वनाथ त्रिपाठी

श्री अगरचंद नाहटा के अनुसार 'मैनासत' का सर्वप्रथम विवरण सन् १९०२ ई० की 'खोज रिपोर्ट' (नागरी प्रचारणी सभा, काशी की) में छपा है।[१] डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है कि 'मैनासत' के दो पाठ पहले से प्राप्त थे—एक स्वतन्त्र रचना के रूप में और दूसरा जो चतुर्भुजदास निगम की 'मधुमालती' के कुछ पाठों में अन्तर्भुक्त मिलता है।[२] इधर 'मैनासत' के कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं :—

(१) अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर (लि० का० सम्वत् १७२४) की प्रति का पाठ हिन्दी विद्यापीठ ग्रन्थवीथिका में श्री अगरचन्द नाहटा ने छपवाया है।[३]

(२) मुनि विनयसागर के संग्रह का पाठ (लि० का० अज्ञात)। नाहटा जी ने हिन्दी विद्यापीठ ग्रन्थवीथिका में इसे भी प्रकाशित कराया है।[४]

(३) 'मधुमालती' में अन्तर्भुक्त पाठ का संपादन करके श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने प्रकाशित कराया है।[५]

(४) आगरे में सं० १६३३ वि० में पं० सींहा द्वारा उतारी गई 'मैनासत' की प्रति जिसे नाहटा जी ने 'अवध भारती' के सितम्बर-दिसम्बर १९५६ के अंक में प्रकाशित कराया है।[६]

'मैनासत' के और उससे सम्बद्ध काव्यों के कई अन्य पाठ उपलब्ध हुए हैं जिन पर श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'साधनकृत मैनासत' में विचार किया है।[७]

श्री द्विवेदी ने मनेरशरीफ से प्राप्त 'मैनासत' की प्रति का न तो उपयोग किया है और न उसकी सम्यक् विवेचना की है। श्री अगरचन्द नाहटा ने भी मनेरशरीफ की प्रति का कोई उपयोग नहीं किया है। उनके अनुसार (मनेर) खानकाह वाली प्रति शाहजहाँकालीन या उससे पुरानी है[८]

श्री नाहटा 'मैनासत' का रचनाकाल सोलहवीं शती मानते हैं।[९] डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इसका रचनाकाल संवत् १५६१ या उसके पूर्व माना है।[१०] श्री हरिहरनिवास द्विवेदी के अनुसार "साधन के मैनासत की रचना कभी १४८० ई० के पश्चात् १५०० ई० के पूर्व हुई।"[११]

ज्ञात होता है कि मनेरशरीफ वाली प्रति का पूर्ण विवरण अभी तक विद्वानों को नहीं मिल पाया है। उपलब्ध प्रति का लिपिकाल शाहजहाँ या उसके बाद का अवश्य है, किंतु जिस प्रति से यह उतारी गई है, उसका लिपिकाल १६वीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल है, यह संकेत उपलब्ध प्रति से मिलता है। मनेरशरीफ की प्रति का विवरण देते हुए श्री हसन अस्करी ने लिखा है—

"इन सबसे क़दीमतर तो वह नुस्खा था जिसकी हि० ९११ (१५०५ ई०) में किताबत हुई और जिसकी नक़ल मनेरशरीफ के नुस्खे के कातिब ने सत्रहवीं सदी में की...मैनासत भी मरज़वजूद में ९११ हि० के क़ब्ल आ चुकी थी।"[१२]

मनेरशरीफ के खानकाह से प्राप्त जिस गुटके में 'मैनासत' का हस्तलेख मिला है, उसमे 'मैनासत' के अलावा 'पद्मावत' तथा अन्य कई काव्यों का संग्रह है। सभी काव्यों की प्रतिलिपि १७वीं शताब्दी में किसी एक ही व्यक्ति द्वारा की गई हैं। लेकिन 'मैनासत' की प्रतिलिपि हि० ९११ में भी किसी के द्वारा की गई थी और खानकाह में उपलब्ध प्रति उसी की प्रतिलिपि है, इसका स्पष्ट संकेत मिल जाता है। श्री अस्करी ने इसका जो विवरण दिया है। वह ज्यों का त्यों नीचे दिया जा रहा है—

"मनेरशरीफ़ का नुस्खा एक मजमूआ है जो सारा सत्रहवीं सदी में लिखा गया। इस मजमूआ में दो जगह सन किताअत और कातिब का पता ठिकाना बेढंगे तौर पर दर्ज है। 'वियोग सागर' के अखतमाम पर यह इबारत है—पोथी वियोग सागर बाजबान हिन्दवी इन्सराम शुदह फिल तारीख जुल्काद ९११ हि० मौजा खासदम हक़ मालिक बकानू नन्दातू बार बतारीखे बिस्तुम रोजे जुमा जुकी भीनुमाएम।

फिर एक सफे में जायसी की अखरावट के अखतमाम और साधन की मैनासत के आग़ाज के दरम्यानी हिस्से में यह इबारत पाई जाती है—तमामशुद पोथी अखरोती बजबान मलिक मुहम्मद जायसी किताब हिन्दवी कातिबुलमुल्क कातिब हरुफ़ फ़कीर साकिन पट्टा नन्दातू उर्फ़ बकानू खास अमला परगना निजामाबाद सरकारे जौनपुर सूबाए इलाहाबाद बवक़्ते जुहर योमे जुमा जुकी शहर जुल्काद ९११ हि० दर मौजा खासदमा मक़ान कुवँरह अमला परगना नेकून बरसरकार मस्तूरस्त तहरीरयाफ्त ज्यादह गुफ़तार आवश्तन इजहार नेस्त।

जाहिर है कि कातिब निहायत कमसवाद था। चूँकि सारा मजमूआ उसी के क़लम का लिखा मालूम होता है और उसमें पद्मावत भी है जो शेरशाह के अहद में मुकम्मल हुई। इसलिए ९११ का सन् किसी दूसरे कातिब का दिया हुआ है। अखरावट जायसी की अव्वली तसनीफ़ क़रार दी जा सकती है। इसका मौजू मुखतलिफ और मअहूनी है यक़ीकन ९११ के क़ब्ल लिखी गई मैनासत भी मारज़ वजूद में ९११ के क़ब्ल आ चुकी थी एतराब

किया जा सकता है कि अहदे अकबरी के पहले सूबा इलाहाबाद का वजूद न था। जौनपुर की सरकार भी बाद की चीज है। प्रयाग और इलाहाबाद आगे चलकर इलाहाबाद हो गया। अकबरी किला की बुनियाद रखी गई। एक सूबा क़रार दिया गया। जाहिर है कि क़ातिब अव्वल की दी हुई तारीख क़ातिब दोम के नाम और पता के साथ खल्त-मल्त हो गई है। मजमूआ तो सत्रहवीं सदी का है।"[१३]

अर्थात् 'मैनासत' की रचना १५०५ ई० के पूर्व कभी हुई होगी। 'मैनासत' के रचयिता साधन के विषय में किसी और स्रोत से कोई प्रामाणिक सूचना अब तक नहीं मिली है। सम्भवतः दाऊद और साधन के काव्यों का रचनाकाल आस-पास ही था।[१४]

मनेरशरीफ की प्रति का पाठ नीचे दिया जा रहा है।

साधन का मैनासत (मनेरशरीफ को प्रति)

(१)

जिन्ह कलि बेलसेउ एह, असदल गजदल दलमलेउ।
साधन मैने देह, पृथिमी चीन्हा ना रहेउ॥
जाता देखउ यह संसारू। का लोगा तुह धरहु पियारू॥
पानी अइस बुलबुला होइ। जो आवा सो रहा न कोइ॥
(पहले) पुनि जो दई उपाने। आवत देखे जात न जाने॥
इक छल राज नरिन्दन कीन्हा। पृथिमी रहा न तिन्ह कर चीन्हा॥
हम पुनि दिन इक चल चल अहहीं। सुख आख समझउ ता कहहीं॥
धूवां केर धौराहर पृथिमी, कोई न रहा निदान।
साधन रोइ बिफारि, जिउ जिउ मनहु तवांन॥
कौडी कौडी जोर, मूए किरपन बापुरे।
गए गडन्त कडोर, मन पछतावा पापि यह॥

(२)

सातन कुवरं नगर कइ दूता। कपट रूप नारद कइ पूता॥
तेहि रतना मालिन हंकराई। सत सउँ मैनां देहु डोलाई॥
दूत वचन जेउ मैना पावउ। तोहि मालिन चूंदर पहराउ॥
मालिन पान दूत कर लीन्हा। सत्त रूप सब आगे कीन्हा॥
जोहन मोहन लीन्ह संभारी। टोना टामन फेरेसि भारी॥
लीत रब मालिन मुनि पुनि, गइ मैना कइ बार।
जिन्ह बिधि राखइ सत्त सौं, कउन डोलावइ पार॥
जिह राखइ करतार ताकउ बार न बाँकियइ
जो लागइ ससार, साधन छाँह कि छीनियइ

(३)

मालिन जाइ मंदिर मँह बैठी । मैना जहा सिंघासन बैठी ॥
चंपक फूल चौसारा हारु । कीन भेंट जो दीन्ह जोहारु ॥
हंसि के पूछे मैना रानी । कहवां गवन कीन्ह परधानी ॥
कह दूतिनि सुन मालति मैनां । अनचिनही कस बोलसि बैनां ॥
तोर पितइं धाइ मोहि कीन्हा । मैं बारइं तोहि अस्थन दीन्हा ॥
मन न रहइ हियं गहबरइ, बरह आग तन मोहि ।
संवरि सबन्ह चित आप जिवं, भेंटन आइउ तोहि ॥
सीस नवइ मुई लाग मुख, अंभ्रित मुख कपटी ।
साधन धनुक चढ़ाइ, जिवं थिर ढुकइ अहेरिया ।

(४)

मैनंइ बात साच कह जानी । कुटनी कइ बोलहि पतियानी ।
तबही नाउन बेग बुलाई । कुं कुं मरदन कइ नहवाई ॥
घेवर पापड आनि जिवावा । दखिन कइ चीर आन पहरावा ॥
रहसी कुटनी अग न समाइ । अब सोपंह कल मैना जाइ ॥
कहिसि तोर देखउ अब भेसा । छूटी लटेइँ भंग भए केसा ॥
मेल चीर तोर देखउं, कि तुम्ह दहूँ जोग ।
सीस न सेंदुर काजर, काह भएउ सभ भोग ॥
हिरदह कोठा सात, नयनन्ह हंस मुख रोइ ॥
दूत लखन तिह पास, साधन आप संभारि ॥

(५)

पिता मोर अनु कांह न राजा । पिता राज मोरे कउने काजा
पियह दुख मोहि पडेउ जो आइ । अस दुख परउ सउति कहं जाइ
महरी कह धी चांद गुवारी । ले गइ सेंदुर मोर उतारी
का कहं मालिन करउ सिंगारा । मोहि परिहर गौ कंत पिआरा
बैरि (री) करि (रइ) मोर जस कीन्हा । बारी बैस मोहि दुख दीन्हा
फिरह भाग दिन ओछे, मीत सो बैरी होइ ।
करह (हि) जो बांके देवहरे, मालिन ऐसा करइ न कोइ ॥
तासों कीजइ नेह, जा सो दुइ जग थिर रहइ ।
तासों कौन सनेह टूटइ कांचइ सूत जिउ ॥

(६)

रितु असाढ़ बरखा पैसारू । सभ काहूँ घर बार सँभार (रू) ॥
दीप गए हिय (?) आवन हारा । अँधियर कहूँ न देखउ बारा ॥
जेहि घर कंत ते करहिं बेरासू । सो न छाह (ड) हिं पियह कर पासू ॥
तोर दुख सुनत मरत हौं, बोल छाड़ दे मोहि ।
जस मालति कर भँवरा, चूक न मेरवंउ तोहि ॥
जिन्ह सत ऊपर चाव, सपनेहु असत न रुचइ ।
......जाइ तो जाउ, साधन सत न छाड़ई ॥

(७)

दूती दूत-वचन जियँ कहा । मैना धाइ ओकर मुख चहा ॥
रूखे नैना तीखे बैना । बोलइ सती महासत मैनां ।
लाज कान तोहि कहत न आइ । अस ओखर मैं बोलिसि धाइ ॥
चा (जा) रउं नार ताहि कर हिया । एक छाँड जिन दोसर किया ॥
एकाएक करत जी देऊ । जग दोसरा कर नाउं न लेऊ ॥
मोर भँवर सुन मालिन, रूप कि पूजइ कोइ ।
अति रे स्याम गोवरीरा, भँवर कि सरबरि होइ ॥
नारि अकेली सेज, सावन रुत्त बरसइ घना ।
पानी होइ करेज, साधन रसिया बाहुरइ ॥

(८)

सावन मैनां आइ तुलाना । घर-घर सखी हिंडोला ताना ॥
हरियर भुँइ कुसुंबी रतनारी । नाँह सरीखे खेलइ धमारी ॥
कन्त सुहागिन झूला वा (डा) रा । गावहिं गीत उठइ झनकारा ॥
उन्ह दुख तिन्ह सुख रैन दुहेली । झुरि-झुरि मरहुं सेज अकेली ॥
सावन गंग भए मोर नैनां । तोर दुख देख मरउं मैं मैनां ॥
जोबन जात न जानब, गए बार पछताब ।
आनि भँवर तोह मेखउ, लेन जगत कछु जाब ॥
यह जग जइस सनेह, सो जानइ जिह दुह रजा (चा) ।
कपट रूप सम केहु, साधन दोश न लागई ॥

(९)

सुन मालिन साधन तेहि भावइ । जाकर पियह परदेसइ आवइ ॥
भोग भुगुत सभ धरेउ उतारी । मोहि लेखे संसार उजारी ॥
रितु मानउ जउ लोरिक आवइ । नांतर मैना मुए गवावइ ॥
तै पापिन मोहि पाप सुनावसि । यहि बातनि तैं ओखर पावसि ॥
मोरे पिता मातु अउ भाई सुन पावहि तउ मार अकाई

मालिन वचन सुनहु तुम जनम कि नित नित जात
काँचे दूध बिनासति (?) जाइ परन्तर मात ॥
भादो गहिर गभीर, नयन गंग कोसन्ह भरे।
कँउकर पावउ तीर, साधन खेवनहार बिन ॥

(१०)

भादों मैनां मघा झकोरा। ऊंच खाल भर नीर हिलोरा।
धन गरजइ बरसइ अतवानो। कांप करेज लोहु होइ पानी।
सरासेत भुंइ बादर लागे। देख फाड़ हिय पउरुख थागे।
दादुर पपिहा कुहकहिं मोरा। सूनी सेज हिय फाटइ तोरा।
संघी सहेलि लास मन भावा। केउ आपन केउ खँइ परावा।
जोबन काहे न भोगहि, अलप बैस सुख छाह ॥
केति भँवर बिलसत है, कवँल फूल दर माह ॥
जोवन देख बहाइ, पीयह पीत न छोड़िए।
सूख रहै कुमलाइ, फूटे जोवन प्रीत बिन ॥

(११)

यह सुन मैना रिसाई। अब ओखर तोह बोलउँ धाई।
तेहि कहँ जे अमरौती खाई। जाकइ पाप सुनावसि आई।
जोरे मुआ सोइ ते (य) हिं न आवा। तिन्ह नित को आपहिं डहँकावा।
वह कत जाइ न बांधइ थीती। तिह जीवन सो कउन पिरीती।
तिल एक सुख जनम कउ पापू। तिह नित कउन बिठारइ आपू।
जो जरकइ जल ऊबरैं, धाइ पाप तस आह।
सोरस होई लोर सउ, उतर तेव तब काह ॥
सुन शारदह रे बान, बिरहिन बिरह चउग्गुना।
प (ज) नु अरजुन कइ बान, मनमथ सर चूकइ नहीं ॥

(१२)

सुन मैनां अब चढ़ा कुवारा। जनसि (?) ताग सम गूथहि हारू ।
ऊपज साह कन्यागत होइ। पियह भोग बिन रहइ न कोइ।
जोन्ह दहउ दिह उदइ भोरारी। तरुनी खेलहिं प्रेम धमारी।
ते आपुहि काहे अबडेरसि। मोर बोल काहे तै पेलसि।
धन जोवन जे होत न खावा। गए बार पाछें पछतावा ॥
सउति किहिस तुह ऊपर, लोरी कीत (किहित) न कानि।
तिह नित काहे झूरसि, काहें होसि अयानि ॥
जिह राता मोह पीउ, हौं चेरी तिह सउति कइ।
वारन वारउँ जीउ साधन हंस के राखिहैं

(१३)

सुन मालिन कुँवार किन आवइ । लोरिक बिन मोहि जगत न भावइ ।।
होइ कन्यागत परब देवारी । मोहि लेखें संसार उजारी ।।
भोग भुगुत के नियर न जाऊँ । सीत घाम कहु डर न डेराऊँ ।।
मानिहु रुत जाकर पिउ पासा । मोहि वियोग निस देवस उदासा ।।
करवत सीस देइ जो लोरा । तबहूँ अंग न डोलइ ओरा ।।
इह जोबन लोरिक बिनाँ, जारि करउ मँइ छार ।
प्रीत जाइ इन बातनि, सरग होइ मुख कार ।।
दीजइ हाथ उठाइ, खाजइ पीजिइ बेलसियह ।
लेउ गएउ मूँड चढ़ाइ, साधन किरपन सच मुए ।।

(१४)

उत्तम कातिक परब देवारी । सभ कोउ खेलइ परम धमारी ।
धन जोबन भोगइ संसारू । तो कहु मैनाँ बहुत बिचारू ।।
बाँभन छतरिन बैसिन नारी । बिरहिन पति सों रंग सोनारी ।।
मानहिं परब छतीसों जाती । तैं पइ भइस माँग कइ ताती ।।
तोहु देवत ओरहि लइ गएउ । छाडेसि तोहि न आपन भएउ ।।
जोबन काहे न भोगबसि, का खोवसि ओहु लागि ।
सहरस सबद हियर फाटउ, जब-जब देखियहु जागि ।।
जो राता जिन्ह पास, सो जन ताकइ मन बसइ ।
............................लै धन जोबन पाहुनां ।।

(१५)

का कर कातिक परब देवारी । फूट बात का कहसि गँवारी ।।
परब बार दिन मानिय सोई । जिइ सरीर मालिन जिय होई ।।
जियरा मोर चाँद ले धरीं । बिन जिय धर माँटी में पड़ (ड़ी) ।।
माँटी लागि जेउ आप बिटारउँ । दोउ जग धरम परंतर हारउ ।।
रुत औंर परब लोर संग माना । पियहु बिन जगत धंध के जाना ।।
रंग भोग कइ पृथिमीं, तिल इक करैं सँयाइ ।
जुग-जुग झूटइ पातक, तिन्ह नित तिस को जाइ ।।
कया बिटारउ कोइ, जग राता बैरी धनाँ ।
चरित खेलावइ सोइ, फूटै झूठन पेलियइ ।।

(१६)

कहा बखानसि माँटी भेद न मैनाँ जानसि ।
माँटी माह क्स्ट विधि खेला मेला परम प्रस माँटिइ मह मेला खेला) ।

सोवरन फूल जो माँटी फूलइ। माठी देस जो माँटी मूलइ।
माँटी भोगवे माँटी खाइ। माँटिइ उपजइ रंग सोआइ।
माँटी बिरला बूझइ कोइ। हँसे खेलपुन माँटी होइ।

काँच सूत टूटे तस (........) कापड तोर।
अगहन छैल बेरासहु, कहा सुनहु जउ मोर॥
जउँ जिय जाइ तो जाऊ, साधन सत्त न छाड़ई।
पापहि देहि बहाइ, सत कइ करनी आग रे॥

(१७)

जउ मालिन लोरहि अस भावा। न मोहि रोयन न परिहस आवा।
जासउ मइँ आपन जिव हारा। कवन भाँख जउँ सो जिय मारा।
राज देइ तउ कवन बड़ाई। भीख मंगावइ का घट जाई।
यहि डर जउ सत छाँड पराई। ताकर पाप करहि का आई।
बचन तुम्हारइ धरम नसावउँ। पुनि का लोरहि मुख दरसाऊँ।

जरत अगिन मैं मालिन, जियरा धरेउँ बुझाइ।
अगहन छैल बेरासहु, मोरे हुत तुम्ह जाइ॥
सबरह (हुँ) सपने सेज, अनवन भाँति सँवारिए।
जाउ फाट करेज, साधन साईं बाहरे॥ ·

(१८)

मैनाँ पोस मास देख आवा। जाड़ पवन भिनसार जनावा।
निस के पवन तहाँ बहइ अपारा। हाड़ न रहा डोल तन हारा।
कहब तुम्हार न फाबहि मैनाँ। अइसन बोल तैं सुन मोर बैनाँ।
रहसि अकेलइ जाड़ न जाई। मन को मदन सतावइ आई।

तौन नेह नित बेर सम, कामिन एह संसार।
आव (ज) हि रसिया मेरवटउँ, राख बोल हमार॥

(१९)

सुन रतनाँ तै मालिन धाई। तेह मेरवहु जो भँवर भइ जाई।
पोस मास का करिहै मोरा। झाँझर कै जिए लइ गइ लोरा।
लोरिक बिरह तवइ मोर अंगा। सो रज सीसन्ह भरउँ मइँ माँगा।
बिरह छैल जेहि सेजिहि होइ। ताकर वारन चापइ कोइ।
भोग भुगुत मोहि कछु नहिं भावइ। जउ लहि लोर न हम घर आवइ।

बिरह तुसार सेज दुख मैनाँ, गरुअ अहइ संताप।
पाँच भूत की हतिया, एह मों छलकस पाप॥
समुंद कै पुरा जाइ पवन कि बाधाँ जिर रहइ।
साधन केउ सुख ताइ, माघ अकेसी थिर रहइ

(२०)

माघ तुसार कहउँ सुन पीरा । ....सरीरा ॥
पवन तुसार सबद कइ बाजा । सुर नर मुनि जन देवता भाजा ॥
भाजइ पाँच इन्द्री कइ सेना । भवँर लुकानि काँट मँह मैना ॥
भौं बिनु लोर भाज नहि जानउं । माघ चदगुन लागइ दानेंउ ॥
सौंर सुपेती सेज बिछाई । पिय बिन कैसुहुँ जाड़ न जाई ॥

दूनहु जग आग देउ मैं, जहां न बसे......मोर ।
झूठहि बात तैं भोर बसि, कहा सुनउ का तोर ॥
नेह काहे कर पाप, पियहु कारन सिर दीजियइ ।
सावन कौन संताप, बैरिन सो मरना भला ॥

(२१)

धरमहिं मालिन करिहौं चाउ । पाप के पंथ धरउँ न पाउ ॥
का कर धरम पाप कह केरा । लोर पंथ मकुतावहि बेरा (?) ॥
ओहि परान ओहि जीवन मोरा । कया सून (पवन) वन कुँहकहि लोरा ॥
कइ बहि जाउं कइ लगाउं तीरा । बहत जाउ माँझ मइँ नीरा ॥
जिह तन आग बिरह झकझोरइ । तहवाँ सीत कि जहवाँ जोरइ ॥

तिल जस पृथिमी जान, जार कइ करउ बिसंभार ।
पाछइ तउँ पछताइ, झूठा यह संसार ॥
जोबन आएउ बार, साधन सात न कर सकइ ।
उतर गए तै पार, सर दीन्हेउ बहुरे नहीं ॥

(२२)

फागुन मदन न मानइ कहा । उछरह बिरह पवन तन दहा ॥
बिरह आग तन तिल न बुझाइ । काहेक पाप सुनावसि धाइ ॥
कुमकुम केसर खेलसइ बारा । चहुँ दिस देखइ सभ रतनारा ॥
नाचइ बिरह पवन कह माना । बनसपती भउ खाँकर बाना ॥

रुत खेलिय पियहु बेलि, सियइ परम अंग न समाइ ।
तिनहूँ सखँझ न देख, रसिया देखहु मेराइ ॥
साधन चढेउ बसंत, विरहिन विरह चउगुना ।
पर नारी लुबुधा कंत, सौयकु यह कैसे जिए ॥

(२३)

प्रेम बूति कपट ते खेलसि । नरकह कुंड जात सो मेलसि ॥
बिनु सुहाग कइस को (सो) ह अंगा । सेंदुर झूठ नाँह बितु संगा ॥
पोत नाद पखार । तिन्हहि रुचइ बिन पास पियारा

मोहि तो पियह बिन जग अँधियारा। मंइ का खेलहुँ परब धमारी ॥
कंत सुहागिन भूलइ बारा। मोहि लोरिक बिन जग अँधियारा ॥
कंत नेह चित्त चो (मो) मेटउ, अउर न (मन ?) मह माउ।
तोहि (तेहि) दिन करउँ बधावना, जब लोरिक घर आउ ॥
साधन चढ़ा बसन्त, विरहिन बिरहा चउगुना।
परनारी लुबधा कंत, जोवन ते मरना भला ॥

(२४)

चेत राउ रुत आइ तुलानी। रितु बंसत मधुकर मन मानी ॥
अगर कपूर फूलि बहु कामिनि। फूल सेज भरि डास......॥
रावहि पुरुस सेज चढ़ि नारी। मानइ पति संग परम धमारी ॥
चंचल मदन न मानइ कहा। सन्त (कन्त) बिरह नाग होइ डहा।
आनि देहुँ तोहि प्रेम पियारा। एक मास सुन बोल हमारा।
चैत बसन्त प्रेम रितु, मैना मानहु भोग।
पिरथमों जात न देखिए, कहा करत हैं लोग ॥
इवं जरियइ पिउ लागि, जैसे धुवाँ न देखियइ।
जरइ कया कइ आग, साधन सत सों देखियइ ॥

(२५)

जउ मानुस पिउ कारन जरई। दोहूँ जग मानहि निस तरई।
मरन जबई को सब का डहकावइ (?)। थिर रे जोबन को डहेंकावइ।
आगम कुंड न जाइ थहाई। बिसर ठाँउ वह सबइ नसाई।
लाग आँख रैन चलि जाई। भोर होत रबि किरन दिखाई।
तिल एक बूँद का डहक सरीरु। काजी बूँद बिनसइ जस रोयं (छी) रु।
जोबन रतन जारि कह, पवन उड़ावइ छार।
यहु सिरु देहउँ लोरकहि, अउर न देखइ पार ॥
सो जानिइ जोहि पीर, घाव न देखियइ।
कोमल बरन सरीर, साधन सत सौं लेखियइ ॥

(२६)

मैंना अब आवा बैसाखा। मदन भुवंगम ताकइ पासा
त्यों त्यों लहरि रंग बहरावइ। पिउ गारुड़ बिन कवन जिवावइ
अइसँ जनम गँवावे बारी। ए कामिनि सुन बोल हमारी।
रस कइ रहइ देवस दुइ चारी। तें काहे अब होसि गँवारी
तन छीमै मन ऊभइ अलप बयस सुकुमार।
बिरह अगन मना बरइ जरजर होइइ छार

कया गई बिनु भोग, बैस गंवावइ हे सखी ।
घड़ी घड़ी निज सोग, साधन जनम गँवाइयइ ।।

(२७)

किरन आग कइ जेठ सेराई । जरि जरि धरती छार उड़ाई ।।
तबहुँ न तजउ लोरकर नाऊँ । बिरह जारि के छार उड़ावऊँ ।।
सिंघ अहेर कीन्ह जो धाई । तोहि (ते) के चीत के सेर खाई ।।
अब यह बारह माँस तुलाने । दिन यक आहि लोर घर ..ने ।।
मोरे आइ दिन भोर तुलानी । अब हों सती लोर घर आनी ।।
तोर कहा मैं सेटेउ, सत्त राखु करतार ।
राखेउँ प्रीत लोरिक कइ, दोहूँ कुल उजियार ।।
पाप पुन्न दोउ भोग, सत्त कइ करनी आगरी ।
पापी न पावइ भोग, साधन सत कइ कीजियइ ।।

(२८)

जनम न चीत डोलावउ काऊ । मूए बारन्हि जाउ तो जाऊ ।।
मैनइ मालिन धरि झकझोरी । बहुत पत्त महँ राखेउ तोरी ।।
दूती दूत वचन सब तोर । सती सुन पावइ कइ कहुँ लोर ।।
आपु उतर तेसितन रारी (?) । नित ठावउं (?) आन देत है गारी ।।
लोग पंच कह होति न कानी । सर सों आजु उतर तेहुँ पानी ।।
रितु अनरितु रस अनरस, मोहे कछु न भाउ ।
तोहे करउ बधाउ, जब लोरिक घर आउ ।।
जो जस करइ सो पावइ, अनबन भाँति सवारियइ ।
साधन पियहु कइ बार, साँचि होइ सर दीजियइ ।।

(२९)

मैना मालिन नियर बोलाई । धरि झोंटा कुटनी नेहुराई ।।
मुंड मुंडाइ कह सेंदुर दीन्हा । कार पियर दुइ टीका दीन्हा ।।
गदहा आनि कइ धाइ चढ़ाई । हाट-बाट सब नगर फिराई ।।
जो जस करइ सो पावइ तइस । कुटनी लोग पुकारइ अइस ।।
लाइ पाइ कइ काटे कान । कोदो बोइ लोनिहउ धान ।।
सत मैनां को थिर रहा, साधन राख करतार ।।
कुटनी मारि निकारी, कीन्ह गंगा कइ पार ।।
पाप पुन्न दुइ बीज जस बोइय तस ऊमबइ
साधन जइसा कीअ तइस फल आगे लहइ

संदर्भ संकेत

(१) हिन्दी विद्यापीठ ग्रन्थ वीथिका, पृष्ठ १०७ (१९५६ ई०), आगरा के आधार पर (२) लोरकहा और मैनासत, भारतीय साहित्य ४, २ (१९५९) (३) हिन्दी विद्यापीठ ग्रन्थवीथिका पृ० १०७ (१९५६ ई०) (४) वही, पृ० ११८ (५) साधनकृत मैनासत (सं० हरिहरनिवास द्विवेदी), विद्यामंदिर प्रकाशन, ग्वालियर, १९५९ ई० (६) वही, पृ० १४ के आधार पर (७) वही पृ० १३-१४ (८) हिंदी विद्यापीठ ग्रंथवीथिका, पृ० १०६, (९) वही (१०) वही, पृ० १०८ पर उल्लिखित (११) साधनकृत मैनासत, पृ० ८८ (१२) चंदायन अज़ मुल्ला दाऊद और मैनासत अज़ मियाँ साधन, मअ़ासर १६, पृ० ८४-८५, (१९६०) पटना (१३) वही, पृ० ८५ (१८) द्रष्टव्य—लोरकहा और मैनासत, भारतीय साहित्य, वर्ष ४, अंक २, १९५९ ई०, आगरा।

●

दो

●

सनेहलीला : परिचय एवं पाठ

●

श्रीमन्नारायण द्विवेदी

'सनेह लीला' ब्रजभाषा में रचित लघु कृष्णकाव्य है जिसमें मूलतः भ्रमरगीत प्रसंग का ही वर्णन है। ग्रन्थ की कतिपय हस्तलिखित प्रतियाँ शोधभाण्डारों एवं व्यक्तिगत संग्रहालयों में संरक्षित हैं। कतिपय दृष्टियों से इस रचना की उपादेयता का मूल्यांकन अपेक्षित है। डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने अपने शोध प्रबन्ध 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' में इस रचना पर अपने विचार प्रकट किये हैं। सूर पूर्व ब्रजभाषा के कवि विष्णुदास की रचनाओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—"प्राचीन ब्रजभाषा के सबसे प्रसिद्ध कवि विष्णुदास थे जिन्होंने १४९२ संवत् यानी १४३५ ई० में 'स्वर्गारोहण' की रचना की। इनकी लिखी हुई रचनाओं में रुक्मिणी मंगल, 'महाभारत' तथा 'सनेहलीला' अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं सनेह लीला हिन्दी का सबसे प्राचीन भ्रमरगीत का काव्य है' सूर पूर्व

और उसका साहित्य, पृ० ८) डॉ० सियाराम तिवारी ने 'बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्' की शोध पत्रिका में प्रकाशित अपने 'सनेहलीला' संबंधी लेख में इस कृति को सूर के अनन्तर का माना है। विष्णुदास की समग्र कृतियाँ अब तक अप्रकाशित ही हैं। जहाँ तक 'सनेहलीला' का प्रश्न है, निश्चित रूप से विष्णुदास को ही उसका रचयिता मानने में कठिनाई उत्पन्न होती है। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज-रिपोर्ट से विदित 'सनेहलीला' के विवरणों से उसके रचयिता रूप में विष्णुदास, जनमोहन, रसिकराइ का नामोल्लेख हुआ है (ना० प्र० स० खोज रिपोर्ट १९२६-२८)। स्वतः डॉ० शिवप्रसाद सिंह भी निश्चित रूप से यह कहने में असमर्थ से लगते हैं कि इस रचना के प्रणेता विष्णुदास ही हैं। उन्होंने लिखा है कि "यदि विष्णुदास की 'सनेहलीला' प्रामाणिक कृति मानी जाये तो लीला-काव्य का आरम्भ अष्टछापी कवियों से बहुत पहले का सिद्ध होता है। 'सनेहलीला' में केवल कवि का नाम विष्णुदास दिया गया है। प्रति उनकी रचनाओं के प्रतियों के साथ ही मिली है" (सूर पूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० ३३२)। डॉ० सिंह ने नागरी प्रचारिणी खोज-रिपोर्ट के आधार पर रचना के अन्तिम कुछ छन्द भी उद्धृत किये हैं (वही पृ० १५१-१५२) तथा रचनाओं में रचनाकाल तथा लिपिकाल के अभाव का उल्लेख भी किया है।

'हिन्दी में भ्रमरगीत और उसकी परम्परा' नामक अपने शोध-ग्रंथ मे डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव ने इस ग्रन्थ का रचयिता हरिराय जी को माना है और 'सनेहलीला' पर कथानक की दृष्टि से सूरसागर से अधिक प्रभाव भागवत का माना है। लेखिका ने निष्कर्ष रूप मे रचना के कलात्मक महत्व को गौण माना है और उसे साधारण कोटि की सीमा में परिगणित किया है, जो चिन्त्य है। डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने भ्रमरगीत-परम्परा की दृष्टि से इस रचना का महत्व निरूपित किया है। परम्परा, भाषा तथा प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से यह लघु कृति सूर-साहित्य के अध्येताओं के लिए विशिष्ट महत्व की है।

भ्रमरगीत की विस्तृत परम्परा में इस रचना का महत्व अत्यधिक है। व्यक्तिगत संग्रहालयों एवं शोध-भाण्डारों से उपलब्ध प्रतियों के आधार पर इसका सम्यक् पाठ प्रकाशित करना अपेक्षित है जिससे कृष्ण-काव्य के अध्येताओं को सहायता मिल सके। सम्प्रति दतिया के डॉ० शिवकरण शर्मा द्वारा खोजी गई प्रति के आधार पर इस रचना का समग्र पाठ प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे कृष्ण-काव्य के अध्येता इसका पूर्ण रूप से उपयोग करने में समर्थ हो सकें। इस प्रति का लिपिकाल सं० १८३४ उल्लिखित है और लेखक रूप में जनमोहन अथवा श्री रसिक राय के नाम की सम्भावना व्यक्त होती है।

श्रीगणेशायनमः

अथ सनेहलीला लिष्यते।

एक समै ब्रजवास की, सुरति करी हरिराइ।
निज जनु अपनौ जानिकै, ऊधौ लये बुलाइ॥ १॥

श्रीकृष्णवाच—

कृष्न वचन ऐसे कहैं, ऊधौ तुम सुनि लेउ।
नंद जसोधा आदि वै या ब्रज मे सुष देउ २

ब्रजवासी वल्लभ सदा मेरे जीवन प्रान।
उनिकौं निमष न बीसरौं, मोहि नंदराउ की आंन ॥ ३ ॥

हम उनिसौं अैसे कहैं, आवैगें रिपु जीति।
अवलोरैं कैसे बनें, पिता मातु सो प्रीति ॥ ४ ॥

ऊधौ वे ब्रज जोषिता, जिनके मेरी ध्यानु।
जिनहि जाइ उपदेसियौ, पूरन ब्रह्म सुग्यान ॥ ५ ॥

वागौ अपनै अंक कौ, कोट मुकट पहिराइ।
श्री कुंडिलमाला दई, अपनौ भेष बनाइ ॥ ६ ॥

अरु अपनौ रथ साजि कै, सुरथ स्वारथी दीन।
ऊधौ चरन प्रनामु कौ, परशु आरोधनु कीन ॥ ७ ॥

विद्यावंत विवेकवान, सीलवंत मन सुद्ध।
चक्रयोन जानत सबै, जो पठये श्री उद्ध ॥ ८ ॥

परम सखा श्रीकृष्ण कौ, सुरगन सिष्य प्रवीन।
तातै लाईक जानिकै, ब्रज में आइसु दीन ॥ ९ ॥

रथु जोति ऊधौ चले, आनँद अति मन भाउ।
दिनकर ग्रह प्रापति भये, गये नंद के गाउ ॥१०॥

दिसिदिसि गौधन आवही, अरु व्रषभान की गाज।
वद्द बचन लागत भले, मनहु थांन सुरराज ॥११॥

अपनी अपनी मंडिली, मिलि ग्वालिन के वृंद।
मुरली मधुर बजावही, गावै गुन गोविंद ॥१२॥

गोदोहनि मोहनि त्रिया, टेरत लै लै नाम।
गोरज उड़ि अंबर लगी, छबि पावत ना दाम ॥१३॥

तब ऊधौ रथु हाकि कैं, गये नंद की पौरि।
नंद जसोदा देषि के, सनमुष आए दौरि ॥१४॥

ऊधौ रथ तै उतरि के, मिले नंद कौ धाइ।
नैन सजल जल सौ भरे, आनँद उर न समाइ ॥१५॥

कर गहि ग्रह कौ लै चले, सुतं सनेह के भाइ।
आसन विधि सौ लै किये, निज मंदिर पधराइ ॥१६॥

अरचन बंदन पद्दुम जल, धूप दीप करि आदि।
विधि पूरब पूजा करी, सुष सिज्या अनुवाद ॥१७॥

नंद जसोधा प्रीति सौं बूझन लागे बात।
सूरसन के पुत्र कौ कहौ परम कुसलात ।१८

उनिके बद् बालक हुते, बंदि मेलिवे काज ।
बहुतक दिन दुखित भये, दुष्ट कंस के राज ॥१६॥

भली भई चानूर जू, श्रीकृष्ण की पौहति कंस ।
ता दिन ते सुष पावहो, मातु पिता जदुवंस ॥२०॥

जिनके अष्टादस त्रिया, राम कृष्न सुत दोइ ।
सरवस ता वसदेव को, कहैं कौन ते होइ ॥२१॥

देवन को मंगल भयौ, श्री वासुदेव जनमंत ।
घर घर प्रति सुरनरन कै, दुःद्यवो बजे अनंत ॥२२॥

पटरानी देवकि सुता, करती परम कृपाल ।
ताकी महिमा को कहै, पचिहारे कवि जाल ॥२३॥

ऊधव तातें कीजिये, उनिको सुमिरनु ध्यानु ।
अबधौवैं कवि आई है, आनंदरूपनिधान ॥२४॥

सुफल सुत आये यहाँ, राम कृष्ण लै जान ।
तबतै तनगति ह्यौ भई, इहा देह उह प्रान ॥२५॥

जसुधा नैन सजल कियौ, कंठ सास नहि लेत ।
करि करि बातैं पुत्र की, हियरा भरि भरि देत ॥२६॥

निमष निमष मै अगरतै, वे मो सौ दोऊ भ्रात ।
अबधौ कहि कब देषि हौ, चोर चोर दधि खात ॥२७॥

मौतिन की माला गरे, राजहंस गति दौरि ।
वे अंगना कब देषिहौ, राम कृस्न को जोरि ॥२८॥

पीतांबर की ओढ़नी, बोलत मधुरे बैन ।
से नैनिन कवि देषिहौ, बन-बन चारत धैन ॥२६॥

वे लौ भूषै होत है, प्रातकाल को बानि ।
उहाँ कहो को राषही, घृत सौ रोटी सानि ॥३०॥

बात सुनौ इक देस की, तुम सौ कहौ बनाई ।
हियरा मै करि आलसौ, चितै चितै वे जाई ॥३१॥

ऊधौ पैय उ फुनि चलौ, मै दौरी तजि अंग ।
पीछे तै मेरे लला, दधि कौ भाजन भंग ॥३२॥

मै देषत ही रिस भरी, थोरे दधि कै काज ।
ऊषल सौं आनंदघनै, मै बाँधोगे दाज ॥३३॥

ता दिन तै षटकत सदा ये मेरे अविवेक ।
ऐसी कहै को समर्वे, सुत सौ औगुन एक ॥३४॥

ऊधववाच

तब ऊधौ ग्रैसी कहै, सुत कौ सुनौ सदेस ।
तुम कौ नाहि न बीसरैं, या ब्रज कौ ग्रावेस ॥३५॥

तुमहि पाइ लागन कह्यौ, जल सौं नैन भराइ ।
मैया मोहि न बीसरैं, जिनि बड़ौ कीयौ पय प्याइ ॥३६॥

जा दिन तैं ग्राये इहाँ, छाड़ौ गोकुल ग्राम ।
इहाँ हम सौ कोउ ना कहै, कोन्ह कान्हं बलिराम ॥३७॥

जब हम तुम तै बीछुरैं, ग्राये मथुरा माँझ ।
मै कबहूँ नाहिन पीयौ, दधि घृत प्रातन साँझ ॥३८॥

ऊधौ बाबा नंद सौं, ग्रैसौ कहियो जाइ ।
वे तुमनी कै राषियौ, धौरी घूमरि गाइ ॥३९॥

मन वच करम करिहै सबै, उनिके पूरन काम ।
ग्रावैंगे दिन पाँच मै, हम भैया बलराम ॥४०॥

राजपाट सिंहासन, षात पान सुष देत ।
या ब्रज सुष पावत भले, बन मै बटैं संकेत ॥४१॥

बात कहत बीली निसा, तमचुर कीनौ गान ।
मानौ गाजत मेघ, घर घर दधि मथान ॥४२॥

ऊधौ उठि जमुना गये, कीनौ जल ग्रस्नान ।
सेवा सुमिरनु सब कियौ, जे तुक ग्रपनौ जान ॥४३॥

करि कृतु ग्राये घोष, ऊधौ मन ग्रानन्द ।
या ब्रज सुष पावत भये, ले पूरन परमानन्द ॥४४॥

ग्रपनै ग्रपनै धाम तै, बाहिर निकसी ग्वार ।
रथु देष्यौ श्रीकृष्ण कौ, नंद महरि के द्वार ॥४५॥

जूथ जूथ केती भई, कीनौ यहु विचार ।
यौ नेहीं सुतनंद कौ, है कोई प्रतिहार ॥४६॥

ऊधौ पै गोपी गई, कीनौ वंदन पान ।
सीस नवाई ग्रादर कीयौ, सषा कृष्न कौ जान ॥४७॥

ऊधौ ब्रज ग्राए भलै, कहौ कृष्न कुसलात ।
उहाँ जाई इनिको कियौ, कहौ कहु उत्तिम बात ॥४८॥

तुम साचे सज्जन सषा, मन वच करम सहेत ।
प्रानन कौ हरि लै गये मिठबान तम बेत । ४९॥

तनकारे मन साँवरे कपटी परम पुनीत ।
मधुकर लोभी बासु के, निम्ब एक के मीत ॥६६॥

तुम तौ स्वारथ के सगे, नहीं बेलिते भाउ ।
भावै वह गैहवर चढ़ौ, भावै जरि वरि जाउ ॥६७॥

तुम चरननि कौ जिन छिपौ, अैसो गति के वीर ।
मधुकर अंतर लालची, कह जानै पर पीर ॥६८॥

निकट रहत तिन स्याम के, ताते निपट निपीर ।
बिछुरौगे जब स्याम ;सौ, तब जानौगे वीर ॥६९॥

मधुकर बिछुरन की बिथा, तुम पर बीती नाहिं ।
बिछुरौगे हरि संगते, जानौगे मन माहिं ॥७०॥

हियरा भीतर दौं जरै, धुवा न परगट होइ ।
कै जिय जानै आपनौ, कै जहि पर बीती होइ ॥७१॥

मधुकर अपनैं चोर कौ, सब कोई डारैं मारि ।
मन कौ चोर हमको मिलै, सरबसु सु डारे वारि ॥७२॥

प्रेम बनजु की नौह तौ, नेह न पूजिय जानि ।
अब ऊधौ उलटी भई, प्रान पुजो मैं हान ॥७३॥

हम तुमसौं अैसे कहै, मधुकर सुनौ संदेस ।
नाहरि जातिन पात के, कह करत उपदेस ॥७४॥

कित बिधना सिरजी हमैं, कित दे लै ब्रजवास ।
कित मिलाप श्रीकृष्ण सौ, कित बिछुरन को त्रास ॥७५॥

नैन हमारे मधुकरा, आनन कृष्ण सरोज ।
ब्रज छाड़ी लाग्यौ सतै, बैरी भयो मनोज ॥७६॥

मनमोहन जौ नामुहै, मोहन नैन विसाल ।
रौम रौम मोहन सबै, मो मन मै है साल ॥७७॥

मोहन रूप सब अंग है, मोहन सब उनहार ।
मोहन पीठ कछु मोहनी, मोही सब ब्रजनारि ॥७८॥

वचन वचन मोही त्रीया, हम तुम कितियक बात ।
सुरन सहित सुर जोषिता, थको धाम नहि जात ॥७९॥

एक समै निस सरद की, मोहन बेन बजाई ।
नैन सैन दै ब्रजबधू, लीनी सबैं बुलाई ॥८०॥

अरस परस हमकौ मिलै, कुंजनि कियो विहार ।
सो सुख नाहिन बीसरै, सुमिरत बारंबार ८१

एक समै जल के विषै, करत केल अस्नान।
चोर चोर तरवर चढ़े, वे जसुधा के प्रान ॥८२॥

बहुरौ नाहिन बीसरें, भुजबल की उनहार।
राखि लियौ ब्रजकुल सबै, कर पर गिरवर धारि ॥८३॥

बहुरौ वन वन के विषै, कुंज कुंज निज धाम।
हरि हमसौ क्रीड़ा करी, पल पल पूरन काम ॥८४॥

एक दिवस इक गोपिका, गई जु ग्रह के द्वार।
दधिचोरत हरि के हरी, चले जु वा परमार ॥८५॥

हेरी वे ठाढे भये, भ्रम्ये सकरी पोरि।
मटुकी पटकी भूम सौ, हँसे हार कौं तोरि ॥८६॥

ऐसी दिन दिन की कथा, बरनत नाही ओर।
हरि हमरी जानत सबै, मोहन चित के चोर ॥८७॥

लीला गोकुल गांम की, है हमरे मन माह।
ऊधौ तुम सरबस सुनी, नैननि देषी नांह ॥८८॥

जो तुम ल्याये जोग कौ, जदुपति के परधान।
या रस की सीची सबै, अनरस भावन नान ॥८९॥

पतिबरता काहू रांक की, साषि भरत सब गांम।
जदपि भजै काहू भूपकौं, तो बिभचारिन नाम ॥९०॥

द्वीप रहति सागर विषै, मन मिलाप नहिं लेत।
मधुरकर यउ तिम मतौ स्वात बूंद सौं होत ॥९१॥

मानसरोवर तै उड़ै, आंने भूमि चलि जाई।
अिधिबाहन छुध्यारथी, काक रतन्नव न षाई ॥९२॥

जल थोरा नाहिन कहू, सागर नदीं निमांन।
स्वाति बूंद चात्रक पियै, अरु सब झूठ समान ॥९३॥

ऐ दोऊ नैन बिराट के, निगम कहत है नित्त।
वह चकोर अंतर कियौ, दिनकर आरसमित्त। ९४।

बेलि होत बरषा समै, करत बृक्ष सौ प्रीति।
प्रान गये छाड़े नहीं, अपनी उतिम रीति ॥९५॥

उद्धव हम नर देह है, वे इतनी जानत नाहि।
रस तजि भजियै जोग कौ, भंग होत मत माहि ॥९६॥

करि आपै जोवै करत ऊँच नीच सौ संग।
हम नाहिन कबहू कियौ, इष्ट भाव सौ भंग। ९७

जद्यपि कुबिजा चतुर है, तऊ कंस की दासि।
भवन गवन उनिकै कियौ, तुमसे सेवक पास ॥९८॥

लछिन के नाही दुरे, बड़े भूप के पूत।
कै वे सांचे रावरे, कै तुम सांचे दूत ॥९९॥

यही कठिन लागत हमैं, सुनौ स्याम के हेत।
आपु जाइ कुबिजा रचौ, हमै जोग सिष देत ॥१००॥

जा कछु लिख्यौ ललाट मैं, बिछुरन मिलन सजोग।
दोस न काहू दीजियै, यह जानत सब लोग ॥१०१॥

देह धरी जा कारनै, लगिहौ ताके काम।
मनघट हरि रस सौ भरयौ, नहीं जोग को ठाम ॥१०२॥

मोर मुकुट गुंजामनी, कुंडिल तिलक सुढार।
पीतांबर छुद्र घंटिका, उर बैजंतीमाल ॥१०३॥

कर लकुटी मुरली गहै, घूघरवारे केस।
वे हमरे नैननि बसै, स्याम मनोहर बेस ॥१०४॥

तब ऊधौ ऐसी कहे, धनि धनि ब्रज की नारि।
प्रेम भगति सरबस किये, स्याम भजे उर धारि ॥१०५॥

यह लीला ब्रजवास की, गोपभेष अवतार।
प्रकट भये श्रीकृष्ण जू, तुम सौ करन बिहार ॥१०६॥

निगम जाहि षोजत रहै, आगम लहै न अंतु।
सो तुम्हरे रस बस भयौ, श्रीपति श्री भगवंत ॥१०७॥

जोगेश्वर पावैं नहीं, सिद्धि समाधि लगाई।
सो तुम्हरैं बस रस भयै, वन बन चारत गाई ॥१०८॥

कहत कहत ऐसी कथा, लहरिह षटमास।
अब ऊधौ अग्या लई, हरि चरनन की आस ॥१०९॥

नंद मिले जसुधा मिली, गोपी मिली जु ग्वाल।
बंदन कर कर बाहुरे, ऊधौ चलै कृपाल ॥११०॥

नंद कह्यौ जसुधा कह्यौ, गोपिन कह्यौ बहोरि।
वे रजधानी रमि रहे, ब्रज कौ नातौ तोरि ॥१११॥

करिहै कब हम पर कृपा, निज करि सेवकु जानि।
हरि हम सौ जिनि बीछुरौ, पूरब लौ पहिचानि ॥११२॥

अब आये ऊधौ यहाँ, कृष्णचंद के धाम
सीस नाउ बंदन कियौ बोलत लै लै नाम ११३

ग्वालबाल सब गोपिका, ब्रज के जीव अनित्य।
तुमहिं पाइ लागन कह्यो, सुनौ देव ब्राह्मन्य ॥११४॥
नंद जसोधा हेत की, कहिये कहा बनाई।
वे जाने कै तुम भलै, हम पर कही न जाई ॥११५॥
अरु गोपिन के प्रेम को, महिमा कछू अनंत।
मै पूछी षटमास लौं, तऊ न पायौ अंत ॥११६॥
देह ग्रेह सब छाड़ि कै, करत रूप को ध्यानु।
उनकौ भजनु विचारियै, तौ सब फीको ग्यानु ॥११७॥
वे चित तैं टारत नहीं, स्याम राम इक जोर।
मधि नाइक मुरली गहै, मूरति मधुर किसोर ॥११८॥
उनके गुन नित गाइये, करि करि उत्तिम प्रीति।
हम कबहू दोषी नहीं, ब्रजवासिन की रीति ॥११९॥
तब हरि ऊधौ सौं कहै, वे जानत सब अंग।
मै कबहू छाड़ौ नहीं, ब्रजवासिन कौ संगु ॥१२०॥
ब्रज तजि अंत न जाइहौ, मेरी सौ यह टेक।
भूतल भार उतारिहौ, धरिहौं रूप अनेक ॥१२१॥
कृष्ण भक्तु सो जानिये, जाके अंतर प्रेम।
राषै अपनै इष्टकौ, गोपिन के सौ नेम ॥१२२॥
गोपी-हरि-उधौ कथा, भुव पर परम पुनीत।
तीन लोक चौदह भुवन, वंदनीक सब गीत ॥१२३॥
संत भक्त भूतल विषै, अरु सब ब्रज की नारि।
चरन सरन रहियै सदा, मिथ्या जोग बिचार ॥१२४॥
श्री मुकुंद मन मधुप जह, सकल संत अनुराग।
जसुधा प्रेम-प्रवाह मैं, परे रहत बड़ भाग ॥१२५॥
नासत सकल कलेस जग, अरु उपजत मनु मोद।
जुगल चरन मकरंद मन, पावत परम विनोद ॥१२६॥
यह लीला ब्रजवास की, गोपी कृषन सनेह।
जनमोहन जे गावही, ते फिर लहै न देह ॥१२७॥
जो गावै सीषै सुनो, मन वच कर सहेत।
श्री रसिक राइ पूरन कथा, मनवंछित फलुदेत ॥१२८॥

लीला संपूर्ण समापति वैसाखवदि ३ रचौ संवतु १८४० मम

गेन

साहित्यिक पाठ-संपादन और अर्थ-समस्या

किशोरीलाल

हिन्दुस्तानी भाग २६, अंक १-४ में प्रकाशित 'प्राचीन हिन्दी काव्य की अर्थ-समस्या' शीर्षक मेरे लेख के प्रतिवाद में श्री कन्हैया सिंह ने 'हिन्दुस्तानी' भाग २७ अंक १-२ में 'वैज्ञानिक पाठ-सम्पादन और अर्थ-समस्या' शीर्षक एक लेख प्रकाशित करवाया है। उस लेख में आद्योपान्त वैज्ञानिक पाठ-विधि की जमकर वकालत की गई है और स्थल-स्थल पर साहित्यिक-सम्पादन-प्रणाली से प्रस्तुत किए गये पाठ को मनगढ़ंत और निराधार बताया गया है। यही नहीं, साहित्यिक सम्पादन-विधि को निरंकुश सम्पादन-विधि की भी संज्ञा दी गई है। अतः इस संदर्भ में मैं पुनर्विचार करना आवश्यक समझता हूँ।

सम्प्रति प्राचीन हिन्दी-काव्य के पाठ-शोधन के प्रसंग में दो आचार्यों का नामोल्लेख होता है—एक आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र तथा दूसरे डॉ० माताप्रसाद गुप्त। दोनों आचार्यों की सम्पादन प्रणाली मूलतः भिन्न न होते हुए भी कुछ दृष्टियों से भिन्न अवश्य है अर्थात् आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र जहाँ प्राचीन पाठ के सम्पादन में मूल पाठ के संदिग्ध होने पर अथवा उसके अर्थ की संगतियाँ असिद्ध होने पर अपना सुझाव देने का समर्थन करते हैं, वहाँ वैज्ञानिक पाठ-शोध प्रणाली पर बल देने वाले डॉ० माताप्रसाद जी गुप्त इसे अवैज्ञानिक और आधुनिक पाठ-विज्ञान के सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल मानते हैं। मेरी दृष्टि में प्राप्त पाठ और प्रस्तावित पाठ का यदि ईमानदारी के साथ उल्लेख कर दिया जाता है तो यह साहित्यिक पाठ-सम्पादक का ऐसा अक्षम्य अपराध नहीं है कि उसे निरंकुश कहा जाये और उसके पाठ को मनगढ़न्त पाठ की संज्ञा दी जाय।

आज पाठ-विज्ञान के सिद्धान्तों को वहन करने वाले महानुभाव आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल और लाला भगवानदीन 'दीन' की सम्पादन-प्रणाली को निरर्थक समझते हैं और यह कहते हुए पाए जाते हैं कि उन आचार्यों ने सम्पादन के क्षेत्र में आशातीत विकृतियाँ उत्पन्न की हैं और उनकी सम्पादित कृतियाँ सर्वथा भ्रष्ट और वैज्ञानिक कसौटी पर परीक्षित होने पर महत्वहीन एवं नगण्य प्रमाणित हुई हैं। मेरा इस सम्बन्ध में नम्र निवेदन है कि उस युग में जब इतनी हस्तलिखित प्रतियाँ नहीं थीं और के ऐसे प्रचुर साधन भी सुलभ नहीं थे, तब क्या जायसी-ग्रन्थावली के के समय आचार्य पं० शुक्ल ने

महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित 'पद्मावत' के पाठ एवं अर्थ पर विवेक-पूर्वक विचार नहीं किया था और क्या उस समय सैकड़ों ऐसे पाठ और अर्थ की गम्भीरता का मर्म उद्घटित नहीं हुआ था ? वस्तुतः जिन्हें लाला भगवानदीन के अधिक निकट रहने का सौभाग्य प्राप्त है, वे भली भाँति जानते हैं कि लाला जी केशवदास के पाठ और अर्थ के औचित्य पर विचार करते समय अपनी मेधा का कितना उपयोग एवं विनियोग करते थे और किस प्रकार कभी-कभी एक-एक शब्द के अलोड़न, मन्थन एवं विवेचन में उनका वर्षों का समय लग जाता था। आज लाला जी की टीकाओं के आधार पर कितने जन प्राचीन काव्य के मनीषी बन बैठे हैं और कितने प्राचीन काव्य के क्षेत्र में गद्दीनशीन महन्त। उस युग में जब लाला जी की टीका प्रकाशित नहीं हुई थी, 'रामचन्द्रिका' के पढ़ाने में लोगों को क्या परेशानियाँ होती थी, इसकी साक्षी देने वाले हिन्दी के मान्य भाषाविद् डॉ० धीरेन्द्रवर्मा और डॉ० बाबूराम सक्सेना हैं, जिन्हें एम० ए० क्लास में 'रामचन्द्रिका' को पढ़ानी पड़ती थी। उन मनीषियों के लिए टीका करने में सहायक थे कुछ संस्कृत के कोश, लेकिन संस्कृत के इन कोशों से बुन्देलखंड और ब्रज-प्रदेश के ठेठ शब्दों की जानकारी नहीं हो पाती थी।

मैंने अपने पूर्वोल्लिखित लेख में हिन्दी के प्राचीन काव्य के क्षेत्र में व्याप्त भारी भ्रांतियों के निराकरण का यत्किंचित प्रयास किया था और उसी संदर्भ में पाठ-विज्ञान के अन्तर्गत उपेक्षित साहित्यिक सम्पादन-प्रणाली, जिसमें अर्थ का प्राधान्य होता है—पर सम्यक् रूपेण विचार किया था। श्री कन्हैया सिंह ने मेरे उक्त लेख के प्रतिवाद में उन्हीं तथ्यों को ग्रहण किया है जो पाठ-विज्ञान से विशेष सम्बद्ध हैं। यद्यपि उस लेख का प्रयोजन मात्र पाठ-विज्ञान की समीक्षा करना नहीं था।

अब श्री कन्हैया सिंह के उन आपत्तियों पर भी दृष्टिपात करना चाहिए, जिन्हें उन्होंने मेरे उक्त लेख के विरोध में प्रस्तुत किया है। एक स्थल पर वे आचार्य शुक्ल और 'दीन' जी आदि के सम्बन्ध में लिखते हैं—"इन सभी विद्वानों ने इच्छित अर्थ-प्राप्ति के लिए हस्तलेखों की उपेक्षा करके मनगढ़ंत पाठ स्थान-स्थान पर प्रस्तुत किया। जायसी-ग्रन्थावली में 'पद्मावत' के पाठ में शुक्ल जी ने बहुधा ऐसा किया।" इसके आगे श्री कन्हैया सिंह ने 'चिरहँटा' और 'छरहटा' आदि पुराने विवादास्पद शब्दों को दुहराया है और वैज्ञानिक सम्पादन में हस्तलिखित ग्रंथों के साक्ष्य और पाठ-चयन में निरंकुशता-परित्याग के महत्व को स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में विचारणीय यह है कि क्या आचार्य शुक्ल आदि विद्वानों द्वारा गृहीत पाठ कल्पित हैं अथवा प्राचीन हस्तलेखों में से ही अर्थानुसंगति की दृष्टि से वे ग्रहण किए गये हैं। यह हो सकता है कि उन आचार्यों ने जिन पाठों को स्वीकृत किया, वे बहुत परवर्ती हस्तलेखों के पाठ हों और उनकी प्रामाणिकता सर्वथा संदिग्ध हो। किन्तु वैज्ञानिक विधि से संपादित पाठ की विश्वसनीयता सर्वतोभावेन मान्य है और उस पर प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगाया जा सकता, ऐसी बात श्री कन्हैया सिंह जैसे पाठ-विज्ञानवेत्ता ही कह सकते हैं। फिर, पाठ-चयन की निरंकुशता के परित्याग की बात दुहराते समय उस तथ्य को प्रायः भुला दिया जाता है कि साहित्य में जड़-पद्धति को हमारे यहाँ उतना महत्त्व नहीं दिया गया। आज इसी से विज्ञान के चौखट में मढे गये पाठ प्राचीन-काव्य तथा रूढ़ियों की दृष्टि से अपना सब महत्त्व खो

बैठे हैं। और समस्या तब खड़ी होती है जब उच्च कक्षाओं में पढ़ानेवाले अध्यापक प्राध्यापक छात्रों द्वारा प्राचीन कवियों के सम्बन्ध में की गई जिज्ञासा का समुचित समाधान नहीं कर पाते और यदि कहीं बेढब और घिसा-पिटा शब्द मिल गया तो उसके अर्थ के लिए बगले झाँकने के अतिरिक्त और दूसरा चारा शेष नहीं रह जाता।

इसके पश्चात् आप लिखते हैं—"अब प्रश्न यह है कि 'मूलअर्थोपलब्धि' में साहित्यिक सरणि के सम्पादक लाला भगवानदीन की 'बिहारी-बोधिनी' अधिक समर्थ है या रत्नाकर जी का 'बिहारी रत्नाकर'।" मैं समझता हूँ कि श्री कन्हैया सिंह जी ने जिन रत्नाकर जी की भूरिशः श्लाघा की है, उनका भी काम 'बिहारी बोधिनी' के बिना चल नहीं सका और 'बिहारी-रत्नाकर' के भाष्य में उक्त ग्रन्थ की सहायता लेनी ही पड़ी। फिर, वैज्ञानिक प्रणाली से प्रस्तुत पाठ की दृष्टि से इस ग्रन्थ के महत्व को स्वीकार करते हुए भी कहीं-कहीं अर्थोपलब्धि की दृष्टि से इसकी महत्ता अपेक्षाकृत न्यून है। 'बिहारी रत्नाकर' के एक दोहे का अर्थ लीजिए—

पटु पाँखै, भखु काँकरै, सपर परेई संग।
सुखी, परेवा, पुहुमि मैं, एकै तुही बिहंग ॥ ६१६ ॥

(अर्थ)—"हे परेवा विहंग (पक्षी), पुहुमि (पृथ्वी) में एक तू ही सुखी है, [क्योंकि तेरा] पट (वस्त्र) [तो तेरा] पंख ही है [जो कि तेरे पास ही उपस्थित है, तेरा], भखु (भक्ष्य, भोजन का पदार्थ) कंकड़ ही है [जो कि सब ठौर प्राप्य है, और तेरी] सपर (पक्षयुत, सब स्थानों में तेरे साथ जाने की योग्यता रखनेवाली) परेई (कबूतरी) [तेरे] संग में है॥"[1]

यहाँ 'सपर' शब्द अर्थ की दृष्टि से सर्वथा असंगत प्रतीत होता है। वास्तव में 'सपर' यहाँ विशेषण रूप में प्रयुक्त न होकर क्रिया रूप में प्रयुक्त हुआ है और प्रसंगानुसार उसका अर्थ 'स्नान करना' है। बुन्देलखण्ड में आज भी स्नान करने के अर्थ में 'सपरना' बोला जाता है। फिर, बिहारी तो बुन्देलखण्ड के ही रहने वाले थे। उनकी सतसई में न जाने कितने बुन्देलखंडी प्रयोग हुए हैं। इसी प्रकार मेरी दृढ़ धारणा है कि वैज्ञानिक विधि से सर्वथा उत्कृष्ट और मूल के निकट का पाठ प्रस्तुत कर देने पर भी अर्थविषयक किया गया प्रयास सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। ऊधर डॉ० माताप्रसाद जी गुप्त ने 'मधुमालती' नामक सूफ़ी प्रेमाख्यान काव्य का वैज्ञानिक पाठ-संपादन की दृष्टि से एक अच्छा संस्करण प्रस्तुत किया है, लेकिन फिर भी कई स्थलों पर उसके वैज्ञानिक अर्थ पर मुझे अब भी सन्देह है। 'मधुमालती' में प्रस्तुत एक सुहावना अर्थ का नमूना लें—

पावस गा दुहुँ भोग बेरासा। रात कुँवार सोहिल परगासा॥

अर्थ—"दोनों (राजकुमारों) को पावस भोग-विलास में गया, तदनन्तर रक्त (रंगीले) क्वार [मास] में सुहावना प्रकाश हुआ।"[2]

अब इसका शुद्ध अर्थ लें—दोनों राजकुमारों के लिए पावस ऋतु भोग-विलास में बीत गई। उसके पश्चात् क्वार मास की रात (शरदकालीन रात्रि) में अगस्त्य तारा प्रकाशित

(उदित) हुआ। यहाँ डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा प्रस्तुत 'क्वार' और 'सोहिल' का अर्थ स्पष्ट ही गलत है। 'सोहिल' वस्तुतः फ़ारसी भाषा का शब्द है और इसका उल्लेख 'पारसी-प्रकाश' में भी हुआ है।[3] पुनः शरद के प्रसंग में गोस्वामी तुलसीदास का भी यह कथन—"उदित अगस्त पंथ जल सोखा। जिमि लोभहि सोखहि संतोखा' सर्वथा मान्य है। 'सोहिल' का प्रयोग 'पद्मावत' में भी कई जगह हुआ है।[4]

प्राचीन काव्यों के अनुशीलन में केवल मोनियर विलियम्स कृत संस्कृत-अंग्रेजी कोश और 'प्राकृतशब्दमहार्णव' ही सर्वत्र सहायक नहीं हो सकते। इसके लिए प्राचीन हिन्दी के कोश जिनमें ठेठ शब्दों की प्रचुरता हो और फ़ारसी और अरबी आदि भाषाओं के कोश बड़े उपयोगी प्रमाणित हुए हैं। ठेठ शब्दावली के लिए 'फैलन कोश' की उपादेयता आज भी है। 'मधुमालती वार्ता' नामक रचना में प्राप्त एक अर्धाली के 'गोसे' शब्द का अर्थ मान्यवर डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'प्राकृतशब्दमहार्णव' के अनुसार 'प्रभात' किया है[5] लेकिन यहाँ यह अर्थ द्योतित नहीं हो पाता। यहाँ 'गोसा' फ़ारसी के 'एकान्त स्थान' वाले अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अब 'मधुमालती वार्ता' में प्रयुक्त अर्धाली का वह शब्द देखें—

गोसैं बैसि बसीठ पठायो। कहियो मेघबरन मिलिबे कुं आयो। ९७।

इसका अर्थ यों होगा—'एकान्त स्थान में बैठकर दूत को भेजा और [कहा कि] कह देना मेघबरन मिलने के लिए आया है।'[6]

इससे पूर्णतया स्पष्ट है कि प्राचीन हिन्दी-काव्य में प्रकृत अभिनिवेश के लिए बहुमुखी प्रतिभा और व्यापक ज्ञान की अपेक्षा होती है, केवल पोस्टगेट और डॉ० एस० एम० कत्रे जैसे पाठवैज्ञानिकों द्वारा निर्धारित पाठ-विज्ञान के सिद्धान्तों की बैसाखी से वह व्यक्ति कितनी दूर चल सकता है, जिसकी स्वप्रतिभा और बुद्धि प्राचीन काव्य के मर्म समझने में पूर्णतया विकलाङ्ग है।

हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों के संपादन में आज सुकंठकर आदि महानुभावों के अनुभवों का ही सर्वत्र उपयोग, प्रयोग और विनियोग हो रहा है जिन्हें हिन्दी-काव्य की संपादन-विधि का बिलकुल अनुभव नहीं है। वस्तुतः हिन्दी की कुछ समस्याएँ संस्कृत से सर्वथा भिन्न है; यथा हिन्दी की सबसे बड़ी समस्या है उसके मात्रिक छंदों के सम्बन्ध में। मैं इस प्रसंग में आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र के उन विचारों की उपेक्षा नहीं कर सकता, जिनमें संस्कृत और हिन्दी की संपादन विधि का स्पष्टतः पार्थक्य घोषित किया गया है।[7]

वैज्ञानिक विधि के सम्पादनों से अर्थोपलब्धि में कितनी सहायता मिलती है, इसकी चर्चा करते हुए श्री कन्हैया सिंह लिखते हैं—"पद्मावत के श्रेष्ठ भाष्यकार डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने जब 'पद्मावत' की अर्थोपलब्धि का प्रयत्न किया तो उन्होंने पूर्ववर्ती सभी संपादनों को देखकर उसके वैज्ञानिक सम्पादन के सम्बन्ध में यह मत व्यक्त किया कि "जायसी के काव्य और अर्थों का इस प्रकार विचार करते हुए मेरा यह सौभाग्य था कि मेरे कार्यारम्भ करने के एक वर्ष पूर्व सन् १९५२ में श्री गुप्त ने पद्मावत' के मूलपाठ का एक संशोधित

संस्करण हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित कराया था। मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता है कि गुप्त जी ने इस संस्करण के तैयार करने में बहुत ही परिश्रम किया है।"

वस्तुतः डॉ० वासुदेवशरण जी अग्रवाल का उक्त मत है श्लाघनीय, किन्तु प्रश्न यह खड़ा होता है कि क्या वैज्ञानिक विधि से संपादित डॉ० गुप्त का उक्त संस्करण अर्थ की दृष्टि से सर्वथा निर्भ्रान्त है। मेरे विचार से यदि वह निर्भ्रान्त ही होता तो डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल और स्वयं डॉ० माताप्रसाद गुप्त अर्थ न लगने पर अन्य पाठों को स्वीकार न करते। कन्हैया सिंह की दृष्टि में पाठों का पुनर्विचार भी अपने आप में एक वैज्ञानिक प्रणाली है। जब इतना वे स्वीकार करते हैं तो पाठ-विज्ञान की दृढ़ मान्यताओं और उसकी लीक छोड़कर आगे बढ़ने में उन्हें क्यों आपत्ति होती है, यह बहुत अस्पष्ट है। वैसे साहित्यिक पाठ-संपादन में अच्छे पाठों के प्राप्त होने पर पुराने पाठों की दृढ़ता पर जमे रहने का कोई आग्रह नहीं रहा। इसके लिए पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र द्वारा संपादित 'पद्माकर पंचामृत' और हाल ही में प्रकाशित उनका 'पद्माकर ग्रंथावली' के पाठों को तुलनात्मक रूप से देखें। देखने पर स्थिति अधिक स्पष्ट हो सकती है। उन्होंने पद्माकर विषयक अधिक हस्तलेख मिलने पर 'पद्माकर पंचामृत' के बहुत से पाठों को परिवर्तित कर दिया और तदनुसार टिप्पणियों में भी आवश्यकीय परिवर्तन कर दिया गया। यों किसी भी ग्रंथ के वैज्ञानिक संपादन का कार्य अधिक हस्तलेखों के प्राप्त होने पर ही निरापद सम्पन्न हो पाता है, किन्तु स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। प्रायः हस्तलेख प्रथम तो उपलब्ध नहीं हो पाते, यदि प्राप्त हो भी गए तो कवि का स्वहस्तलेख तो नहीं ही मिल पाता। ऐसी स्थिति में पाठ-विज्ञान का जादू सफलतापूर्वक चल नहीं पाता और यदि अनुमान तथा विशेष प्रतिभा और स्वविवेक का संबल न रहा तो ऐसे पाठ आपको कहाँ पहुँचा देंगे, उसकी कल्पना आप नहीं कर सकते; क्योंकि कभी-कभी तो प्रायः एक-दो ही प्रतियाँ प्राप्त हो पाती हैं। ऐसे समय में गणितीय पद्धति पर मर मिटनेवाले महानुभाव तथा 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' का स्वर अलापनेवाले बन्धु पाठ की कैसी दुर्दशा कर बैठते हैं, उसे देखना हो तो इधर वैज्ञानिक विधि से संपादित कुछ ग्रंथों के पृष्ठों को खोल लें, वहाँ वास्तविकता स्वतः प्रकट हो जायगी। मात्र दो प्रतियों के आधार पर डॉ० श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित 'हम्मीर रासो' का एक नमूना लें :—

> घन गौर सदाइन देखतयं।
> ध्वज बैरख मंडल सूरतयं॥[८]

डॉ० श्यामसुन्दर दास को 'घन गौर' की जगह एक अन्य प्रति में 'घनघोर' पाठ मिला था, जिसे उन्होंने अस्वीकृत कर दिया। अब विचारणीय यह है कि क्या इन पाठों का अर्थ-संगति की दृष्टि से कोई महत्त्व है? मेरी दृष्टि में दोनों ही पाठ निरर्थक हैं और इनसे अर्थ-संगति में किसी भी प्रकार की सहायता नहीं मिलती। मेरा दृढ़ अनुमान है कि इस छन्द का पाठ यों होना चाहिए :—

> **घन गौरसदाइन देखतयं।**
> **ध्वज बैरख मंडल सूरतयं॥**

अब इस दृष्टि से इसका अर्थ प्रायः स्पष्ट हो जाता है। इसका अर्थ होगा—'युद्ध मे रंग-बिरंगे ध्वजा और बैरख (झंडे) इस प्रकार लहरा रहे हैं मानो बादल में इन्द्र-धनुष दिखलाई पड़ता हो।' वास्तव में युद्ध की सेना आदि में पावस का आरोप प्राचीन हिन्दी-काव्य में बहुत हुआ है। 'गोरमदाइन' खास बुन्देलखण्ड का शब्द है जिसका अर्थ वहाँ इन्द्र-धनुष के अर्थ में ग्रहण होता है। केशव की 'रामचन्द्रिका' में यह शब्द कई स्थलों पर आया है। एक नमूना लें—'धनु है यह गोरमदाइन नाहीं। सरजाल बहै जलधार वृथा ही'[९] ।१६४।

मैं समझता हूँ कि श्री कन्हैया सिंह जैसे महानुभाव यहाँ इस प्रकार के अनुमान को केवल अनुमान ही मानेंगे और ऐसी अटकल-पच्चू प्रक्रिया उनके लिए अस्वीकार्य होगी। जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि विज्ञान में अनुमान का कभी विरोध नहीं रहा, विज्ञान का तो सारा प्रासाद अनुमान के ही सहारे खड़ा होता है, जरा सा अनुमान का स्तम्भ खींच लीजिए, विज्ञान का समस्त प्रासाद क्षण में धराशायी हो जाएगा। लाला भगवानदीन जी और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे मनीषी अनुमान के संबल पर ही पाठ की दुर्गमताओं के ध्वान्त-पूर्ण अरण्य में जैसा आलोक विकीर्ण कर गए हैं, वैसा आलोक अभी हिन्दी में कम देखने मे आया है। अब तो 'मानस' के ऐसे संपादक और मर्मज्ञों की भी कमी नहीं है जिन्होने तुलसीदास की प्रसिद्ध अर्धाली 'जर तुम्हारी यह सवति उखारी। रूँधहु करि उपाइ बर बारी' मे प्रयुक्त 'बारी' शब्द का अर्थ बाड़ी या बाटिका ही लगाया है। फिर भी वे प्राचीन संपादन को सगर्व निरर्थक और भ्रष्ट सिद्ध करने में अपनी प्रतिभा और बुद्धि की गाढ़ी कमाई लगा रहे है।

श्री कन्हैया सिंह का यह कथन भी विचारणीय है कि "यह कहना कि वैज्ञानिक पाठ-शोध में प्रधानता शब्द की होती है और साहित्यिक सम्पादन में अर्थ की, इन दोनो ही शैलियों के अज्ञान का द्योतक है। यह शब्द और अर्थ का जाल भी आचार्य विश्वनाथप्रसाद जी का भ्रमजाल है।" मुझे श्री कन्हैया सिंह जैसे पाठ-विज्ञान के हिमायतियों के ऐसे कथन पर पर्याप्त आश्चर्य है कि मिश्र आचार्य का यह वर्गीकरण अथवा पाठ-संपादन का यह विभाजन भ्रमजाल है। इसे मैं कोरा वग्जाल के अतिरिक्त और क्या कह सकता हूँ। जहाँ पाठ और अर्थ दो पृथक् स्थितियाँ स्वतः स्पष्ट है और इस पर भी इसे भ्रमजाल माना जाता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि पाठ-विज्ञान की कलई तो उस वक्त खुलती है जब अर्थ के निकर्ष पर उसकी उपादेयता सर्वथा निरर्थक प्रमाणित होती है और शुद्ध अर्थ-संगत पाठ देने के बजाय हस्तलेखों की प्रतिलिपि-परम्परा का होड़ाचक्र खींचा जाता है। अभी-अभी डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय का प्रकाशित 'देव-ग्रंथावली' का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ है। उसमें भी पाठ-विज्ञान की समस्त निपुणता प्रदर्शित की गई है और कहीं-कहीं विज्ञान की धुन में अर्थ पर ऐसा पानी फेरा गया है कि उसकी सीमा नहीं। तदर्थ मै एक उदाहरण दूँगा—

कालिह की साँझि उड्यो कर माँझ तें देव खर्‌यो तब ते उर साल्यो।
एक भली भई बाग तिहारेई श्री फल औ कदली चढ़ि हाल्यो।।
वंचक बिबनि चंचु घुमावत कुंज के पिंजर में गहि गाल्यो।
हौं सु कहूँ नहि राखि सकी सो कहूँ सुनि तेही परोसिनि पाल्यो २७।[१०]

इस छन्द में 'घाल्यो' की जगह 'गाल्यो' पाठ स्वीकार किया गया है और 'सुकहू' की जगह 'सु कहू' पाठ मान्य हुआ है। प्रश्न यह है कि क्या 'गाल्यो' से छन्द का अर्थ लग पाता है ? पाठ का यहाँ इतना व्यामोह बढ़ गया है कि अर्थ न लगने पर भी पाठ सहर्ष स्वीकार किया गया है। 'घाल्यो' का प्रयोग ब्रज और अवधी दोनो भाषाओं में 'डालने' के अर्थ में हुआ है, लेकिन यहाँ तो पाठ-विज्ञान की रक्षा का प्रयत्न है, फिर चाहे 'गाल्यो' रहे अथवा 'घाल्यो'। अब जरा चौथी पंक्ति देखें। उसमें 'सुकहूँ' अर्थात् शुक भी (तोता भी) स्पष्टतः नायक के लिए व्यंग्य रूप में प्रयुक्त है। पुनः पूरे प्रसंग-विधान पर ध्यान से देखने पर स्पष्टतः प्रतीत होता है कि अन्य संभोग दुःखिता नायिका के अन्तर्गत नायक का एक अविश्वासी तोता के रूप में अभिहित किया गया है। फिर भी 'सु कहूँ' पाठ किस अर्थ-व्यंजना का लावण्य प्रदर्शित कर रहा है, सर्वथा अज्ञात् है। मेरी दृढ़ धारणा है कि हस्तलेखों के अभाव में भी यदि कभी-कभी प्रसंग पर सम्यक् विचार किया जाय तो निरर्थक लगने वाले पाठ अपने वास्तविक रूप में प्रकट होते हैं और अर्थ की संगति बैठ जाने पर ऐसे पाठों के औचित्य पर सन्देह करने की गुंजाइश कम रहती है। उदाहरणार्थ, रघुनाथकृत 'काव्य कलाधर' की एक पंक्ति लें—

'तानिबे को निशिदिशि उरध को देख्यो ज्योंही।
त्यों ही फैल्यो आनन प्रकाश ऐसे अंक को।'[११]

रेखांकित शब्द से अर्थ स्पष्ट नहीं था, किन्तु छंद में वर्णित ज्यों ही वासक शय्या नायिका की स्थिति पर विचार किया गया, त्योंही स्पष्ट हो गया है कि 'तानिबे' की जगह 'जानिबे' होना चाहिए। इसी प्रकार ग्वाल कवि के एक छन्द में प्राप्त 'पेवगुन' का अर्थ सर्वथा अस्पष्ट था। बहुत विचार करने पर प्रतीत हुआ कि वस्तुतः यह पे (पै—दोष) व गुण अर्थ में प्रयुक्त हुआ हैं, छन्द की पंक्तियाँ हैं—

दाभ परे गोहर को पेवगुन खुलें जैसे,
तैसें काम परें नर जौहर खुलत है ॥२१॥[१२]

श्री कन्हैया सिंह ने मैग्नीफाइंग ग्लास की वकालत करते हुए लिखा है कि यह तो पाठालोचक के प्रयोगशाला में रिज़र्व रहनेवाला यंत्र है, यदि आचार्य मिश्र उसे न पाते तो उनका अर्थ संदिग्ध बना ही रहता। उसी सम्बन्ध में मुझे नम्रतापूर्वक यही निवेदन करना है कि पाठ-विज्ञान के शोधकर्त्ताओं ने जितने साधन जुटाए है, वे साधन ही रहेंगे, उन्हें साध्य की कोटि में कथमपि नहीं रखा जा सकता। फिर मिश्र जी के अर्थ में यदि यह यंत्र ही सहायक हुआ तो क्या कचहरी में पुराने दस्तावेज पढ़नेवाले ऐसे यंत्र के द्वारा पुराने हस्तलेख को पढ़कर हिन्दी के प्राचीन काव्य के मर्म समझने में सक्षम नहीं हो सकते हैं ?

अन्त में यही कहना है कि श्री कन्हैया सिंह जैसे विवेकी पुरुष 'सम्यक् अनुशीलन', विवेक और 'संयम की चर्चा करते हुए भी से कितना बच सके हैं, यह मैं नहीं कह सकता

संदर्भ-संकेत

(१) बिहारीरत्नाकर (टी० जगन्नाथदास 'रत्नाकर'), प्र० सं०, पृ० २५६ (२) मधुमालती (सं० डॉ० माताप्रसाद गुप्त), पृ० २६४

(३) बर्फे भवेत्तुषारे तु यत्तस्याद्धिमसंहतौ ।
कुतुबस्तु ध्रुवे प्रोक्तः सोहेलः कुंभसम्भवे ।। पारसी प्रकाश

(४) पद्मावत (टी० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल), द्वि० सं०, पृ० ६०० (५) प्राकृत-शब्दमहार्णव, पृ० ३०३, द्वि० सं० (६) मधुमालती वार्ता (सं०डॉ० माताप्रसाद गुप्त), भूमिका, पृ० १४ (७) रामचरितमानस (सं० आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र), काशिराज संस्करण, भूमिका भाग, पृ० २५ (८) हम्मीररासो (सं० डॉ० श्यामसुन्दर दास), पृ० १६५ (९) केशवग्रन्थावली, भूमिका, द्वि० खं (सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र), पृ० २७५ (१०) देवग्रंथावली, प्रथम भाग (सं० डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय), पृष्ठ २४२ (११) काव्य-कलाधर (रघुनाथ), पृ० ६६, छं० सं० ६ (१२) कविहृदय विनोद (ग्वाल), पृ० ६५, पाषाण यंत्रालय मथुरा से मुद्रित प्राचीन प्रति से ।

●

चार

●

बंगला में नारी-प्रवाद

●

श्रीनारायण पाण्डेय

भाषा के माध्यम से हमें संस्कृति की जो-जो विरासतें मिली हैं, प्रवाद उनमें से एक हैं । वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के अनुभव ही प्रवादों के आधार हैं । आदिकाल से चली आनेवाली मानव-चिन्ताधारा के साथ संपृक्त होने के कारण ये समाज के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं । अपने में लोक-मानस की सांस्कृतिक राशि को समेटे हुए ये प्रवाद, साहित्य, इतिहास, समाज-शास्त्र, नृविज्ञान, पुरातत्व आदि के अध्ययन के विषय बने हैं । इस विशाल पट पर फैले प्रवादों के विषय भी अनेक हैं । नारी सम्बन्धी प्रवादों का उनमें विशेष स्थान है । जिस प्रकार सामाजिक जीवन में नारी प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार प्रवादों में भी अपना स्थान बनाये हुए हैं । भारतीय समाज की भित्ति परिवार पर आधारित है और इस परिवार के केन्द्र में विराजमान है नारी । प्रवादों में इसी परिवार के बीच रहनेवाली नारी के विविध रूप हमें दिखाई पड़ते हैं

पारिवारिक सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए हम इन प्रवादों को निम्नलिखित रूपों में रख सकते हैं—

ऊपर के विभाजन में नारी को दो रूपों में रखा गया है। एक वह नारी जो परिवार के विभिन्न सम्बन्धों के बीच रहती है और दूसरी वह जो परिवार से बाहर रहती है, मगर उसकी भूमिका कम नहीं। परिवार के अन्दर रहने वाली नारी के भी दो रूप हैं। एक में वह पिता के घर है और दूसरी में अपने पति के घर। पिता के घर कन्या रूप में जन्म लेकर बहन, फूफी, मौसी, ननद आदि रूपों में सम्बोधित होती है। पति के परिवार में वह पत्नी रूप में प्रवेश करती है तथा पतोहू, देवरानी, जेठानी, भाभी, मामी, माता, काकी, सास आदि सम्बोधनों की अधिकारिणी होती है।

पत्नी रूपा नारी के भी भिन्न-भिन्न रूप हैं। कहीं वह रखेल है तो कहीं सौत। सास में भी सगी सास, सौतेली सास तथा अन्य सासों की भूमिका में नारी दिखाई पड़ती है। नारी के जो ऊपरी विभिन्न रूप दिखाई पड़ रहे हैं, कमोबेश सबकी सामाजिक स्थिति पर तरह-तरह के प्रवाद प्रचलित हैं।

लड़की या कन्या—हमारे समाज में कन्या को सम्मान नहीं मिलता। घर में लड़की का पैदा होना हर्ष की बात नहीं। जिस बहू को लड़की पैदा होती है तथा जिसको लड़का पैदा होता है, उसमें लड़कीवाली की अपेक्षा लड़केवाली का अधिक सम्मान होता है। पिता के घर कन्या रूप में जन्म लेनेवाली इस नारी के दो तरह के चित्रण प्रवादों में मिलते हैं। एक, जब तक वह कुमारी रहती है और दूसरा, जब कि विवाहित होने पर भी पति के घर न जा कर पिता के ही घर रहती है। पहली अवस्था में तो वह माँ-बाप के लिये एक सीमित समय तक आर्थिक भार बनकर रहती है मगर दूसरी अवस्था और भी नाजुक होती है। इसमें माँ बाप पर जो बीतती है वह तो दूर की बात है, लड़की का सारा जीवन आत्म-ग्लानि में ही

बीतता है। पूरे परिवार म लड़की को अगर किसी का स्नेह मिलता है तो वह माँ का। इन दोनो अवस्थाओं के कुछ प्रवाद नीचे दिये जा रहे हैं

पिता के घर रहनेवाली कन्या रूपा नारी—

बापेर बाड़ी झी नष्ट, पान्ता भाते घी नष्ट।

[बाप के घर रहने पर लड़की का सम्मान नष्ट होता है और पान्ता भात में घी डालने से घी नष्ट होता है।]

सोना नष्ट बेनेर बाड़ी, झी नष्ट बापेर बाड़ी।

[बनिये के घर सोना नष्ट होता है और बाप के घर लड़की नष्ट होती है।]

कथाय कथा बाड़े, जले बाड़े धान।
बापेर बाड़ी थाकले, मेयेर बाड़े अपमान॥

[बात से बात बढ़ती है, पानी से धान बढ़ता है और पिता के घर रहने से लड़की का अपमान बढ़ता है।]

देइजिर उठान झाँटे, सेओ भालो होय।
बापेर बाड़ी दास दासी, तबू भालो नय॥

[रिश्तेदार के आँगन में झाड़ू लगाना अच्छा है, मगर बाप के घर में अगर दास-दासियों की भी सेवा मिले, तो भी अच्छा नहीं।]

इन अनुभवों से इस बारे में माँ-बाप काफी सजग रहते हैं जिससे लड़की को बाप के घर में न रहना पड़े। इस अवस्था से बचने के लिये कोशिश करते हैं कि लड़की के लिये अच्छे वर, अच्छे परिवार की खोज कर सकें। किन्तु भाग्य-चक्र सब समय ऐसा होने नहीं देता। यह वेदना भी प्रवादों में व्यक्त हुई है।

अन्न देखे देबो घी, पात्र देखे देबो झी।

[अन्न देखकर उसमें घी डालूँगा और पात्र देखकर लड़की की शादी करूँगा।]

बर को देखकर लड़की देने की कोशिश की जाती है, किन्तु :—

अति बड़ घरनी ना पाय घर, अति बड़ सुन्दरी ना पाय बर।

[बहुत निपुण गृहिणी अच्छा घर नहीं पाती और बहुत सुन्दरी लड़की अच्छा बर नहीं पाती।]

अति चतुरेर भात नाइ, अति सुन्दरिर भतार नाइ।

[बहुत चालाक को खाना (भात) नहीं मिलता और बहुत सुन्दरी को अच्छा भतार (पति) नहीं मिलता।]

भात घर देखे बिने काठ घर होइ।

[ऐसे घर में देखकर शादी करना जहाँ भात (खाना) मिल सके मगर भाग्य-चक्र से वहाँ गरीबी का आगमन होना ।]

गौरी लो झी तोर कपाले बूड़ो बर, आमि कोरिबो कि ।

[हे कन्या गौरी (पार्वती), तुम्हारे भाग्य में बूढ़ा पति ही मिला है, तो मैं क्या करूँगी ।]

न चाहते हुए भी जब ऐसी घटनाएँ घटती ही हैं, तब सभी भाग्य के सामने आत्म-समर्पण करते हैं और कह उठते हैं कि—

संकल मेयेइ मेये, केऊ वा जाये पालकी चढ़े, केऊ वा थाके चेये ।

[सभी लड़कियाँ लड़कियाँ ही हैं, भाग्य-क्रम से कोई पालकी चढ़कर जाती है और कोई खड़ी देखती रहती है ।]

बहन—पिता के घर में नारी का एक अन्य रूप बहन का होता है । लोकगीतों में भाई-बहन के प्रेम की कहानी बहुत पाई जाती है । कभी-कभी भाई, बहू के चक्कर में पड़कर बहन का अहित करते भी देखा जाता है । ऐसी हालत में बहन, भाई पर विश्वास खोती भी दिखाई पड़ती है । शादी के पहले तक भाई और बहन के प्रेम का एक रूप होता है और शादी के बाद बहन की चिन्ता जब अपने पति के घर पर केन्द्रित होती है, तब और रूप होता है । इन तमाम अवस्थाओं के साक्षी प्रवाद हैं । भाई-बहन के प्रेम के प्रथम रूप से संबंधित प्रवाद देखें :—

सोसा खेये जेमुन जल के टाने, तेमाने भाइयेर बोन के टाने ।

[खीरा खाने पर जैसे पानी का खिंचाव होता है, उसी प्रकार भाई और बहन का आपसी खिंचाव होता ।]

गुड़ खेये जेमुन जलके टाने, तेमाने भाई बोन के टाने ।

[गुड़ खाने पर जैसे पानी की इच्छा बढ़ती है, उसी प्रकार भाई-बहन का खिंचाव होता है ।]

किन्तु जैसा कि हमने ऊपर कहा है, दोनों में भेद भी पैदा होता है । वह नीचे के प्रवाद से स्पष्ट है ।

भाई राजा त बोनेर कि ।

[भाई अगर राजा हो गया तो उससे बहन का क्या ?]

ननद—पिता के घर में रहनेवाली लड़की का एक सम्बोधन ननद भी है । ननद का सम्बन्ध पुरुष वर्ग से न होकर नारी से होता है और वह भाभी तथा छोटे भाई की बहू के आ जाने पर इस पद की अधिकारिणी होती है । अब तक जो लड़की अपने पिता के घर में अकेले स्नेह और अधिकार का उपयोग कर रही थी भाई की बहू के आ जाने से उसका सारा अस्तित्व खतरे में दिखाई पड़ने लगता है उधर आनेवाली बहू भी पति के घर में

.पना अधिकार पाना चाहती है। इस स्थिति में ननद तथा भाभी का संघर्ष अनिवार्य हो उठता है। 'लोक-साहित्य में ननद और भाभी' अलग से स्वतंत्र अध्ययन का विषय है। बहू, ननद पर तरह-तरह से फबतियाँ कसती है। कभी-कभी इस लपेट में सास को भी आ जाना पड़ता है। प्रवादों में इसकी तीखी अभिव्यक्ति हुई है।

जा बाउली आपना उलीं, ननद मागो पर।
श्वासुरी मागी गेले परे, होबो स्वतंतर॥

[दूसरे के घर जानेवाली ननद, तू जा, मगर जिस दिन सास मरेगी, उसी दिन स्वतंत्र होऊँगी।]

ननदिनी राय घाघिनी, दाँड़िये आछेन काल साँपिनी।

[ननद बाघिनी के समान है, उस पर काल साँपिन की तरह फुफकार रही है।]

ननदिनी राय बाघिनी, पाड़ाय कुच्छ पाड़ाय गाय।

[ननदिनी बाघिनी मुहल्ला-मुहल्ला गिला कर रही है।]

ननदिनी यदि मोरे, सुखेर बातास बोइबो गाये।

[ननद अगर मरे तो आराम का पंखा झलूँगी।]

आउस धानेर चीड़े आर ठाकुर झीर गाल।

[जैसे कुवारी का चीड़ा (चीउड़ा) खराब होता है, उसी तरह ननद की गाली होती है।]

काज कर्मे आमि नेइ को ठाकुर झी।
चेपे-चेपे भात बेड़ा, आमे बालेशपोयाती।

[हे ननद, मैं काम-धाम नहीं कर सकती, दबा दबाकर मत परसो, मैं रुग्ण हूँ।]

पतोहू—पतोहू लड़की का वह रूप है, जब वह पिता के घर से अपने ससुराल जाती है। वहाँ बहू रूप में उसका सम्मान होता है, मगर पिता के घर की सी स्वतन्त्रता अब नहीं रह जाती। इसलिये यहाँ पर सास और बहू का संघर्ष आरम्भ होता है। बहू सास पर और सास बहू पर व्यंग करती है।

सास का बहू पर आक्षेप—

अकाजे बउड़ी दड़, लाउ काटते खरतर।

[हमारी बहू काम बिगाड़ने और लौकी काटने में तेज है।]

बऊ न तो होरे
कान दिये छि धरेर समो भाज दिये छे छिके

[हमारी बहू हीरा है; कल ही पाट की साड़ी दी है और आज ही उसने फा
ला है ।]

काल एलो बोड़ी, आज भांगिलो हांड़ी ।

[बहू कल ही आई और आज ही हांड़ी (बर्तन) फोड़ डाला ।]

भिझिर ऊपरे भिझीपना, भांगा पीड़े अखपना ।

[मलकिन के ही ऊपर मलकिन गिरी, तथा टूटे पीढ़े पर अलपना का साहस ।]

एके बऊ नाचनी, ताथ खेमटा बाजनी ।

[एक तो बहू नचनिया, उस पर भी खेमटा जाने ।]

मेघे-मेघे बेला जाय, कने बऊ सात बार खाय ।

[बादलों में दिन कटा जा रहा है और नई बहू सात बार खाना खा रही है ।]

शुनले कथा छन्द,
हांड़ी भेंगे माछ पलालो, झोल रहिलो बन्द ।

[बात का ढंग देखा, बर्तन फोड़कर मछली भाग गई, मगर जूस (झोल) ज्यों का त्यों
बन्द ही रह गया । यानी बहू मछली खाकर बात बना रही है ।]

सास की निगाह में उसकी लड़की हमेशा अच्छी और बहू खराब हुआ करती है—

पद्म मुखी झी आमार परेर घरे जाय ।
खेंदानाकी बऊ एसे बाटाय पान खाय ।।

[हमारी पद्ममुखी लड़की दूसरे के घर गई और यह नकचपटी बहू हमारे घर आ
कर पनचोलिया भर-भर कर पान खा रही है ।]

इसके प्रतिक्रिया-स्वरूप सास हमेशा इस पक्ष में रहती है कि बहू खूबसूरत न हो ।
मगर इस युद्ध में बहू धनुषबाण रख नहीं देती, बल्कि तीखा सरसंधान करती है जिसकी चोट
से सास और ननद दोनों तिलमिला उठती है—

सासुड़ी मोरलो सकाले ।
खेवे देये बेला थाकले कांदिबो के काले ।

[किसी की सास सुबह मरी है तो पतोहू कहती है कि खाने-पीने पर अगर वक्त मिले
तो शाम को रोऊंगी ।]

एकसा घरे किन्नी होसी न कि मां ।
।मिजास के मिजाज नेह को भड के दुदा पा ।।

[किसी बहू की सास मरी तो किसी ने पूछा—"क्यों घर की मलकिन हुई तो !" पतोहू ने जबाब दिया—"साँस निकल जाने का कोई विश्वास नहीं, अभी दोनों पैर हिल रहे हैं।"]

प्रवादों में सौतिन का उल्लेख विशेष रूप से आता है। सौतिन को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है।

सौतिन
├── बहन सौतिन
└── सामान्य सौतिन
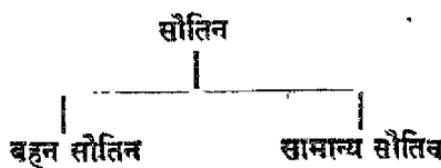
सौत का रूप बहुत दुखकर माना गया है। हिन्दी (अवधी) में भी कहावत है कि 'मुइउ सौत सतावइ, काठेउ का ननद बिरावइ' (मरी सौत भी सताती है और लकड़ी की ननद भी मुँह बिराती है।) इसमें भी अगर बहन सौत हुई तो फिर क्या पूछना, वह तो और सौतों से भी भयानक होती है। यहाँ दोनों के कुछ नमूने दिये जा रहे हैं। इस संदर्भ में एक बात और स्पष्ट कर देना जरूरी है कि बंगाल की रूप-कथाओं में दूयो और सूयो सौत की कहानी काफी प्रचलित है। अतः कहीं-कहीं सौत का सम्बोधन दूयो और सूयो शब्दों द्वारा हुआ है। सूयो सुख और दूयो दुख की प्रतीक है।

सूयोर नामें शोल आना दूयोर नामे नाइ।

[सूयो के नाम तो सोलहों आना, मगर दूयो के नाम पर कुछ नहीं।]

सूयोर सोनार दूधेर बाटी. दूयो भागेर उचला माटी ॥

[सूयो के भाग्य में सोने के कटोरे मे दूध और दूयो के भाग्य में गंदी मिट्टी।]

सूयो होलो राजरानी, दूयो हलो घूँटे कुड़ानी।

[सूयो राजरानी हुई और दूयो कंडा बिननी हुई।]

रँधे-बँधे मोरलो दूयो, हात नेड़े परसालि सूयो।

[खाना बनाते-बनाते तो दूयो मरी, मगर हाथ हिला-हिलाकर सूयो ने थाल परसा।]

एके छिलाम घरे माझेर माथार ठाकुर।
सतीन एलो आस्ता कूड़ाय होलाम कूकुर।

[अकेले सारे घर की ठाकुरानी थी, सौत के आने से घूर का कुत्ता बन गई।]

यह तो रहा साधारण सौत का रूप ! बहन सौत इससे भी दुखदायी होती है।

आन सती ने नाड़े याड़े, बोन सती ने पुड़िये मारे।

[और सौतें हिला-डुलाकर छोड़ देती हैं मगर बहन सौत तो मारती है

नीम तीतो निसिन्दा तीतो, आर तीतो खर।
तार पेये अधिक तीतो, बोन सतीनेर घर॥

[नीम, निसिन्दा और खैर तो कड़ुआ होते ही हैं, मगर इससे भी अधिक कड़ुआ बहन सौत का घर होता है।]

सौत के साथ-साथ उसके बच्चों को भी बुरे रूप में ही रखा गया है। सौत के दुर्व्यवहार से तप्त नारी अपने सुहाग को भी खोने के लिये राजी देखी जाती है—

यम के भतार दीते पारी, सतीन के तबू दीते नारी।

[यमराज को भी अपना पति दे सकती हूँ, मगर सौत को देना असम्भव है।]

इस प्रकार प्रवादों में सौत का नकारात्मक रूप ही देखने को मिलता है।

भारतीय समाज में घर की बहू आगे चलकर सास होती है। बहुधा देखा जाता है कि बहू के आ जाने पर सास का महत्व कम होने लगता है। अपने पदच्युति का दुख सास को बहू के विरुद्ध कर देता है और समय पाकर वह बहू पर व्यंग करती है। लड़का जब बहू का पक्ष लेकर माँ को कष्ट देता है तो पास-पड़ोस की सहानुभूति सास को मिलती है। प्रेमचन्द ने ठीक ही कहा है—'यन्त्रणा में सहानुभूति पैदा करने की शक्ति होती है।' कुछ ऐसे प्रवाद भी नीचे दिये जा रहे हैं—

मायेर गलाय दिये बेदोड़ी, बउ के पोनाय ढाकाय साड़ी।

[माँ के गले में डोरी दिया और बहू को ढाके की साड़ी पहनाया।]

मायेर पेटे भात नाइ, बउयेर गलाय चन्द्रहार।

[माँ खाये बिना मरे और बहू के गले में चन्द्रहार (गहना) हो।]

गिन्नीर हाथे रांगार पोला, बउयेर हाथे सोनार बाला।

[मालकिन के हाथ में राँगे की लहठी और बहू के हाथ में सोने का कंगन।]

कलिर कथा कइ जे दीदी कलिर कथा कई।
गिन्नीर पाते टक आमानी, बउयेर पाते दोइ॥

[कलियुग की बात कह रही हूँ बहन, कलियुग की मालकिन के पत्तल पर तो खट्टा भात है और बहू के पत्तल पर दही परसी है।]

इस प्रकार समाज में प्रचलित नारी के विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति बंगला-प्रवादों में [illegible] है। हिन्दी में भी ऐसे प्रवादों की संख्या कम नहीं है। इन प्रवादों का संकलन और अध्ययन लोक-साहित्य की दृष्टि से आवश्यक तो है ही, [illegible] की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण एवं [illegible] है। प्रवादों की अध्ययन की दिशा में अभी बहुत काम हो सकता है।

पाँच

गल्पकथा : मानदण्ड एवं मर्यादाएँ

हीराप्रसाद त्रिपाठी

किसी गल्पकृति की सफलता की कसौटी क्या है ? इस प्रश्न का दो-टूक उत्तर देना असम्भव तो नहीं, किन्तु कठिन अवश्य है। इस सन्दर्भ में दृढ़तापूर्वक जो बात कही जा सकती है, वह यह है कि किसी उपन्यास अथवा कहानी को सर्वप्रथम उपन्यास अथवा कहानी होना चाहिये; और कुछ बाद में। इस विषय में विवेचन और विश्लेषण के लिये यदि हम सर्वप्रथम गल्प-साहित्य के प्रमुख अंग उपन्यास को लें, तो प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में सरलता होगी और तद्विषयक एक क्रम भी बना रहेगा। प्रस्तुत लेख के प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से उपन्यास-साहित्य के उद्भव और विकास का ऐतिहासिक विवेचन अप्रासंगिक होगा। एतदर्थ सर्वथा उपयुक्त और समीचीन यही होगा कि हम विश्व कथा-साहित्य के ऐसे श्रेष्ठ उपन्यासो के मूलभूत गुणों की छानबीन करें जो अपनी श्रेष्ठ औपन्यासिकता के कारण देश-काल की सीमाओं से परे होकर, साहित्यिक स्तर पर विश्वजनीन महत्ता को प्राप्त कर चुके हैं। ऐसे उपन्यासों में हम भारतीय तथा विश्व के अन्य देशों की कृतियों को ले सकते हैं। ऐसी महत्व-पूर्ण तथा श्रेष्ठ कथाकृतियों का उल्लेख करते समय निश्चित रूप से हमारे सामने ऐसे ही उपन्यास आते हैं जिसकी सफलता के सम्बन्ध में सूक्ष्म तत्वों से सम्बन्धित कुछ विरोधों के बावजूद भी विश्व के सभी मनीषी विद्वानों में मतैक्य है।

किसी भी कथाकृति की श्रेष्ठता और असंदिग्ध सफलता की बात जब हम करते हैं तो स्वाभाविक रूप से हमारे समक्ष उसके मूल्यांकन की बात आती है। इसके दो कारण हैं। प्रथम यह कि मूल्यांकन के बिना किसी भी कृति को श्रेष्ठ और सफल नहीं ठहराया जा सकता है। दूसरा यह कि कोई भी कलाकृति अपनी सहज प्रकृति और गुणितासम्पन्न स्वरूप के कारण ही सार्वजनीन होती है। गुण-दोष-विवेचन की अपेक्षा रहते हुए भी उसके श्रेष्ठत्व की मान्यता निरपेक्ष होती है। प्रत्येक सुरुचि-सम्पन्न, संवेदनशील और कला के रूप विशेष के प्रति जागरूक रहने वाले व्यक्ति को उस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करने का अधिकार रहता है। गुण दोष-विवेचन की इतनी व्यापक और खरी कसौटी पर अपने गुणों की श्रेष्ठता को प्रतिष्ठापित करा लेने की क्षमता कृतियों को ही ऐसे दुर्लभ सम्मान की उपलब्धि

हो पाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी कृतियों से ही उनका सर्जक अमरत्व प्राप्त करता है। किन्तु ऐसे गरिमामय, शिखरस्थ पद को प्राप्त करने के लिये किसी भी कृति को विवेचन, विश्लेषण, रुचिवैभिन्य, संवेदनशील सराहना, हितबद्ध आलोचना, तटस्थ परीक्षण, अनुशंसा और भर्त्सना की अनेकों दुर्लंघ्य सीढ़ियों को पार करना पड़ता है। और इतना सब होने के लिये समय की अपेक्षा रहती है। गुणदोष-विवेचन की एक दीर्घ अवधि के उपरान्त जब किसी कथाकृति की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में सर्वमान्य रूप से एक सुनिश्चित धारणा बन जाती है, तभी हम कह सकते हैं कि उस रचना का समुचित मूल्यांकन हो चुका है। वैसे, मूल्यांकन की समस्या स्वयं में एक स्वतंत्र लेख का विषय है, किन्तु संक्षेप में इतना तो निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि सामयिक गुणदोष-विवेचन की प्रक्रिया किसी भी कलाकृति के मूल्याकन की यात्रा का पाथेय मात्र है, वह गन्तव्य नहीं। मूल्यांकन एक स्थायी उपलब्धि है जो सामयिक गुणदोष-विवेचन द्वारा किसी कृति पर आरोपित नहीं किया जा सकता।

किसी भी उपन्यास की सफलता की यह पहली शर्त है उसकी औपन्यासिकता। और इस औपन्यासिकता के संघटक तत्व हैं—उसका कथानक, संवेदना, पात्र, उनका चयन और चरित्रचित्रण तथा भाषा, शिल्प आदि। किन्तु पृथक् रूप से इन तत्वों का महत्त्व लगभग नगण्य है। ये तत्व अन्योन्याश्रित हैं और कथाकार इनका कलात्मक तथा आनुपातिक उपयोग सम्मिलित रूप से एक प्रभाव उत्पन्न करने के लिये करता है। कथाकार द्वारा अभिप्रेत यह प्रभाव क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि यह अभिप्रेत प्रभाव कथाकृति की पठनीयता है। यद्यपि इस शब्द द्वारा भी वह भावपूर्ण रूप से व्यक्त नहीं हो पाता। मात्र पठनीयता भावों की असम्पृक्तता का द्योतक है, जबकि कलाकृति द्वारा उत्पन्न किया जाने वाला प्रभाव, रागात्मक संवेदना के तारों को स्पर्श करता है, उन्हें स्पन्दित करता है तथा गतिशील बनाता है। मोटे तौर पर हम इस प्रभाव को एक नशा कह सकते हैं। ऐसे नशे का प्रभाव स्वस्थ होगा या अस्वस्थ; यह कथाकृति की गुणिता पर निर्भर करता है। किन्तु इस सन्दर्भ में इस मूलभूत सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि ऐसे प्रभाव को उत्पन्न करने की आकांक्षा ही, बहुत अंशों में किसी कथाकृति के सृजन की प्रेरणा-स्रोत है। साथ ही साथ हम यह भी कह सकते हैं कि ऐसे प्रभाव को उत्पन्न करने की क्षमता और तत्सम्बन्धी मात्रा और गुण अथवा खूबियों और खामियों के आयाम ही उसके मापदण्ड हैं।

उपरोक्त प्रस्थापना के सन्दर्भ में यहाँ कथाकार और कथाकृति अथवा कलाकार और उसकी कलाकृति की पारस्परिक अन्योन्याश्रितता के सम्बन्ध में भी किंचित् चर्चा अप्रासंगिक न होगी। जब हम किसी कलाकृति द्वारा प्रभाव के उत्पन्न किये जाने की बात करते हैं, तो स्वभावतः हमारे सामने कलाकार का व्यक्तित्व भी आता है। कृतिकार से अलग करके किसी कृति के सम्बन्ध में किया गया विचार-विमर्श अधूरा होगा। कलाकार के सृजनात्मक व्यक्तित्व के सन्दर्भ में ही उसकी कृति पर सम्यक् रूप से विचार किया जा सकता है। कोई भी लेखक अथवा कलाकार जो कुछ लिखता है अथवा सृजन करता है, उस प्रक्रिया में बहुत कुछ उसके अन्तः व्यक्तित्व की निहित रहती है जिस प्रभाव से वह अपने पाठकों के मानस और हृदय को करना चाहता है उस प्रभाव से वह पहले स्वयं अभिभूत रह चुका

होता है। जितनी तीव्रता और प्रचुरता के साथ उस प्रभाव को उत्पन्न करने की क्षमता किसी लेखक अथवा कलाकार के भीतर होगी, उसी अनुपात में अपनी कला के प्रति वह ईमानदार होगा। तत्सम्बन्धी अन्य संघटक तत्वों का विकास, परम्परा से प्राप्त कला सम्बन्धी दाय, अनुभव, अभ्यास, अध्ययन, निरीक्षण आदि के संयोग से होता रहता है। यहीं पर सृजनात्मक धरातल पर किसी कृति के शिल्प-तत्व का महत्व भी विचारणीय हो जाता है। आन्तरिक क्षमता के साथ ही साथ उक्त संघटक तत्वों का भी अपेक्षित विकास यदि कलाकार कर लेता है, तो ऐसी घटना को मणिकांचन योग ही समझना चाहिये। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि यदि किसी समर्थ प्रतिभा को परम्परा से प्राप्त कला सम्बन्धी दाय, अध्ययन, समुचित प्रशिक्षण, उपयुक्त वातावरण आदि की सुविधाएँ न सुलभ हों तो उसकी अभिव्यक्ति का द्वार ही बन्द हो जायगा। ऐसी प्रतिभा निश्चित रूप से अपनी अभिव्यक्ति के लिये ऐसा मार्ग बना लेगी जो उसकी सहज प्रकृति के अनुकूल होगा।

गल्प साहित्य के सृजन की मूलभूत प्रेरणा और तत्सम्बन्धी अन्य तत्वों की विवेचना के सन्दर्भ में, उपरोक्त स्थिति को भलीभाँति समझने के लिये हिन्दी साहित्य के दो शीर्षस्थ कलाकारों की रचनाओं का उदाहरण अप्रासंगिक न होगा। जिस प्रकार 'नानापुराण निगमागम सम्मत' महाकाव्य के रचयिता प्रातःस्मरणीय गोस्वामी जी की मूलभूत सृजनात्मक प्रेरणा प्रकाश स्तम्भ की भाँति असंदिग्ध है, उसी प्रकार कबीरदास की अटपटी वाणी का अनगढ़ काव्यात्मक सौष्ठव और श्रेष्ठता तथा प्रखर मणिदीप्त प्रकाश के रूप में उसके द्वारा किया गया जनमानस का मार्गदर्शन भी निर्विवादित है। प्रथम उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि सहजात सृजनात्मक प्रतिभा और कला तथा अर्जनशील अन्य संघटक तत्वों का यदि समागम हो, तो कलाकृति कितनी प्रभावी, लोकरंजक, कल्याणकारी और अपने मंगलमय प्रभाव की व्यापकता से देशकाल की सीमाओं का अतिक्रमण करनेवाली हो सकती है। दूसरा उदाहरण इस बात का सक्षम साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि यदि सृजन की मूलभूत प्रेरणा को अपने सहधर्मी पूर्वजों की विरासत का उपयोग करने का अवसर न प्राप्त हो सका तो वह भी बिना तराशे हुए मणि की भाँति अपने अन्तर्भूत प्रकाश की किरणों को प्रस्फुटित करेगी ही।

भाव और शिल्प के उद्‌गम स्रोतों की संक्षेप में की गई उपरोक्त विवेचना के उपरान्त अब हम कथासाहित्य के उन तत्वों का विश्लेषण सुविधाजनक रूप में कर सकते हैं जो किसी भी कृति की सफलता के लिये आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी हैं। जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया जा चुका है कि कथा-साहित्य के उक्त संघटक तत्वों को जानने के लिए हमें विश्व कथा-साहित्य की ऐसी कृतियों का परीक्षण और विश्लेषण करना होगा जिनकी साहित्यिक और कलात्मक श्रेष्ठता विवाद से परे है, और औपन्यासिक गुणों की परिचर्चा में जो आप्तवाक्य के रूप में प्रस्तुत की जाती हैं। ऐसी कृतियों के कृतिकारों में हम समादरपूर्वक टाल्स्टाय, बालज़क, एमिल ब्रोन्टे, तुर्गनेव, हेनरी फील्डिङ्ग, चार्ल्स डिकेन्स, स्टेन्दल, डास्टायवास्की, जेन आस्टिन, मैक्सिम गोर्की, फ्लावेयर आदि के नाम उद्धृत कर सकते हैं। इन मूर्धन्य कथाकारों ने कुछ ऐसी कृतियाँ विश्व कथा-साहित्य को प्रदान की हैं जिनकी साहित्यिक श्रेष्ठता को शास्त्रीय वाद विवाद का विषय भले बनाया जाय, किन्तु

संवेदना के धरातल पर उनके स्थायी महत्व और विश्वजनीन मान्यता को चुनौती नहीं दी जा सकती।

उपर्युक्त शीर्षस्थ कथाशिल्पियों की कतिपय श्रेष्ठ रचनाओं को दृष्टि में रखकर ही हम कथा-साहित्य के उन संघटक तत्वों की छानबीन करेंगे जिनके कारण वे कृतियाँ असाधारण महत्व को प्राप्त कर सकीं। ऐसी कृतियों में 'वार एण्ड पीस', 'ब्रदर्स कर्माजोव' 'ओल्ड मैन गैरियट', 'वदरिङ्ग हाइट्स', 'प्राइड एण्ड प्रिजुडिस', 'मदर', 'डेविड कापर फील्ड', 'मैडम बोवारी' तथा अन्य कुछ रचनायें भी आती हैं। इन रचनाओं को पढ़ने के उपरान्त अत्यन्त ही सहज भाव से जो विचार हमारे मन में इनके सम्बन्ध में उठता है, वह यह कि इन सभी कृतियों में हमें कथानक का एक सुचिन्तित और सुनियोजित ताना-बाना मिलता है जो कथाकार के व्यक्तित्व की दमक और उसकी प्रतिभा के आव से प्रतिभासित होता रहता है। देश, काल और व्यक्तित्व की निजी विशेषताओं के कारण कथानक की रचना, विस्तार और उसकी भावभूमि आदि में पर्याप्त अन्तर हो सकता है, किन्तु कथानक का अस्तित्व अपने व्यापक रूप में उक्त सभी कृतियों में सुलभ है। कथानक के सम्बन्ध में ऐसा कहना यद्यपि किंचित शास्त्रीय और लीक को न छोड़नेवाली जैसी बात प्रतीत हो, किन्तु उक्त रचनाओं के अतिरिक्त प्राचीन और आधुनिक अन्य अनेकों सफल कृतियों द्वारा भी इसी तथ्य की व्यंजना और समर्थन किया गया है। और वह तथ्य यह है कि कथानक के प्रारम्भ, मध्य और अन्त संवेद्य तथा बुद्धिग्राह्य स्तर पर पाठक के अन्तर्मन को स्पर्श करने में समर्थ हों। कलाकार की प्रकृति और सृजनावस्था की मानसिकता के अनुरूप इनका प्रस्तुतीकरण क्रमवार स्मृति, फ्लैशबैक, चेतना-प्रवाह तथा अनेक विधाओं द्वारा किया जा सकता है। लेकिन इस सम्बन्ध मे शर्त यही है कि मध्य, प्रारम्भ का स्वाभाविक परिणाम हो और अन्त, मध्य के स्वाभाविक विकास की परिणति हो।

कथानक के उपरान्त सहज रूप से पात्र आते हैं। यहाँ इस बात को स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि किसी कथाकृति के संघटक तत्वों को अलग-अलग रूप में रख कर उनके सम्बन्ध में विचार-विमर्श, शास्त्रीय प्रयोजन तथा बुद्धिग्राह्य स्तर पर बात को समझने-समझाने के लिये ही किया जाता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि कथाकृति के समस्त संघटक तत्व इस प्रकार अभिन्न रूप से सूक्ष्म चेतन तारों द्वारा जुड़े हुए रहते हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। सम्पूर्ण कृति को हम एक जीवन्त इकाई के रूप में ही परिकल्पित कर सकते हैं, जिसका कोई भी अंग नगण्य नहीं है।

कथाकृति के पात्रों के सम्बन्ध में सर्वाधिक रूप से प्रभावोत्पादक जो चीज पाठकों के मन पर अमिट छाप छोड़ जाती है, वह है उनका व्यक्तित्व। जिस कथाकृति के पात्रों का मनोवैज्ञानिक स्तर पर उनके सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले अन्य प्रभावों के अनुकूल एक प्राणवान व्यक्तित्व नहीं होगा, उन पात्रों की समुचित रूपरेखा भी पाठकों के मानस पर नहीं उभर सकती, चिरस्थायी प्रभाव की बात तो दूर की है। पात्रों को व्यक्तित्व प्रदान करने के लिये कौन-कौन से तत्वों की अपेक्षा है, इस सम्बन्ध में नियम बनाना अदूरदर्शिता मात्र होगी एतदर्थ कारण, मानव प्रकृति की

विभिन्नता के साथ ही साथ उसमें सहज रूप से अन्तर्हित परिवर्तन और विकास की क्षमता भी है। और फिर सामान्य जीवन के किसी जीवधारी को अपनी कथाकृति में प्रस्तुत करने के लिये तत्सम्बन्धी निरीक्षण की प्रक्रिया में कलाकार का एक अपना दृष्टिकोण भी होता है। कला-जीवन का प्रतिकृति अथवा फ़ोटोग्रैफ़ी नहीं है। जीवन के यथार्थ का चित्रण करते समय भी कथाकार अपने सृजन के क्षणों को मूर्तिमन्त भी करता है। अपने अन्तर के अमूर्त को मूर्त रूप भी प्रदान करता है। वस्तुत: यथार्थ के धरातल पर अपनी नैसर्गिक सृजन की प्रेरणा को नूतन उद्भावनाओं द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान करना ही कलाकार की उपलब्धि है। इसके अतिरिक्त, परम्परा, प्रयोग, युगसत्य आदि अनेक सूक्ष्म शक्तियों का प्रभाव भी कथाकार के अन्तर्मन पर पड़ता है और फलस्वरूप उनका प्रतिबिम्ब भी प्रकट-अप्रकट रूप से उसकी रचना में नीर-क्षीर की भाँति मिला ही रहता है। संस्कृत-साहित्य में, नाटकों और महाकाव्यों के सन्दर्भ में पात्रों का विशद् विवेचन और वर्गीकरण किया गया है। पात्रों के भेदों-प्रभेदों से परिपूर्ण इस विवेचन की यह परम्परा संस्कृत काव्य से वर्द्धमान होती हुई रीतिकालीन हिन्दी-साहित्य तक पल्लवित-पुष्पित होती रही। नायक-नायिकाओं के भेदो, प्रभेदों तथा उपभेदों और उनके सन्दर्भगत सटीक कविताओं के उदाहरणों से पूरा रीति-कालीन साहित्य भरा पड़ा है। इस सन्दर्भ में, साहित्य के इतिहास सम्बन्धी इस उदाहरण का उल्लेख करने का तात्पर्य मात्र इतना है कि केवल कथा-साहित्य में ही नहीं, बल्कि नाटक और काव्यों में भी पात्रों के चित्रण की सूक्ष्म विभिन्नताओं का महत्व बहुत अधिक माना गया है।

उपन्यास के पात्रों के सम्बन्ध में विचार करते समय सर्वाधिक महत्व की दूसरी बात है—उनके चित्रण की स्वाभाविकता। पात्रों का चित्रण स्वाभाविक हो, इसके लिये सर्व-प्रथम इस बात की आवश्यकता है कि कृतिकार ने उनके जीवन को उनके सम्यक् परिवेश मे निकट से देखा हो। तभी चित्रण स्वाभाविक हो सकता है। प्रेमचन्द के ग्रामीण पात्र तथा शहरी मध्यमवर्ग के पात्र अत्यन्त जीवन्त और प्रभावोत्पादक हैं। मैक्सिम गोर्की के ऐसे पात्र जो समसामयिक रूस के उद्योग-धन्धों में नियोजित अथवा जीविका के लिये श्रम के आधार पर कार्यरत है, पाठक के मन पर अपने दु:ख-दर्द के बावजूद भी एक दुर्दम्य साहस और जीवन के प्रति एक अडिग आस्था की छाप लगा देते हैं। बालजक के उच्चवर्गीय तथा अभिजात्य पात्र जीवन के वैभव-विलास के एक मादक सम्मोहन से पाठकों को अभिभूत कर लेते हैं। इसी प्रकार उनके मध्यमवर्गीय महत्वाकांक्षी पात्रों की, जीवन के चरम वैभव-विलास को उपलब्ध करने की उद्दाम आशावादिता और प्रयास की विफलता में मर्मभेदी निराशा और अवसाद पाठकों के मानस पर उच्चभावना, पुरुषार्थ तथा करुणा की एक गहरी लकीर खींच देते हैं। एमिल ब्रोन्टे के पात्रों की उत्कट वासना, प्रेम और तीव्रतम भावनाएँ, पाठक के मन को एक रहस्यमय मूर्छना और सम्मोहन के भँवरजाल में बाँध देती है। जेन आस्टिन द्वारा चित्रित अत्यधिक सुसंस्कृत और सभ्यता के नियमों का बड़ी ही सतर्कता के साथ पालन करने वाले पात्र, हमारे मन पर अभिजात्यपन, शिष्ठाचार लोकव्यवहार की शिष्ठतम मर्यादा, भावनाओं की सुकुमारता आदि का पाठक के मानस पर झिलमिल रेशमी आवरण

जैसा एक बड़ा ही मृदु प्रभाव छोड़ जाते है। ताल्स्तॉय के पात्र अपनी स्वस्थ सामाजिकता और अपनी सहज प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर कार्य करने की अनोखी क्षमता तथा आदर्शवादिता से पाठक के मानसिक धरातल का उदात्तीकरण करने में समर्थ हैं। और दास्तायनास्की के अनमोल पात्र जो सहृदय और भावुक होते हुए भी मस्तमौला हैं, जो भाग्य के अधीन होते हुए भी नियतिचक्र की गति को रोक देने के लिये कदम बढ़ाने से नहीं चूकते, पाठकों के मन पर साहसिकता, रोमांस तथा सूक्ष्मतम, जटिलतम मार्दव के साथ अवसाद और विषाद से पूर्ण भावनाओं का एक तन्तुजाल सा बना देते है जिसमें उलझ कर पाठक रागात्मक संवेदना की धड़कनों को सुन सकता है।

प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों? इसलिये कि उक्त कथाकारों ने जिस देश-काल के परिवेश में अपने पात्रों का सृजन किया है, उनके जीवन की उन्हें संवेदनात्मक धरातल पर सूक्ष्म जानकारी थी। अत्यन्त ही संक्षिप्त रूप में दिये गये उपरोक्त उदाहरण तथा तत्सम्बन्धी प्रश्न और उत्तर इस प्रस्थापना की पुष्टि मात्र के लिये प्रस्तुत किये गये हैं कि जीवन्त और रागात्मक स्तर पर समर्थ चरित्रों के सृजन के लिये कथाकार को पात्रों के यथार्थ जीवन के सम्बन्ध में अत्यन्त ही निकट की और व्यापक जानकारी होनी चाहिये। वैसे पात्रों के निर्माण के लिये अन्य अनेक तत्वों की भी अपेक्षा है।

पात्रों के चित्रण के सम्बन्ध में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण अंग स्वाभाविकता के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है। मनुष्य की आन्तरिक नैसर्गिकता, बाह्य जगत के स्थूल और सूक्ष्म सभी प्रकार के उपादानों से प्रभावित होती है। बाह्य और अन्तर्जगत के पारस्परिक सम्बन्धों से उत्पन्न क्रिया और प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप व्यावहारिक स्तर पर मनुष्य के व्यवहारों की एक स्वाभाविक रूपरेखा बनती है। मानसिक धरातल पर उसके ऐसे व्यवहार को प्रतिबिम्बित करने वाला सर्वाधिक महत्वपूर्ण माध्यम उसकी भाषा है। भाषा के द्वारा ही मनुष्य अपने सहज स्वाभाविक भावों और विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। अतः किसी भी कथाकृति में पात्रों का चित्रण करते समय उनकी भाषा के सम्बन्ध में कथाकार को पर्याप्त रूप से जागरूक रहना पड़ता है। इस सम्बन्ध में जागरूकता का अनुभव प्राचीन काल के साहित्यकारों ने इतनी सूक्ष्मता और तीव्रता के साथ किया था कि उन्होंने इस सम्बन्ध मे पात्रों की भाषा को जटिल नियमों से बाँध दिया था। संस्कृत नाटकों में प्रायः यह एक नियम था कि कोई भी स्त्री पात्र अथवा दास-दासी संस्कृत भाषा का प्रयोग न करे। ऐसे पात्र प्राकृत भाषा के माध्यम से ही अपने विचारों को व्यक्त करते थे। आधुनिक साहित्य में ऐसी नियमबद्ध जटिल परम्परा का निर्वाह नहीं किया जा सकता है। कतिपय आधुनिक उपन्यासों में इस प्रकार की स्वाभाविकता को लाने के लिये कथाकारों ने ग्रामीण पात्रो द्वारा जनपदीय भाषा का प्रयोग कराया है। प्रेमचन्द के ऐसे पात्र जो मुस्लिम वातावरण में रहते हैं, क्लिष्ट उर्दू का प्रयोग करते हैं। किन्तु यह सिद्धान्त स्वयं अपने में कला के स्वस्थ विकास के लिये श्रेयस्कर नहीं है। एक सीमा तक ही इसकी उपयोगिता को स्वीकार किया जा सकता है। स्थानीय रंगत या लोकल कलर देने के लिये अथवा विशिष्ठ पात्रों की उन्हीं टिपिकल या अनोखी को सटीक ढग से दरसाने के लिये इस साधन का

उपयोग सतुलित मात्रा मे सराहनीय है। आचलिकता के नाम पर हिन्दी साहित्य में आने वाले कतिपय उपन्यासो और कहानियो मे इस साधन का उपयोग बडे ही अविवेकपूर्ण ढग से किया गया है।

माना कि भाषा विचारों के अभिव्यक्ति की एक सशक्त माध्यम है, किन्तु कोई भी कथाकृति स्वयं में एक जीवन्त इकाई भी है। ऐसी इकाई के बहुविधि रूप अनेकांगो में एकरूपता है और वह एकरूपता तात्विक है; अन्तर्वस्तु के मूलभूत एक्यभाव का द्योतक है। ऐसे बहुरूप अनेकाङ्गों के संघटक तत्वों के निर्माण में यदि अनपेक्षित तत्व का आरोपण किया जाता है तो कथाकृति में असंगति उत्पन्न होती है। तात्पर्य यह कि पात्रों के स्वाभाविक चित्रण के लिये स्थानीय, जनपदीय अथवा कृति की मुख्य भाषा के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा का प्रयोग अत्यन्त ही संतुलित रूप में किया जाना चाहिये, जैसे सोने में सुहागा अथवा दाल में नमक। इसी प्रकार भावों, विचारों और संस्कारों के स्तर पर भी पात्रों के व्यवहार और उनकी वार्ता स्वाभाविक होनी चाहिये।

शिल्प सम्बन्धी, कला सम्बन्धी अथवा किसी राजनैतिक दर्शन से सम्बन्धित पूर्वग्रह, पक्षकारिता किंवा आस्था के कारण भी कला के नैसर्गिक स्वरूप में और उसके सहज स्वाभाविक विकास में कोई च्युति नहीं आनी चाहिये। समसामयिक कतिपय हिन्दी कथाकृतियो मे किये गये असन्तुलित और अपरिपक्व जनपदीय भाषा के प्रयोगों की समीचीनता का प्रतिपादन करने के लिये इस प्रकार की दलील भी सुनी जाती है कि ऐसे प्रयोगों से भाषा के शब्द-भण्डार की श्रीवृद्धि होगी। किन्तु यह तर्क तो घोड़े के आगे गाड़ी को खड़ा करने जैसा ही है। सृजनात्मक कृतियों का निर्माण पहले होता है और उनकी साहित्यिक अथवा कलात्मक श्रेष्ठता के सम्बन्ध में विवेचन और विश्लेषण उसके उपरान्त। श्रेष्ठ महाकाव्यों और अन्य काव्य कृतियों तथा नाटकों के मान्यता प्राप्त संघटक तत्वों के आधार पर ही काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र की रचना की जाती है। विवेचन, विश्लेषण और कला सम्बन्धी सैद्धान्तिक स्थापना सदा सृजनात्मक कृति की अनुगामिनी होती है। जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है, ऐसी प्रतिभाएँ भी हैं जिनमें दोनों पक्षों का मणिकांचन योग हमें प्राप्त होता है। किन्तु ऐसे उदाहरणों में भी जहाँ सिद्धान्त का आग्रह अधिक रहा है, वहाँ भावप्रवण कला का हनन हुआ है। बात को स्पष्ट करने के लिये हम गोस्वामी जी के 'रामचरित मानस' और केशवदास की 'रामचन्द्रिका' को ले सकते हैं। हिन्दी-साहित्य के अध्येता इस बात से सुपरिचित हैं कि कलापक्ष के प्रति अत्यधिक आग्रह और मोह ने केशवदास के काव्य में कितनी अस्वाभाविकता और असंगतियों को जन्म दिया है। ऐसी अस्वाभाविकताओं और असगतियों के आधार पर ही उस महाकवि को कितने ही विद्वानों ने कवि मानने से भी इनकार कर दिया। उन्हें 'हृदयहीन', 'संवेदनाशून्य' आदि अनेक भर्त्सनाओं से विभूषित किया गया, जबकि गोस्वामी जी की रचना में कलापारखी और आलोचक ऐसे स्थलों पर भी इस प्रकार के अर्थ, ऐसे अलंकार और काव्य के ऐसे गुणों को भी ढूढ़ निकालने से नहीं थकते जिनकी ओर महाकवि का अचेतन रूप से भी ध्यान न रहा होगा।

हिन्दी-कथासाहित्य में स्थानीय तथा क्षेत्रीय शब्दों के आग्रहपूर्वक प्रयुक्त किये जाने के संदर्भ में उक्त उदाहरण इसलिये दिया गया कि सैद्धान्तिक आग्रह के साथ किया गया सृजन, फिर चाहे वह आग्रह किसी प्रकार का क्यों न हो, किसी भी कथाकृति के नैसर्गिक स्वरूप और उसके सहज स्वाभाविक विकास में च्युति और असंगति को ही जन्म देगा। सहज स्वाभाविक रूप में सम्पर्क और अनुभवजन्य अधिकार के साथ जनपदीय अथवा स्थानीय भाषा का उपयोग समसामयिक देशकाल की रचना में इस प्रकार करना कि वह भाषा के प्रवाह, भावाभिव्यक्ति के सामर्थ्य और स्वाभाविकता को गतिमान बनाये तथा अपने विशिष्ठ स्थानीय अनोखेपन के कारण मुख्य भाषा के शब्दों द्वारा व्यक्त न किये जा सकनेवाले भावों अथवा अर्थों को अभिव्यक्ति प्रदान करे, एक बात है और यह सोचकर स्थानीय अथवा जनपदीय भाषा का प्रयोग करना कि उससे किसी भाषा के शब्दभण्डार की श्रीवृद्धि होगी, एकदम भिन्न बात है। रागात्मक संवेदना और बौद्धिक जागरूकता में एक तात्विक अन्तर है।

नये प्रकाशन

समीक्षकों की दृष्टि में

लोकमणि मिश्र कृत 'नवरसरंग'
हरिमोहन मालवीय द्वारा सम्पादित
एक रीतिकालीन लक्षणग्रंथ

प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६५ ई०
पृष्ठ संख्या : २०८
मूल्य : तीन रुपये

'नवरसरंग' विदर्भ के एक मध्यकालीन कवि लोकमणि मिश्र की रीतिपरक रचना है जिसकी एकमात्र ह० लि० प्रति नागपुर निवासी पं० प्रयागदत्त शुक्ल द्वारा हिंदी साहित्य सम्मेलन को भेंट स्वरूप प्राप्त हुई और उसी के आधार पर इसका सम्पादन श्री हरिमोहन मालवीय द्वारा किया गया। कवि ने इसका रचनाकाल सं० १८४९ वि० और अपना निवासस्थान 'सिद्ध पीठ अलकावती देस बिदर्भ प्रसिद्ध' बतलाया है। अलकावती को पं० प्रयागदत्त जी नागपुर मानते हैं जिसका निरसन सम्पादक ने उचित रूप में किया है मेरा अनुमान है कि कवि द्वारा उल्लिखित 'अलकावती' कदाचित् अमरावती का पर्याय है।

हिंदी के अन्य रीतिकालीन अचार्यों की भाँति रस-रसांग की परिभाषा आदि के लि लोकमणि मिश्र ने भी अपने आदर्श रूप में एक संस्कृत आचार्य को चुन लिया है। वे हैं 'रस-मंजरी' तथा 'रस तरंगिणी' के रचयिता ख्यातनामा आचार्य भानुदत्त जी जिनका संक्षिप्त परिचय सम्पादक ने भूमिका में दिया है। यद्यपि उनके समय के सम्बन्ध में उनकी कोई निश्चित धारणा नहीं ज्ञात होती, क्योंकि इस संबंध में उन्होंने केवल पं० बलदेव उपाध्याय तथा 'रसमंजरी' के टीकाकार कविशेखर पं० बदरीनाथ शर्मा के मतों का उल्लेखमात्र कर दिया है जिनमें से एक के अनुसार भानुदत्त चौदहवीं शताब्दी ईसवी के और दूसरे अनुसार सोलहवीं शताब्दी ईसवी के सिद्ध होते हैं

'नवरसरंग' में १२ अंग हैं जिनका वर्ण्य विषय संक्षेप में इस प्रकार है : अंग १ मे नव रसों के लक्षण तथा उदाहरण, अंग २ से ६ तक नायिकाभेद, अंग ७ में नायक भेद, अंग ८ से १० तक भाव, विभाव, संचारी, अनुभाव आदि का वर्णन तथा अंग ११-१२ में संयोग तथा वियोग शृङ्गार का वर्णन।

लोकमणि मिश्र की भाषा परिष्कृत और जीवंत अवश्य है, किंतु उनकी प्रतिभा का भी क़ायल होने के लिए इस रचना में कोई संबल नहीं प्राप्त होता। मालवीय जी ने उनकी सुकुमार नारी-कल्पना का समर्थन करते हुए उत्साहपूर्वक लिखा है कि "लोक-मणि की नायिका केवल रति प्रगल्भा नहीं। वह स्वकीया और परकीया दोनों ही है।" (पृ० २१) इस प्रकार के कथन की कोई सार्थकता नहीं; क्योंकि नायिका-भेद के प्रसंग मे सभी आचार्यों ने विभिन्न प्रकार की नायिकाओं का चित्रण किया ही है, इसमें लोकमणि की कोई विशेषता नहीं है। बल्कि मुझे तो उनकी कविता में स्थूल वासनात्मक चित्रण का ही आधिक्य दिखलाई पड़ता है। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो उनकी सुरुचि-सम्पन्नता पर भी प्रश्नचिह्न लगाना पड़ता है। 'नवरसरंग' का छंद ३०५ इसका प्रमाण है। विदूषक के वर्णन में जहाँ उनके उपजीव्य रसमंजरीकार ने नायिका के 'कुचकञ्चुकमोचन' तक ही अपने को सीमित रखा है, वहाँ लोकमणि जी ने शेष प्रक्रिया का भी भोंडा अभिधात्मक चित्रण किया है।

वैसे इस रचना में कुछ उत्कृष्ट स्थल भी है, इसे अस्वीकार करना कवि के साथ अन्याय होगा। उदाहरणतया छंद ४१७ में सुरत-श्रम-जनित स्वेद के कारण नायिका की मुखच्छवि का चित्रण आकर्षक है (मेरा मतंव्य केवल अभिव्यक्ति से है।) :—

बदन मयंक कीधौं अंकित नक्षत्र करि
मदन असंकित की वृष्टि मुकुतानि की।

तुलनीय देव : तोरनि तरैयनि की तानी द्विजराज पर।

किंतु भावसम्प्रेषण की अक्षमता के उदाहरण भी 'नवरसरंग' में कम नहीं हैं। इस प्रसंग में उसका छंद ३८८ यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

मंजन आदि दुकूल प्रसाद किये रति के अहलाद विधान ते।
लोकन चंपक केतकी कंज सुबास बिलास कला सकलान ते।
तीसरो नूपुर किंकिनी कंकन कुंडल हार गुहै मुकुलान्त ते।
बासर अंत को जाम न बीतत बाम को जीतत काम के बान ते।

पादटिप्पणी में उद्धृत 'रसतरंगिणी' के श्लोक से इसे मिलाइए जिसका भाव है—

"सखि, पहला पहर तो केलि-कौतुक के मनोरथ से व्यतीत किया, दूसरा मालती केसरयुक्त पुष्प, चम्पा और कमल का हार गूँथने में बिता दिया, तीसरा करधनी, कुण्डल, हार, सुवर्ण कंकण आदि के स्थापन में बिताया (इस प्रकार सारा दिन तो बीत गया) लेकिन अब चौथा पहर कैसे व्यतीत होगा ?

'नवरसरंग' के उपरि उद्धृत छंद में प्रथम, द्वितीय प्रहर के बोधक शब्दों के अभाव से 'रसतरंगिणी' जैसी भाव श्रृंखला नहीं बन पाती और चौथे पहर के संबंध में र० त० की नायिका की उक्ति में जो स्निग्ध व्यंजना छिपी है—और कहने की आवश्यकता नहीं कि वही इस छंद की जान है—वह क्या लोकमणि द्वारा सम्प्रेषित हो पाई है ? साथ ही तीसरी पंक्ति में वर्णमैत्री की असंगति भी खटकती है। तुलसी की 'कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि' इस शब्दावली के पीछे नाद-सौंदर्य की साधना बोल रही है (पाणिनी के 'अइउण' आदि के के अनुसार) किंतु लोकमणि की शब्दस्थापना से वह आहत हो गई है। बिना यतिभंग के उसका उत्कृष्टतर पाठ इस प्रकार हो सकता था—

तीसरो कंकन किंकिन नूपुर कुंडल हार गुहै मुकुतान तें।

इसी प्रकार के अन्य लचर उदाहरण छंद ६२, १७१ तथा १८१ में देखे जा सकते हैं।

यह तो हुआ रचना के संबंध मे। अब कुछ चर्चा उसके सम्पादन की भी आवश्यक है। किसी रचना की एक ही प्रति उपलब्ध रहने पर सम्पादक की कठिनाई बढ़ जाती है, किंतु उसके उत्तरदायित्व तथा अध्ययन-मनन की परीक्षा भी हो जाती है, क्योंकि अनेक पाठान्तरों के तुलनात्मक अध्ययन से जिन पाठविकृतियों की छानबीन सरलता से हो जाती है, उनके लिए एक प्रतिवाले सम्पादक को सारी संभावनाओं पर स्वतः विचार करना पड़ता है। प्राचीन प्रतियों में सभी शब्द मिला कर लिखे जाते थे, अतः सम्पादक के सामने पहली समस्या पद-विच्छेद की आती है। यदि प्रसंग आदि पर पूर्ण विचार न किया गया, तो छेद सबधी अनेक भ्रांतियाँ रह जाती है जिनके कारण उपयुक्त अर्थबोध में व्यवधान उपस्थित होता है। खेद के साथ कहना पड़ता है कि प्रस्तुत सम्पादन में इस प्रकार की अनेक भ्रांतियाँ मिलती है। स्थल-संकोच के कारण केवल कुछ को विवेचना कर शेष का संकेत मात्र कर दिया जा रहा है। विज्ञ पाठक स्वतः उनकी सार्थकता पर विचार कर लेंगे।

(१) छंद २९ की प्रथम दो पंक्तियों का मुद्रित पाठ है :

बानर न पंडित सप्रान मीन मंडित
प्रचंड भुज खंडित में श्रोनित झिरत है।

बीभत्स रस के अंतर्गत युद्धक्षेत्र के वर्णन में 'बानर' और 'पंडित' की सार्थकता चिन्त्य है। वस्तुतः पाठ होना चाहिए : बान रन पंडित (?) सप्रान मनि मंडित। 'पंडित' भी कदाचित् 'षंडित' या 'छंडित' (= छोड़े हुए) का विकृत रूप है। भूमिका (पृ० २०) में भी यह पंक्ति उसी रूप में उद्धृत है।

(२) ४३·२ : आर सरिस ग्रह हस्तिनी, निरदै निरलज नैन।

प्रस्तुत प्रसंग में 'आर सरिस' निरर्थक ज्ञात होता है। पाठ वस्तुतः होना चाहिए : आरस रिस ग्रह हस्तिनी। हस्तिनी नायिका का लक्षण बताते हुए कवि कह रहा है कि वह

ारस (=आलस्य) और रिस (=क्रोध) ग्रहीता होती है। उसीके उदाहरण छंद मे सं० ४४'४) कवि ने पुनः 'आरस वलित' शब्दों का प्रयोग किया है; वहाँ मुद्रित पाठ ीक है।

(३) ६१'३ : पावक सी जगै जावक भाल पै मानन गो लगे पाय पराये।

परस्त्रीगमन के पश्चात् माथे पर महावर का सर्टिफिकेट लिये स्वकीयाओं के सम्मुख उपस्थित होकर उनके द्वारा प्रताड़ित होनेवाले नायकों का प्रसंग रीतिकालीन काव्य में बहु परिचित है। यहाँ इसी प्रकार के लम्पट नायक के प्रति अधीरा प्रौढ़ा के कोप का वर्णन है। उक्त प्रसंग में द्वितीय चरण का पाठ होना चाहिए : 'मान न गो लगे पायँ पराये।' अर्थात् "दूसरी (स्त्री) के पैर लगने पर आपकी मर्यादा नहीं गई ?"

(४) १३४'१ : बार नव गारे मार मार को सभा मारे कौन।

इस रूप में प्रस्तुत पंक्ति का अर्थ लगाना बड़ा कठिन है। यही पाठ किंचित् छेदान्तर के साथ इस प्रकार कर दिया जाय : 'बारन बगारे मार मार को संभारे कौन' तब इसका उत्कृष्ट अर्थ निकल आता है : बालों को बिखरा देने पर भला मार (=काम) की मार (=चोट) कौन सँभाल सकता है ? 'सभा' के पश्चात् 'मारे' में 'मा' का आगम भी निरर्थक है—अनुलिपिकार अथवा मुद्रक-सम्पादक की भूल के कारण।

(५) २१५'१ : बैठी तीज मात सखी गन में बतात काहू
कह्यौ प्रात जात परदेश चाह कंत की।

'तीज मात' का प्रसंगसम्मत अर्थ रीतिकाव्य के वैतालिक भी नहीं लगा पावेंगे। कवि का मंतव्य वस्तुतः इस प्रकार ज्ञात होता है : बैठी ती जमात सखीगन में बतात काहू...। ती जमात = स्त्रियों की जमात या समूह।

अन्य स्थल निम्नलिखित हैं—

(६) १९'३-४ : लोकन भनत कैसो जुगल किसोर मेरी
ओर न निहोय तौ न दौर तौ दुखाइ कै।

शुद्ध पाठ : मेरी ओर न निहोरतौ न दौरतौ दुखाइ कै।

(निहोयतौ < निहोरतौ के सम्बन्ध में आगे संशोधन सम्बन्धी टिप्पणी द्रष्टव्य)

(७) २४'८ : मुद्रित पाठ : अंगन अमाई है अनंग की अवाई सी।
शुद्ध पाठ : अंग न अमाई है............।

(८) ६७'४ : मुद्रित पाठ : सुनैनही देवर नेवर बाजै।
शुद्ध पाठ : सुनै नहीं देवर = देवर सुन न ले नूपुर बज रहा है

(९) ७४'१ . अंत फुरकत के इर्कत हो अनत कला
नवला पठाई अबलान मुष साध सी।

शुद्ध पाठ : अंतःपुर कंत के············

(१०) ९३'७-८ : सार सीले लोचन विसेषियैं जु आरसी लैं
आरसी लै देषियैं जु आरसी ले मुष को।

शुद्ध : सारसीलैं लोचन बिसेषियैं जु आरसीलैं
आरसी लै देषियै जु आरसीले मुष को।

सारसीलै लोचन = कमलवत नेत्र, आरसीले = अलसौंहें

(११) १११'८ : जीर है जंजाल मैं < जो रहै जंजाल मैं।

(१२) ११९'३ : जोबन मत्त चढ्यो मन मत्त उठी छतिया बतियान नकारत।

कुलटा का वर्णन है। अत: पाठ होना चाहिए : 'बतिया न नकारत' अर्थात् किसी नहीं करती।

(१३) १२३'२ : माइ के जात हटाहट < माइके जात हटाहट।

(१४) १३९'३ : सक तहू में < संकेल हू में = गाढ़े वक्त में

(१५) १६८'१ : भोरहि आये निहोर न मोहि रहे उन षोरि न काछनी काछे।
शुद्ध : भोरहि आये निहोरन मोहि रहे उन षोरिन काछनी काछे।

अर्थात् सबेरा होते ही मुझे निहोरा देने आ गये (जैसे मुझे मालूम नहीं कि रात गलियों में कमर कसे डटे रहे।

(१६) १६९'४ : सुरतनि लाज हो < सुरत निलाज हो।

(१७) १८०'२ : गिनहरि देखे भवन बिहार के < बिन हरि देखे···।

(१८) १९२'६ : रंग रंग अंग न तरंग नवला की है < अंगन तरंग···।

(१९) १९६'२-३ : लोकन जू तन मेरो सिगार तनेक निहरात आन तियान है
सोई सबै सखि यैसी कहैं हौं लजौं सम झेन हहा हियरान है

शुद्ध पाठ : ······सिगारत नेक निहारत आन तिया न है।
······समझै न हहा हियरान है।

स्वाधीनभर्तिका का प्रसंग है।

(२०) २०२'१ : मनोरथ अंकु सभारि कै < अंकुस मारि कै।

२१) २२५ २ क्यो बवानि < बवानिक्यो = कहना चाहिए

(२२) २३६·२ : तजि वेत बिलंबन भौंर करैं बिन फूल गुलाबन के बन को।

शुद्ध : बिलंब न भौंर करैं······

(२३) २४०·१ : दंपति येकहीं आसन देखि सखी परहास लहासन काजै।

शुद्ध : ···सखी परहासत हासन काजै।

परहासत = परिहास करती है। इसी भ्रांति के कारण सम्पादक ने परिशिष्ट में 'सनकाजै' शब्द देकर उसका अर्थ किया है 'इशारा करे', 'सनकारे'।!)।

(२४) २४२·३ : सुजाइ दुराइ कै < सु जाइ दुराइ कै।

(२५) २४३·१ : बरनी ग्रंथ न जात < बरनी ग्रंथन जात।

(२६) २४८·८ : जाहिरनि हारी उजियारी है हवाई ने < जाहिर निहारी···

(२७) २५१·६ : तुमहू नमानत < तुमहू न मानत।

(२८-३०) २८०·१, ४, ७ : सुष वास < सुबवास, चलाय कबि रास है < चलायक बिरास है; हसि बोरे < हँसिबो रे।

(३१) ३१४·४ : श्री मुष चंदन अनंद भरोहरि < श्री मुष चंद अनंद भरो हरि।

(३२) ३१८·१ : भाव सहै परकार को भावत सब कलि राव।

शुद्ध : सु है परकार को···कबिराव।

(३३) ३३१·२ : वय पार < वयपार (= व्यापार)

(३४) ३७४·२ : जल जात बिलोकत हाथ न मुंदत।

शुद्ध : जलजात · हाथन···।

(३५) ३६४·८ : सरसि जन के बिजन < सरसिजन के बिजन।

(३६) ३६८·६ : बोरिकै नदी सरै कपी॥ को जुहारतो < नदीस मैं।

(३७) ४०४·४ : अंतरमा को जु कंत न ध्याइहौं < अंत रमा को।

(३८) ४१२·३ : बवरा न करो कल काम दसा < कलकाम।

(३९) ४३१·४ : मौन रहत हीन बनौं < ही न बनौं।

(४०) ४३३·३ : सुतिया करकै < सु तिया करकै।

(४१) ४७८·८ : परपेषत फिरत है < पर पेषत फिरत है।

(४२) ४८२·४ : येई अनघैरी आइ घेरी < अनघै री।

(४३-४५) ४८६·१ ३, ७ · लपटै है < लपटैहै हरि मै है < हरिमैहै वै है < हौ है।

(४६ ४८ ४६३ २ ६ ८ हट न < हटन नट मर पटि के < नटन रपटि के
लटक गोलटक लपटि कै < ···गो लटक लपटि के।

(४६) ४६५'८ : देख न पैयै < देखन पैये।

(५०) ५०४'१ : आधर लाकत लौन लहीं को < आवरता कत···।

(५१-५३) ५०५'२, ३, ४ : चंदन ही यह चंदन चार है < चंद नहीं यह चंदनचार है,
बिलनाऱे < बिल ना रे; छारन ही बिरहानल भार है <
छार नहीं।

(५४) ५०७'४ : सरसी जन < सरसीजन (= कमलों से)।

इनमें से कुछ अशुद्धियाँ मुद्रण की असावधानी के कारण भी हो सकती हैं, किंतु सम्पादक का हिस्सा इनमें निश्चित रूप से पचहत्तर प्रतिशत से अधिक है।

'नवरसरंग' की ह० लि० प्रति में कुछ पाठांतर हाशिये पर दिये गये हैं। जिन पर सम्पादक ने विचार किया है। वैसे सिद्धान्ततः हाशिये के पाठांतरों के संबंध में बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता होती है और उन्हें काफ़ी छानबीन के पश्चात् ही ग्रहण करना चाहिए, किंतु इस प्रति के अधिकांश पाठांतर ग्राह्य प्रतीत होते हैं। अतः जान पड़ता है कि या तो वे स्वतः कवि द्वारा सुझाये गये होंगे या फिर आदर्श प्रति में ही यथावत् रहे होंगे और प्रस्तुत प्रति के अनुलिपिकार ने ही पहले उन्हें अशुद्ध लिख दिया होगा, किंतु बाद में मिलान करने पर शुद्ध पाठों को हाशिये में समावेशित कर लिया होगा। सम्पादक ने इनमें से आठ पाठान्तरों को अस्वीकृत किया है; किंतु कम से कम पाँच की उपयुक्तता के संबंध में मतभेद हो सकता है। उनकी संक्षिप्त चर्चा यहाँ की जा रही है :—

(१) ७०'२ : स्वीकृत पाठ है :—गोल कपोल घुले रद के छद।

हाशिये पर 'घुले' के स्थान पर 'घुसे' पाठ है जिसे संपादक ने अस्वीकार किया है। किंतु स्वीकृत पाठ की अपेक्षा यह अधिक ग्राह्य लगता है। घुसे = धँसे या गड़े हुए।

(२) १७१'२ : स्वीकृत पाठ :-- लोकन भनत आदो प्रीतम मनाइबे को
पाय सिर नावन को रहिगो सुभाइ कै।

हाशिये पर 'मनाइबे' का पाठांतर 'मनावन' है जो आगे 'सिर नावन' को देखते हुए अधिक अनुप्रासयुक्त तथा ग्राह्य लगता है।

(३) २०४'७ : नाह छवि छाकी छाह लागै उजियारी की।

'छाकी' के स्थान पर अस्वीकृत हाशिये का पाठ 'फरी' है जो कदाचित् 'प्यारी' का विकृत रूप है और 'उजियारी' की संगति तथा अर्थ की प्रासंगिकता की दृष्टि से श्रेष्ठतर पाठ होता है

(४) ११३ ३ ४ सोकन भनत सोहो अग अग दहिगो
निषग बान बहिगो अनग की कमान दे।

द्वितीय चरण के 'दहिगो' के लिए हाशिये पर 'बहिगो' पाठ था जिसे सम्पादक महोदय ने जाने किस आधार पर अग्राह्य मान लिया। प्रथम चरण में 'दहिगो' आ चुका है अत: पुनः वही पाठ मानने से पुनरुक्ति दोष तो है ही, साथ ही उसका प्रसंगसम्मत अर्थ भी नही निकलता। इसके विपरीत 'बान बहिगो' का अर्थ होगा : वाण निक्षिप्त हुआ।

(५) ४५७·७ : येक कारी पोत सो अनेक जोतिवारी को
उदोत बलिहारी होत बारी सौति संग सो।

कवि के गूढ़ भाव को न समझ सकने के कारण सम्पादक ने यहाँ उपयुक्त पाठ 'पै' को अस्वीकार कर 'सो' पाठ ग्रहण किया है किंतु उससे कवि की मूल भावना तथा वाक्य-रचना को व्याघात पहुँचता है। एक आभूषणविहीन नायिका के सौंदर्य की प्रशंसा यहाँ की गई है, इस पृष्ठभूमि में प्रस्तुत पंक्ति का भाव होगा : इस मटमैले मोती पर अनेक ज्योतिष्मान् मोतियों का सौंदर्य निछावर किया जा सकता है। छंद की कुछ अन्य पंक्तियों—यथा, 'भूषन बिना हीरी अभूषित तिहारो गात' और 'तेरे रूप आगे काम कामिनिन को भागे रूप'—पर ध्यान देने से 'पै' पाठ की सार्थकता स्वत: स्पष्ट हो जायगी।

इसी प्रकार अर्थवत्ता तथा प्रासंगिकता आदि की दृष्टि से विचार करने पर रचना के अन्य अनेक स्थलों को भी सुधारा जा सकता था, जहाँ पर निरर्थक अथवा विकृत पाठ मिलते है। हाँ, ऐसे संशोधनों में पाठालोचन के सिद्धांतों के अनुसार लिपि आदि की संभावनाओ पर पूर्ण विचार अपेक्षित अवश्य रहता है। उसमें अधिक निरंकुशता की गुंजाइश नहीं, किंतु इस महत्वपूर्ण योगदान से विरत रहना भी एक प्रबुद्ध सम्पादक को शोभा नहीं देता। यहाँ कुछ ऐसे पाठ-संशोधनों का संकेत किया जा रहा है जो किंचित् सतर्कता से कार्य करने पर सम्पादक की पकड़ मे आसानी से आ सकते थे। स्थल संकोच के कारण उनकी विस्तृत विवेचना यहाँ असंभव है—

(१) १६·४ : निहोपतो < निहोरतो; तुल० दोरतो।

(२) २६·५ : बंधित सअस्त्रन < स अत्रन। प्रति में 'अत्रन' पाठ ही था जिसे सम्पादक ने संशोधित कर किया, किंतु यह ध्यान नहीं दिया कि कवि ने अन्यत्र भी 'अस्त्र' के लिए 'अत्र' शब्द का ही प्रयोग किया है; द्रष्टव्य २७·२ : अत्र हाथ लय कै; ३३·२ : धारयो अत्र हाथन।

(३) ३३·८ : प्रगातम < प्रमातम (= परमात्मा)।

(४) ४४·४ : जस्तु < जन्तु (हस्तिनी नायिका आलस्य वलित जन्तु के समान है)

(५) ४८ ५ सानर < सागर

६ ७२ १ : < वोठ समान

(७) ८४·१ : अंत फुरकंत के इकंत ही अनंत कला नवला पठाई अबलान सुष साथ सी ।

'अंत फुरकंत' का प्रसंगसम्मत अर्थ निकाल लेना टेढ़ी खीर है । वस्तुत: यहाँ 'अंत:पुर कंत के' पाठ होना चाहिए ।

(८) ७६·१ : सात < जात;

(९) ९१·२ : भौ ज्यौं < भौंर ज्यौं ।

(१०) ११६·१ : 'अंजन' के पश्चात् 'कै' होना चाहिए ।

(११) १५६·१ : 'पंडिता' के पश्चात् 'अरु' होना चाहिए ।

(१२) १६५·४ : बैन कह्यो गयो < बैन कह्यौ न गयो ।

(१३) १६७·५ : गौहन को खाते < सौहन को खाते ।

(१४) २२४·१ : सौति के नाह लह्यो बसि पैर न < सौति के नाह रह्यौ बसि रैन ।

(१५) २२५·२ : भि भरोमति < बिफरो मति (तुल० ६७·२ बाँही धरे बिफरै छुटि भाजै । बिफरना = उचक कर भागना)

(१६) ३०३ में दूसरी पंक्ति भूल से पुनः चौथी पंक्ति के रूप में दुहरा उठी है । चौथी पंक्ति का कोई भिन्न पाठ प्रति में अनुमानतः होगा ।

(१७) ३१७·७ : ज्यों ज्यों करकई लै यार नव नारै तिय । बिलकुल निरर्थक पाठ है होना चाहिए : ज्यों ज्यों कर ककई लै बारन संवारै तिय (त्यों त्यों मन मेरे को मरोर मारि डारै री ।)

(१८) ३६८·७ : पहिराइ दाई बदन कै < पहिराइ दई बंदन कै ।

(१९) ४१४·७ : सागर के चार दशरत्त उजागर लै < चार दश रतन ।

शब्दार्थ सूची में भी 'दशरक्त' (?) का उल्लेख कर अर्थ के स्थान पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया गया है । वस्तुतः वह 'चार दश रत्न' (= चौदह रत्न) हैं ।

(२०) ४४६·८ : क्षनपति < नक्षत्रपति; (२१) ४५३·२ : मानोरथ < मनोरथ ।

(२२) ४६६·४ : बलाइ ले बजाइ < ले जाइ ।

(२३) छंद ४८८ तथा ४८९ का पाठ अत्यधिक भ्रष्ट है । विस्तारभय से लंबी विवेचना का लोभ संवरण कर केवल संशोधनों का संकेत कर दिया जा रहा है । अर्थ स्पष्ट हो जाय तो विवेचना की आवश्यकता ही क्या है ? ४८८ की सभी पंक्तियों के अंत में 'भौं' होना चाहिए 'मैं' के स्थान पर । पंक्ति ३ में 'बेदी' की जगह 'बंदी' होना चाहिए और पंक्ति ७ में 'भोन' का 'भौं' पृथक् और 'न' पृथक् अर्थात् आठवीं पंक्ति में जाना चाहिए । ४८९ की दूसरी पंक्ति का मुद्रित पाठ है नसिता मठेहै लषि तबिता सरसिबो मूल पाठ

कदाचित् यह रहा होगा : लालसा अहै लपि तहिंता तरजिबो। चौथी पंक्ति के पूर्व 'अहै' शब्द जुड़ना चाहिए और सातवीं में 'वै है चहूँवार' के स्थान पर 'ह्वै चहूँ ओर' पाठ अभीष्ट ज्ञात होता है। अधिक विस्तार में न जाकर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भूमिका (पृ० २६) में सम्पादक ने जिस 'सतर्कता' का उल्लेख किया है, उसका, सम्पादन में अपेक्षित प्रयोग नहीं दिखलाई पड़ता। मध्यकालीन कृतियों का सम्पादन-कार्य बड़ा कठिन होता है, अतः उसमें 'अत्यधिक सतर्कता' अपेक्षित है।

(डॉ०) पारसनाथ तिवारी
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

परतों के आर-पार
अश्क का संस्मरण-ग्रंथ

प्रकाशक : नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद—१
मूल्य : ४·५०
पृष्ठ संख्या : १६६

रचनाकार की सर्जन-प्रक्रिया उसकी अपनी रचनाधर्मिता के संदर्भ में ही आँकी जाती है और उस स्थिति में जब रचनात्मक अनुभवों को एक विशेष स्तर पर स्थापित करने या दिशांतर देने का दावा रचनाकार की ओर से किया जाता है, तब रचनाधर्मिता का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। यह अलग बात है कि इन रेखाओं की खोज उसके वक्तव्यों से न कर रचनात्मक प्रक्रिया से गुज़र कर आनेवाले सारे अनुभवों के बीच से की जाय। भाषिक स्तर पर रचनाकार के अनुभवों की प्रामाणिकता की जाँच रचनाधर्मिता की खोज की शुरुआत है।

'परतों के आर-पार' श्री उपेन्द्रनाथ अश्क के विभिन्न संस्मरणों का संकलन है जिसे प्रकाशकीय (लेखक ही प्रकाशक भी है) वक्तव्य में अश्क के संस्मरण-लेखन की उपलब्धि की एक अगली कड़ी कहा गया है और यह भी कहा गया है कि अश्क ने हिन्दी में संस्मरण-लेखन को पुरानी प्रशंसामूलक श्रद्धाविगलित शैली की लिजलिजाहट से निकाल कर यथार्थ की ठोस धरती पर रखा है। लेकिन पूरी पुस्तक पढ़ जाने के बाद भी मुझे ऐसा कुछ नहीं लगा। अव्वल तो इन्हें संस्मरण कहने में भी मुझे हिचक है। प्रारंभ में श्री दूधनाथ सिंह ने संस्मरण-साहित्य का सामान्य परिचय देते हुए उस परिप्रेक्ष्य में अश्क के इन संस्मरणों (?) की सार्थकता सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है। यों दूधनाथ की भूमिका के बिना भी इन निबंधों को पढ़ा जा सकता था और तब शायद इनमें कुछ तत्व संस्मरण के भी खोजे जाते, लेकिन भूमिका, इस मूल्यांकन में औज़ार का काम देती है और यह भी साबित करती है कि अश्क एक विशेष वय या पीढ़ी के लोगों से किस क़दर आतंकित हैं बक़ौल श्री दूधनाथ सिंह

'रामचरितमानस' का तत्वदर्शन श्रीश कुमार का शोध-प्रबंध

प्रकाशक : लोक चेतना प्रकाशन, जबलपुर।
मूल्य : दस रुपये
पृष्ठ : १९२

गोस्वामी तुलसीदास की दार्शनिक विचारधारा पर लिखे गये ग्रंथों की परम्परा में एक ग्रंथ यह भी है, परन्तु इसमें केवल 'रामचरितमानस' के आधार पर ही तुलसीदास के दार्शनिक मतवाद का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। लगभग ६ पृष्ठों के 'प्राक्कथन', २७ पृष्ठों के 'विषय प्रवेश' और ९ पृष्ठों में प्रस्तुत 'नामानुक्रमणिका' के अतिरिक्त यह ग्रंथ ४ अध्यायों में विभक्त किया गया है। ये चार अध्याय क्रमशः ब्रह्म, माया, जीव तथा मोक्ष और मोक्षसाधन शीर्षकों के अंतर्गत हैं। लेखक की स्थापना है कि "मानस का दर्शन मूलतः अद्वैतपरक है...। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत की अपेक्षा उत्कृष्ट भूमिका है और अद्वैत पक्ष में व्यावहारिक स्तर पर विशिष्टाद्वैत मत का अंतर्भाव हो जाता है।...तुलसी तत्वतः अद्वैतवादी ही हैं। जहाँ उनके काव्य में परस्पर विरोधी सी दीख पड़ने वाली उक्तियाँ मिलें, उनमें इस प्रकार संवाद स्थापित किया जा सकता है कि विशिष्टाद्वैतपरक वचन तो व्यवहार-दशा के अनुरोध से हैं और अद्वैतपरक वचन तात्विक सिद्धान्त के उपन्यास की दृष्टि से।" (रामचरितमानस का तत्वदर्शन, पृष्ठ १९-२०)

लेखक की इस स्थापना से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

(१) मानस का दर्शन मूलतः अद्वैतपरक है। अद्वैत से यहाँ लेखक का तात्पर्य शांकराद्वैत से है।

(२) तुलसी तत्वतः अद्वैतवादी हैं, और

(३) मानस में विशिष्टाद्वैतपरक वचन भी मिलते हैं, परन्तु चूँकि अद्वैत के व्यावहारिक स्तर में विशिष्टाद्वैत का अन्तर्भाव हो जाता है इसलिए मानस में स्वतंत्ररूप से विशिष्टाद्वैत लक्षित नहीं किया जा सकता।

लेखक की स्थापना का कुल मिलाकर तात्पर्य यह है कि 'रामचरितमानस' में तुलसी का तात्विक दृष्टिकोण मूलतः और एकमात्रतः शांकराद्वैत है। अपनी इस मान्यता के आग्रह से विद्वान्-लेखक ने 'प्राक्कथन' में तुलसी के दार्शनिक मतवाद का विवेचन करने वाले कतिपय अन्य ग्रंथों को अपर्याप्त, विवरणात्मक अथवा त्रुटिपूर्ण ठहराया है। 'विषय-प्रवेश' में लेखक ने शंकर से पूर्व अद्वैत की स्थिति, शाँकराद्वैत और अद्वैत के प्रकाश में मानस के दार्शनिक पक्ष को संक्षेप में निरूपित करने का उपक्रम किया है। ग्रंथ के मुख्य विषय का विवेचन पृ० ३९ से प्रारम्भ होता है और पृ० १८० तक चलता है प्रथम अध्याय

जो विषय प्रवेश हो है। दूसरा अध्याय ब्रह्म विषयक है। लेखक ने अनेक देशी-विदेशी मान्य ग्रंथों और विद्वानों के मतों का साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए मानस-वर्णित राम और ब्रह्म की स्वरूप-लक्षण के आधार पर शांकराद्वैत के व्यावहारिक और पारमार्थिक स्तरगत ईश्वर और शुद्ध ब्रह्म से अभिन्नता निदर्शित करने की चेष्टा की है। तीसरे अध्याय में माया का विवेचन किया गया है। मानस में निरूपित माया के स्वरूप की अनेकधा निवृत्ति करते हुए शांकराद्वैतमत माया की सदसद्विलक्षणता, विवर्त्तवाद तथा माया की आवरण एवं विक्षेपण की शक्तियों के आधार पर दोनों में अभिन्नता स्थापित की गयी है और इस रूप में भी मानस में अद्वैत का प्रतिपादन सिद्ध किया गया है। चौथे अध्याय में जीव का विवेचन है। अद्वैत-प्रतिपादक अनेक ग्रंथों के आधार पर मानस वर्णित जीव की शांकराद्वैत-मत के जीव से अभिन्नता का निदर्शन करते हुए तदनुसार जीव और ब्रह्म का तात्विक अभेद सिद्ध किया गया है। इस संबंध में लेखक का निष्कर्ष है—"यहाँ यही निदर्शन इष्ट है कि जीव और ब्रह्म आपाततः भिन्न प्रतीयमान होने पर भी यथार्थतः एक हैं।" (रामचरितमानस का तत्वदर्शन, पृ० १४६)। पाँचवें और अंतिम अध्याय में मोक्ष और मोक्षसाधन का विवेचन किया गया है। इस अध्याय में मानसवर्णित मोक्ष के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के साधनों पर प्रकाश डालते हुए 'मानस' में निरूपित भक्ति का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। यहाँ लेखक ने शांकराद्वैत में मान्य मोक्ष और मोक्ष की प्राप्ति के साधन की, मानस-वर्णित मोक्ष और मोक्ष की प्राप्ति के साधन से संगति बैठाने का स्पष्ट प्रयास नहीं किया है। संभवतः इस विशिष्ट पक्ष में वह 'मानस' के दार्शनिक मतवाद को अद्वैतपरक प्रमाणित भी नहीं कर पाया है। इस प्रकार ग्रंथ के मूल विषय का विवेचन कुल १४१ पृष्ठों में किया गया है।

तुलसीदास की दार्शनिक चेतना को लेकर अनेक प्रामाणिक ग्रंथों की रचना हो चुकी है और इस पर अनेक ग्रंथ आज भी लिखे जा रहे हैं। बहुत से विद्वत्तापूर्ण स्फुट लेख भी इस विषय पर यत्र-तत्र लिखे जा चुके हैं। परन्तु तुलसी के दार्शनिक दृष्टिकोण विषयक किये गए समस्त विवेचन के आधार पर कोई भी अंतिम, सर्वसम्मति से मान्य, प्रामाणिक मत अद्यावधि प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। वस्तुतः तुलसीदास समन्वयवादी थे, उन्होंने संस्कृति के समस्त क्षेत्रों में समन्वय की पद्धति अपनाई है, अतः उनकी किसी भी रचना मे, विशेषकर 'मानस' में, किसी विशिष्ट दार्शनिक मत का प्रतिपादन लक्षित करना न केवल तुलसी की समन्वयवादी प्रकृति के विरुद्ध होगा, अपितु उसका वैज्ञानिक प्रतिपादन भी संभव न हो सकेगा। विवेच्य ग्रंथ में तुलसी को तत्त्वतः अद्वैतवादी और मानस के दर्शन को मूलतः अद्वैतपरक ठहराया गया है। यह मान्यता पूर्वग्रहरहित नहीं प्रतीत होती। निस्संदेह ही मानस की दार्शनिक उक्तियों से अधिकांशतः अद्वैतवाद की पुष्टि होती है, परन्तु समस्त स्थलों पर ऐसा प्रमाणित करना कठिन होगा। मानस की अनेक दार्शनिक उक्तियो से अद्वैतेतर दार्शनिक मतों की स्वतंत्ररूप में सिद्धि की जा सकती है। "अद्वैत, विशिष्टाद्वैत की अपेक्षा उत्कृष्ट भूमिका है"—यह मान्यता अद्वैतवादियों और लेखक की अपनी हो सकती है, विशिष्टाद्वैत के प्रमुख प्रतिपादक रामानुजाचार्य को ऐसा कदापि मान्य नहीं। तुलसीदास ने भी इस को कहीं भी स्वीकृति नहीं दी है अतः अद्वैत को विशिष्टाद्वैत

उत्कृष्ट भूमिका न कहकर पृथक और स्वतंत्र भूमिका मानकर चलना ही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। वैसे, कोई भूमिका उत्कृष्टतर होकर भी स्वतंत्र हो सकती है, परन्तु आगे लेखक का यह परिकथन भी है कि "अद्वैत पक्ष में व्यवहार के स्तर पर विशिष्टाद्वैत का अंतर्भाव हो जाता है" जिससे विशिष्टताद्वैत की स्वतंत्रता बाधित हो जाती है। लेखक का यह परिकथन स्वयं में भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि विशिष्टाद्वैत में जो तात्विक दृष्टि से सत्य है, वह शांकराद्वैत में केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य है, अर्थात् विशिष्टाद्वैत में जो नित्य सत्य है वह शांकराद्वैत में एक निश्चित अवधि तक ही सत्य है। विशिष्टाद्वैत में ईश्वर नित्य, चिदचिद् विशिष्ट है; कार्यत्व, कारण ब्रह्म का नित्य लक्षण है, शांकराद्वैत में कार्यत्व कारण ब्रह्म का आकस्मिक लक्षण है और तदनुसार व्यावहारिक स्तरीय ईश्वर की सत्ता एक निश्चित अवस्था तक ही रहती है। विशिष्टाद्वैत में जीव और जगत् का ईश्वर से अंश-अंशी सम्बन्ध है, शांकराद्वैत में व्यावहारिक स्तर पर ईश्वर सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण दोनों हैं। मृत्तिका, घट का उपादान कारण तो हो सकती है परन्तु घट से उसका अंश-अंशी सम्बन्ध नहीं हो सकता। विशिष्टाद्वैत में सृष्टि परिणामवाद के आधार पर व्याख्यायित की गयी है जबकि शांकराद्वैत में विवर्त्तवाद के आधार पर। विशिष्टाद्वैत में भक्ति परम साध्य है, शांकराद्वैत में वह केवल साधन है, और व्यावहारिक स्तर पर भी वह केवल साध्य ही है, परम साध्य नहीं। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत और शांकराद्वैत-व्यवहार अभिन्न है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः अद्वैत में विशिष्टाद्वैत का अंतर्भाव न मानकर अधिक से अधिक हम यह कह सकते है कि दोनों में एक निश्चित सीमा तक सादृश्य है।

अब रही तुलसी के दार्शनिक दृष्टिकोण की बात। तुलसीदास वस्तुतः भक्त-कवि थे और इनमें भी मूलतः भक्त। वे दार्शनिक नहीं थे, रामचरितमानस मूलतः भक्तिपरक ग्रंथ है, दार्शनिक ग्रंथ नहीं। तुलसी की भक्ति-भावना के अनुसंग से उसमें विद्वत्तापूर्ण दार्शनिक उक्तियाँ भी बिखरी मिल जाती हैं, यह अलग बात है। अतः भक्ति के प्रतिपादन के लिये उन्होंने 'मानस' में निस्संदेह ही विशिष्टाद्वैत का स्वतंत्र रूप से आश्रय लिया है। व्यावहारिक दृष्टि से शांकराद्वैत का भी भक्ति से कोई विरोध नहीं है, परन्तु समस्या यह है कि तुलसी के निकट भक्ति परम साध्य है, उन्हें और किसी वस्तु की विवक्षा नहीं है—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहौं निर्बान।
जनम-जनम रति राम पद यह बरदान न आन॥

इसके विपरीत, शांकराद्वैत में मायाशवलित ब्रह्म—ईश्वर—के "भजन-पूजन से चित्त की शुद्धि होती है और तभी साधक विशुद्ध ज्ञानमार्ग का अवलम्बन कर निर्गुण ब्रह्म को पा सकता है, अन्यथा नहीं।" इस प्रकार यहाँ निर्गुण ब्रह्म और ज्ञान साध्य हैं, भक्ति नहीं। इसीलिये तुलसी को विशिष्टाद्वैत का सहारा भी लेना पड़ा है। तुलसी में विशिष्टाद्वैत पाए जाने के अन्य कारण भी हैं:—

(१ तुलसीदास रामानंद के शिष्य थे जो विशिष्टाद्वैतवादी थे वे शङ्कर के शिष्य

(२) तुलसीदास ने 'मानस' में अनेक स्थलों पर अद्वैत के साध्य, ज्ञान की भर्त्सना भी की है, यथा—

(क) कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन विवेक ।

(ख) ग्यान पंथ कृपान कै धारा ।

(ग) ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका ।
साधन कठिन न मन कहूँ टेका ।।

इसलिये—

सेवक सेव्य-भाव बिनु भव न तरिय उरगारि ।
भजहु रामपद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि ।।

इसके अतिरिक्त, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, तुलसी भक्त होने के साथ ही साथ समन्वयवादी भी थे । किसी विशिष्ट दार्शनिक मत का प्रतिपादन करना न उन्हें कभी इष्ट हो सकता है और न उन्होंने ऐसा किया ही है । 'मानस' में उन्होंने अद्वैत और विशिष्टाद्वैत दोनों का आश्रय लेकर दोनों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की है । आलोच्य-ग्रंथ में इस दृष्टि से विवेचन करने का प्रयास लक्षित नहीं होता । इन दोनों के समन्वय में तुलसीदास कहाँ तक सफल हो सके हैं, प्रस्तुत ग्रंथ इस पर भी कोई प्रकाश नहीं डालता ।

इसके अतिरिक्त, मानस की 'व्यापक विश्वरूप भगवाना,' 'सीयराम मय सब जग जानी' जैसी उक्तियों और तुलसीदास के निर्गुण और सगुण से ऊपर उठकर नाम की प्रतिष्ठा करने आदि से सर्वेश्वरवाद की भी व्यंजना होती है । आलोच्य-ग्रंथ में इस दृष्टि से सर्वेश्वर-वाद का कोई उल्लेख तक नहीं हुआ है ।

आलोच्य-ग्रंथ में प्रमुखतः 'एक उदाहरण देखिये' शैली का आश्रय लिया गया है जिसके परिणामस्वरूप प्रतिपाद्य के ठोस विवेचन की संभावनाएँ बहुत कम रह गयी हैं । इसके अतिरिक्त, कुछ तो विषय की प्रकृति के आग्रह से और कुछ लेखक के भाषा और विषय पर अधिकार की अपेक्षाकृत न्यूनता के कारण ग्रंथ में पुनरुक्तियों का बाहुल्य है । प्रायः लेखक मूल विषय से भटक जाता है, विशेषकर अंतिम अध्याय में, जहाँ वह विषय को छोड़कर मानस-वर्णित भक्ति की जमकर व्याख्या करने लगता है ।

ग्रंथ की भाषा निस्संदेह ही क्लिष्ट और दुर्बोध है । जहाँ सरल, सुबोध और प्रचलित हिन्दी-संस्कृत शब्द आसानी से मिल सकते थे, वहाँ भी लेखक ने आचार्यत्व के लोभ में पड़कर अत्यन्त क्लिष्ट और अप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है । इसका परिणाम यह हुआ है कि ग्रंथ की प्रतिपादन-शैली बहुत अधिक शिथिल हो गयी है । वैसे, विषय के गांभीर्य और उसकी महत्ता की दृष्टि से ग्रंथ की उपयोगिता असंदिग्ध है ।

—प्रेमकान्त टण्डन,
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग,
प्रयाग , प्रयाग

संत सिंगा जी
रामनारायण उपाध्याय का आलोचना-ग्रन्थ

प्रकाशक : साहित्य कुटीर, खण्डवा
मूल्य : ३·००
पृष्ठ संख्या : १४४

श्री रामनारायण उपाध्याय लिखित 'सन्त सिंगा जी : एक अध्ययन' पुस्तक सन्त साहित्य के अध्ययन की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। सिंगा जी मध्यकाल के एक ऐसे अल्पज्ञात किन्तु महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय संत रहे हैं जिनकी लोकोपयोगी वाणी निमाड़ी जन-जीवन को प्रेरणा एवं शक्ति प्रदान करती रही है। सच बात तो यह है कि सिंगा जी के ही कारण निमाड़ी भाषा इतनी परिष्कृत है, निमाड़ की संस्कृति इतनी सहिष्णु है और निमाड़ के जन-जीवन में आध्यात्मिकता की ऐसी अमिट छाप है।

सिंगा जी के सम्बन्ध में अभी तक बहुत कम विवरण प्राप्त हो सका है। लगभग तीन दशाब्दियों पूर्व खण्डवा के 'सिंगा जी साहित्य शोध मण्डल' ने इस दिशा में अनुसंधान-कार्य प्रारम्भ किया था। तदनंतर सिंगा जी के पदों का एक संक्षिप्त संकलन भी प्रकाशित हुआ और उनसे संबंधित कुछ लेख भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे। किंतु सिंगा जी के जीवन और काव्य पर विस्तृत ढंग से विचार नहीं हुआ था। श्री उपाध्याय ने प्रस्तुत पुस्तक लिखकर संत सिंगा जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर व्यापक प्रकाश डाला है और संत-साहित्य के जिज्ञासुओं एवं शोधकर्त्ताओं के लिए उपयोगी कार्य किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ दस अध्यायों में वर्गीकृत है। निमाड़ी अंचल की संत-परम्परा के निरूपण में लेखक ने इस प्रदेश के अनेक अज्ञात एवं महत्वपूर्ण संत-कवियों के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय दिया है। तथ्यानुसंधान की दृष्टि से यह अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दूसरे अध्याय में निमाड़ी संतों की परम्परा में सिंगा जी का स्थान निर्धारित किया गया है। तीसरे अध्याय में सिंगा जी के व्यक्तित्व और जीवन-चरित की एक व्यवस्थित रूपरेखा दी गई है। इसके उपरांत क्रमशः सिंगा जी की वाणावली, सिंगा जी की परचरी, सिंगा जी की बाणावले और उनके भजन एवं ब्रह्मगीर और दलुदास के भजन संकलित हैं। संकलन खण्ड महत्वपूर्ण तो है ही, लेकिन इस दृष्टि से उसका महत्व और बढ़ जाता है कि संकलनकर्ता ने मूल निमाड़ी रचनाओं के हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किये हैं। सिंगा जी की वाणी का प्रस्तुत संकलन उनकी विचारधारा और जीवन-दृष्टि के अध्ययन में पर्याप्त सहायक हो सकता है।

—(डॉ०) ओमप्रकाश सक्सेना
१६१ अतरसुइया, प्रयाग